प्रयोजन

आर्हत आगमोंमें श्रीसूत्रकृताङ्गसूत्रका बहुत ही उच्च स्थान है। यह आगम पदार्थोंका वर्णन बड़ी उत्तमताके साथ करता है। एक मात्र इस आगमको मनन करके भी मनुष्य अपने जीवनको सफल बना सकता है। मुमुक्षु पुरुषोंके लिये यह आगम अत्यन्त उपयोगी है परन्तु इसके गम्भीर भावोंको समझना सरल नहीं है। इसके गम्भीर भावोंको व्यक्त करनेके लिये श्रीमच्छीलाङ्काचार्य्यने इस पर सुविस्तृत और सरल संस्कृत टीका लिखी है। श्रीमच्छीलाङ्काचार्य्यने जिस विद्वत्ताके साथ इसके गम्भीर भावोंको व्यक्त किया है उसका महत्त्व संस्कृतज्ञ विद्वान् ही जान सकते हैं परन्तु जो संस्कृत नहीं जानते हैं उन लोगोंके लाभार्थ यदि शीलाङ्काचार्य्यकी टीका हिन्दीमें अनुवाद होकर प्रकाशित हो तो बहुत ही उत्तम हो। यद्यपि टीकाका अक्षरशः अनुवाद होनेसे भाषाकी सुन्दरता पूरी नहीं रह सकती है और पाठकोंके लिये कुछ कठिनाई भी हो सकती है तथापि संस्कृत नहीं जाननेवाले लोग टीकाके लाभसे सर्वथा वञ्चित नहीं रह सकते हैं और साधारण संस्कृत जानने वाले इससे पूरा लाभ उठा सकते हैं। इस भावसे प्रेरित होकर श्री० श्वे० स्था० जैन सम्प्रदायके पूज्य आचार्य १००८ श्री जवाहिरलालजी महाराजके तत्त्वावधानमें श्रीमच्छीलाङ्काचार्य्यकी टीकाका हिन्दीमें अनुवाद पण्डित अम्बिकादत्तजी ओझा व्याकरणाचार्य्य द्वारा कराना प्रारम्भ हुआ और पाठकोंकी सुगमताके लिये मूलसूत्रकी संस्कृतच्छाया, व्याकरण, अन्वयार्थ और भावार्थ भी लिखे गये। यद्यपि इन विषयोंके बढ़ जानेसे ग्रन्थका कलेवर अवश्य बढ़ जाता है तथापि साधारण बुद्धिवाले पुरुष इससे बहुत लाभ उठा सकते हैं—यह जानकर कलेवरवृद्धिकी उपेक्षा करके यह कार्य्य उचित प्रतीत हुआ है।

पण्डित अम्बिकादत्तजी ओझा व्याकरणाचार्य १० वर्षोंसे पूज्य श्रीजवाहिरलालजी महाराजके संतोको व्याकरण-साहित्य-न्याय-धर्मशास्त्र-आगम आदिका अध्ययन कराते हैं। साथ ही थली प्रदेशमें जब पूज्यश्री थे तब सद्धर्ममंडन ग्रन्थको पूज्यश्रीने रचा था, उस ग्रन्थका संपादनकार्य भी पण्डितजीने किया है। अतः पण्डितजीको आगमोंका ज्ञान भी बहुत अच्छा हो गया है। इसके पहिले भी पण्डितजीने जैनन्यायका अभ्यास किया था अतः जैनन्याय तथा आगमोंका अभ्यास पण्डितजीका कितना है यह पाठक इस अनुवादके द्वारा सहज ही जान सकते हैं।

यद्यपि यह कार्य्य रतलामके चातुर्मास्यसे ही आरम्भ हुआ था तथापि सुविस्तृत ग्रन्थ होनेके कारण दो अध्यायोंका अनुवाद पूज्यश्रीके संवत् १९९२ के साल राजकोट चातुर्मास्यके समय समाप्त हुआ। पश्चात् राजकोट श्रीसंघके सामने यह अनुवाद रखा गया और श्रीसंघको यह उपकारक प्रतीत हुआ। फलतः श्रीसंघने अपनी उदारताका परिचय देते हुए वल्लूंदानिवासी सेठ श्रीछगनलालजी साहिब मूँथाके प्रशंसनीय सहकारसे इसे मुद्रित कराकर जनताके करकमलोंमें अर्पण करनेका निश्चय किया। उपर्युक्त रीतिके अनुसार दो अध्ययनका सम्पादन हुआ है जो इस खण्डमें छपा कर प्रसिद्ध किया है।

यद्यपि इस सूत्र-प्रकाशनके लिये करीवन् ६०००) रु० की आर्थिक सहायता प्राप्त होनेसे पुस्तक विना कीमत वाँट सकते थे किन्तु बिना कीमत, पुस्तक वितरण करनेसे पुस्तककी कदर कम होती है और ग्रन्थगौरव घट जाता है। इसलिए लागत दामसे कम कीमत रखकर प्रचार करनेका निश्चय किया है। इससे जो आमदनी होगी उसका उपयोग सूत्र-प्रकाशनमें ही किया जायगा।

काशीमें रहकर सूत्रके प्रकाशनकी व्यवस्था की गई थी। काशीमें प्लेग और बीमारीकी वजहसे प्रूफ संशोधनादि कार्य्यमें अनिवार्य त्रुटि रह गई है। अतः शुद्धिपत्र शोभनीय न होते हुए भी हमको उसे देना पड़ा है। भविष्यमें पूरी सावधानी रखकर प्रूफ आदिका निरीक्षणादि कार्य किया जायगा।

पाठकोंसे सविनय निवेदन है कि इस कार्यमें जो त्रुटि हुई हो उसे क्षमा करके इस ग्रन्थके गुणको ग्रहण करें और उत्साहको वढ़ावें।

राजकोट
कार्तिक शुक्ला चतुर्थी
संवत् १९९३

श्रीसंघसेवक
जौहरी दुर्लभ
व्यवस्थापक

आवश्यक सूचना

श्रीमान् सेठश्री छगनलालजी मूथा बलून्दावाले पूज्यश्रीके दर्शनार्थ राजकोट पधारे थे। उस समय दर्शन-लाभके स्मरणार्थ सूत्र प्रकाशनके कार्यमें रु० ३०००) तीन हजारकी आर्थिक सहायता देनेके भाव प्रकट किये थे। किन्तु सूत्रमें आवश्यक और उपयोगी बातें बढ़ जानेके कारण सूत्रका कलेवर भी बढ़ गया और खर्च भी अन्दाज़से दोगुना होनेकी सम्भावना होनेसे आर्थिक प्रबन्ध करनेका प्रयत्न किया गया जिसके फलस्वरूप पूज्यश्रीके जन्मदिनके शुभ प्रसङ्गपर श्रीमान् सेठ लखमीदास पीताम्बरदास पोरबन्दरवालेने रु० १००१), सेठ चुन्नीलाल नागजी वोरा राजकोटवालेने रु० ५०१) और राजकोट श्रीसङ्घके भाई-बहिनोंकी तरफसे लगभग रु० १०००) की आर्थिक सहायता प्राप्त हुई।

आर्थिक सहायकोंके आभार-प्रदर्शनके लिए सूत्रकी ५०० प्रतियों पर सेठ श्री छगनलालजी मूथाका और शेष ५०० प्रतियों पर राजकोट श्रीसङ्घका नामनिर्देश करनेका जो निश्चय हुआ उस निश्चयानुसार सूत्रका प्रथम भाग प्रकाशित कराकर समाजकी सेवामें रखा जाता है।

श्रीसूत्रकृताङ्ग सूत्रके प्रकाशनार्थ आर्थिक सहायकोंकी

शुभ नामावली

रु० १००१) श्रीमान् सेठ लक्ष्मीदास पीताम्बर, पोरबन्दरवाले

,, ५०१) ,, ,, चुन्नीलाल नागजी वोरा, राजकोट

,, १२५) ,, ,, दुर्लभजी त्रिभुवन झवेरी, मोरवी

,, १०१) ,, रावसाहेब ठाकरशी मकनजी घीया, राजकोट

,, १०१) ,, सेठ कानजी पानाचन्द भीमाणी ,,

,, १०१) ,, ,, शामजी वेलजी वीराणी ,,

,, ५१) ,, रावसाहेब डा० लल्लूभाई छगनलाल शाह ,,

,, ५१) ,, सेठ जेचन्द अजरामर कोठारी ,,

,, ५१) श्रीमती वहिन जयाकुँवर व्रजलाल मोदी ,,

,, ५१) ,, ,, छबलबेन वनेचन्द देसाई ,,

,, ५१) ,, ,, ताराबेन देवकरण मेंगणीवाले

,, २५) श्रीमान् सेठ गोपालजी भीमजी पारेख, राजकोट

,, २५) ,, ,, कपुरचन्द रणछोड़ मेहता, ,,

,, २५) ,, ,, ताराचन्द बेचरदास कामदार, ,,

,, २५) ,, ,, नारायणदास पीताम्बर कन्दोई ,,

,, २५) ,, ,, संघवी ब्रधर्स ह. वनेचन्दभाई, ,,

,, २५) ,, ,, प्राणजीवन नारणजी महेता, ,,

,, २५) श्रीमती वहिन व्रजकुँवर हीरजीभाई पोरबन्दरवाले—इत्यादि

जैनाचार्य्य पूज्यश्री **जवाहिरलालजी** महाराज साहेबकी जन्मतिथि

वर्ष ६२ वाँ संवत् १९९२ की कार्तिक शुक्ला चतुर्थी

राजकोट

विषयानुक्रमणिका

द्वितीयाध्ययन

ओम् अर्हम्

टीका और भाषानुवादसहित

श्रीसूत्रकृताङ्गसूत्रके प्रथम अध्ययनकी प्रस्तावना

स्वपरसमयार्थसूचकमनन्तगमपर्य्ययार्थगुणकलितम् ।
सूत्रकृतमङ्गमतुलं विवृणोमि जिनान्नमस्कृत्य ॥ १ ॥

व्याख्यातमङ्गमिह यद्यपि सूरिमुख्यै र्भक्त्या तथापि विवरीतुमहं यतिष्ये ।
किं पक्षिराजगतमित्यवगम्य सम्यक् तेनैव वाञ्च्छति पथा शलभो न गंतुम्? ॥२॥

ये मय्यवज्ञां व्यधुरिद्धबोधाः जानंति ते किंचन तानपास्य ।
मत्तोऽपि यो मन्दमतिस्तथार्थी, तस्योपकाराय ममैष यत्नः ॥३॥

इहापसदसंसारान्तर्गतेनासुमताऽवाप्यातिदुर्लभं मनुजत्वं, सुकुलोत्पत्ति समग्रेन्द्रियसामग्र्याद्युपेतेनार्हद्दर्शनेऽशेषकर्मोच्छित्तये यतितव्यम् । कर्मो-

---

मैं जिनवरोंको नमस्कार करके स्वसिद्धान्त तथा परसिद्धान्तको बतानेवाले, अनन्त भङ्ग अनन्त पर्य्याय तथा अर्थगुणोंसे सुशोभित अनुपम इस सूत्रकृताङ्गसूत्रकी व्याख्या करता हूँ ।

यद्यपि उत्तम विद्वानोंने इस सूत्रकृतांगसूत्रकी व्याख्या की है तथापि भक्तिके कारण मैं भी इसकी व्याख्या करनेका प्रयत्न करूँगा । इस मार्गसे गरुड़ गए हैं यह जानकर क्या पतंग उससे जाना नहीं चाहता है ?

उत्तम बोधवाले जो पुरुष मेरा तिरस्कार करते हैं वे, विलक्षण अर्थ जानते हैं अतः उन्हें छोड़कर जो मेरे से भी मंदमति तथा अर्थको जानना चाहते हैं उनका उपकार करनेके लिए यह मेरा प्रयत्न है ।

इस दुःखमय संसारमें निवास करनेवाले, उत्तम कुलमें उत्पत्ति तथा सब इन्द्रियोंसे पूर्णता आदि सामग्री से युक्त पुरुषको, अति दुर्लभ मनुष्य-जन्म पाकर समस्त कर्मोंका विनाश करनेके लिए आर्हत दर्शनमें अवश्य प्रयत्न करना चाहिये ।

च्छेदश्च सम्यग्विवेकसव्यपेक्षः। असावप्याप्तोपदेशमन्तरेण न भवति। आप्तश्चात्यन्तिकाद्दोषक्षयात्। सचार्हन्नेव, अतस्तत्प्रणीतागमपरिज्ञाने यत्नो विधेयः। आगमश्च द्वादशाङ्गादिरूपः। सोऽप्यार्य्यरक्षितमिश्रैरैदंयुगीनपुरुषानुग्रहबुद्ध्या चरणकरणद्रव्यधर्मकथागणितानुयोगभेदाच्चतुर्धा व्यवस्थापितः। तत्रचाचाराङ्गं चरणकरणप्राधान्येन व्याख्यातम् अधुनाऽवसरायातं द्रव्यप्राधान्येन सूत्रकृताख्यं द्वितीयमङ्गं व्याख्यातुमारभ्यत इति।

ननुचार्थस्य शासनाच्छास्त्रमिदम्। शास्त्रस्यचाशेषप्रत्यूहोपशान्त्यर्थं

कर्मका विनाश, सम्यग्विवेक से होता है परन्तु वह सम्यग्विवेक आप्त पुरुषका उपदेशके बिना नहीं होता है। आप्त पुरुष वही है जिसके दोष अत्यन्त नष्ट हो गए हैं। आप्त पुरुष अरिहंत देव ही हैं अतः उनके कहे हुए आगमको जाननेका प्रयत्न करना चाहिये। आगम, द्वादश अङ्गस्वरूप है। परंतु आर्य्यरक्षित आचार्य्यने आज कलके पुरुषोंके उपकारके लिए उसे चरणकरणानुयोग[1], द्रव्यानुयोग[2], धर्मकथानुयोग[3] और गणितानुयोग[4]रूप चार भेदोंमें विभक्त कर दिया है। इनमें आचाराङ्ग सूत्र चरणकरणप्रधान है उसकी व्याख्या की जा चुकी है। अब द्रव्यप्रधान इस द्वितीय अङ्ग सूत्रकृताङ्गकी व्याख्याका अवसर है इसलिए इसकी व्याख्या आरंभ की जाती है।

(शङ्का) पदार्थकी शिक्षा देनेके कारण यह सूत्रकृताङ्ग, शास्त्र कहलाता है।

टिप्पणी (१) सूत्रको पढ़कर उसका अर्थ बताना अथवा संक्षिप्त सूत्रका विस्तृत अर्थके साथ संबंध करना 'अनुयोग' कहलाता है। प्राणी, जिसके आचरणसे संसार सागरको पार करता है उसे 'चरण' कहते हैं, वे अहिंसा आदि पांच महाव्रत हैं। तथा जिसके आचरणसे अहिंसा आदि पांच महाव्रतोंकी पुष्टि होती है उसे 'करण' कहते हैं। वे उत्तर गुण हैं। उक्त अहिंसा आदि मूलगुण तथा उत्तरगुणोंको बताना चरणकरणानुयोग कहलाता है। जैसे आचाराङ्ग आदि सूत्र हैं।

(२) (द्रव्यानुयोग) जिसमें जीव और अजीव आदि द्रव्योंकी व्याख्या की गई है उसे द्रव्यानुयोग कहते हैं जैसे सूत्रकृताङ्ग आदि।

(३) प्राणीको दुर्गतिमें गिरनेसे जो बँचता है उसे धर्म कहते हैं उस धर्मकी जिसमें व्याख्या की गई है उसे धर्मकथानुयोग कहते हैं। जैसे ज्ञाता धर्मकथा आदि।

(४) जिसमें गणित यानी संख्याका वर्णन है उसे 'गणितानुयोग' कहते हैं। जैसे जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति आदि।

मादिमङ्गलं तथा स्थिरपरिचयार्थं मध्यमङ्गलं, शिष्यप्रशिष्याविच्छेदार्थञ्चान्त्य मङ्गलमुपादेयं तच्चेह नोपलभ्यते ? सत्यमेतत्, मङ्गलंहीष्टदेवतानमस्कारादि रूपम्, अस्यच प्रणेता सर्वज्ञस्तस्यचापरनमस्कार्य्याभावान्मङ्गलकरणे प्रयोजनाभावाच्च न मङ्गलाभिधानम्। गणधराणामपि तीर्थकृदुक्तानुवादित्वान्मङ्गलाकरणम्। अस्मदाद्यपेक्षया तु सर्वमेव शास्त्रं मङ्गलम्।

अथवा निर्युक्तिकारएवात्र भावमङ्गलमभिधातुकाम आह—

तित्थयरे य जिणवरे सुत्तकरे गणहरे य णमिऊणं।
सूयगडस्स भगवओ णिज्जुत्तिं कित्तइस्सामि॥ १॥

गाथापूर्वार्धेनेह भावमंगलमभिहितं पश्चार्धेनतु प्रेक्षापूर्वकारिप्रवृत्त्यर्थं प्रयोजनादित्रयमिति। तदुक्तम् "उक्तार्थं" ज्ञातसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते। शास्त्रादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः॥ १॥ तत्र सूत्रकृतस्येत्यभिधेयपदं "निर्युक्तिं कीर्तयिष्य" इति प्रयोजनपदम्। प्रयोजनप्रयोजनं तु

शास्त्रके समस्त विघ्नोंकी शांतिके लिए आदिमङ्गल, तथा स्थिर परिचयके लिए मध्यमङ्गल और शिष्य प्रशिष्यकी परंपराका अविच्छेदके लिए अन्त्य मङ्गल करना चाहिये। परंतु वह यहाँ नहीं पाया जाता है।

(समाधान) यह सत्य है। इष्ट देवताको नमस्कार आदि करना मङ्गल है परंतु इस शास्त्रके रचयिता सर्वज्ञ पुरुष हैं। उस सर्वज्ञ पुरुषका नमस्कार करने योग्य कोई दूसरा पुरुष नहीं है और उनको मङ्गल करनेका कोई प्रयोजन भी नहीं है इसलिए इस शास्त्रमें मङ्गलका कथन नहीं है। गणधरोंने भी तीर्थंकरके कथनका अनुवादमात्र किया है इसलिए उन्होंने भी मङ्गल नहीं किए। हम लोगोंके लिए तो यह सम्पूर्ण शास्त्र ही मङ्गल है। (अतः यहाँ मङ्गलकी पृथक् आवश्यकता नहीं है)

अथवा निर्युक्तिकार ही यहाँ भाव मङ्गल वतानेके लिए कहते हैं। इस गाथाके पूर्वार्ध द्वारा भावमङ्गल कहा गया है और उत्तरार्ध द्वारा, विचार पूर्वक कार्य्य करनेवाले पुरुषोंकी प्रवृत्तिके लिए प्रयोजन आदि तीन पदार्थ कहे गए हैं। कहा है कि—'उक्तार्थम्' अर्थात् जिसका प्रयोजन कहा हुआ और सम्बन्ध जाना हुआ होता है उस शास्त्रको सुननेके लिए श्रोताकी प्रवृत्ति होती है अतः शास्त्रके आदिमें प्रयोजनके सहित सम्बन्ध वताना चाहिए। यहाँ "सूत्रकृतस्य" यह पद इस शास्त्रके विपयको वताता है और "निर्युक्तिं कीर्तयिष्ये" यह प्रयोजनका वोधक वाक्य है।

मोक्षावाप्तिः। सम्बन्धस्तु प्रयोजनपदानुमेय इति पृथङ्नोक्तः। तदुक्तं- "शास्त्रं प्रयोजनश्चेति, सम्बन्धस्याश्रयावुभौ तदुक्त्यन्तर्गतस्तस्माद्भिन्नो नोक्तः प्रयोजनात्"॥१ इति समुदायार्थः अधुनाऽवयवार्थः कथ्यते। तत्र तीर्थं द्रव्यभावभेदाद्द्विधा। तत्राऽपि द्रव्यतीर्थं नद्यादेःसमुत्तरणमार्गः, भावतीर्थंतु सम्यग्दर्शनचारित्राणि, संसारार्णवादुत्तारकत्वात्। तदाधारो वा संघः प्रथमगणधरो वा तत्करणशीला स्तीर्थंकरास्तान्नत्वेति क्रिया। तत्राऽन्येषामपि तीर्थंकरत्वसंभवे तद्व्यवच्छेदार्थमाह 'जिनवरान्' इति। रागद्वेषमोहजितो जिना, एवंभूताश्च सामान्यकेवलिनोऽपि भवंति तद् व्यवच्छेदार्थमाह वराः प्रधानाश्चतुस्त्रिंशदतिशयसमन्वितत्वेन तान्नत्वेति। एतेषाञ्च नमस्कारकरणमागमार्थोपदेष्टृत्वेनोपकारित्वात्। विशिष्टविशेषणोपादानञ्च शास्त्रस्य गौरवाधानार्थम्। शास्तुः प्राधान्येनहि शास्त्रस्याऽपि प्राधान्यं

प्रयोजनका प्रयोजन तो मोक्षकी प्राप्ति है। सम्बन्ध तो प्रयोजन द्वारा जाना जाता है इसलिए उसे अलग नहीं कहा है। कहा है कि "शास्त्रं प्रयोजनम्" इत्यादि। अर्थात् शास्त्र और प्रयोजन ये दोनों ही सम्बन्ध के आधीन होते हैं अतः प्रयोजन कथनके अंतर्गत होनेसे सम्बन्ध पृथक् नहीं कहा गया।

यह समुदायका अर्थ हुआ अब गाथाका अवयवार्थ कहा जाता है। द्रव्य और भाव भेदसे तीर्थ दो प्रकारका होता है। नदी आदिसे पार करनेका जो मार्ग है उसे द्रव्यतीर्थ कहते हैं। परन्तु सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र, भावतीर्थ हैं क्योंकि संसार सागरसे ये ही पार करते हैं। अथवा सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्रके आधारभूत संघको अथवा प्रथम गणधरको भावतीर्थ कहते हैं। उस भावतीर्थको जन्म देनेवाले तीर्थंकरको मैं नमस्कार करता हूँ। यहाँ 'नत्वा' यह क्रिया है। तीर्थंकर, दूसरे भी हो सकते हैं अतः उनकी निवृत्तिके लिए कहते हैं कि 'जिनवरानिति'। राग द्वेष और मोहको विजय करनेवाले पुरुष 'जिन' कहलाते हैं (उन्हें नमस्कार करना अभीष्ट है) सामान्य केवली भी राग द्वेष और मोह पर विजय किये हुए होते हैं अतः उनकी निवृत्तिके लिए 'वरान्' यह विशेषण दिया है। जो चौंतीस अतिशयोंको धारण करनेवाले, सबसे प्रधान हैं उनको नमस्कार करना यहाँ अभीष्ट है। शास्त्रके अर्थका उपदेशक होनेके कारण ये उपकारी हैं इसलिए इनको नमस्कार किया गया है।

यहाँ 'वर' यह विशिष्ट विशेषणका ग्रहण, शास्त्रका गौरव बढ़ानेके लिए है क्योंकि शास्त्र बनानेवालेकी प्रधानतासे शास्त्रकी भी प्रधानता होती है। अर्थको

भवतीति भावः। अर्थस्य सूचनात्सूत्रं तत्करणशीलाः सूत्रकराः तेच स्वयंबुद्धादयोऽपि भवन्तीत्यत आह-गणधरास्तांश्च नत्वेति। सामान्याचार्य्याणां गणधरत्वेऽपि तीर्थकरनमस्कारानंतरोपादानाद्गौतमादय एवेह विवक्षिताः। प्रथमश्चकारः सिद्धाद्युपलक्षणार्थो द्वितीयः समुच्चितौ क्त्वाप्रत्ययस्य क्रियांतरसव्यपेक्षत्वात्तामाह स्वपरसमयसूचनंकृतमनेनेति सूत्रकृतस्तस्य, महार्थवत्त्वाद्भगवाँस्तस्य। अनेन च सर्वज्ञप्रणीतत्वमावेदितं भवति "निर्युक्तिं कीर्तयिष्य" इति योजनं युक्तिः रर्थघटना निश्चयेनाधिक्येन वा युक्ति निर्युक्तिः सम्यगर्थप्रकटनमिति यावत्। निर्युक्तानां वा सूत्रेष्वेव परस्परसंवद्धानामर्थानामाविर्भावनं युक्तशब्दलोपान् निर्युक्तिरिति, तां कीर्तयिष्याम्यभिधास्य इति।

इह सूत्रकृतस्य निर्युक्तिं कीर्तयिष्य इत्यनेनोपक्रमद्वारमुपक्षिप्तं तच्च 'इहापसदे' त्यादिनेपदभिहितमिति। तदनंतरं निक्षेपः सच त्रिविधः तद्यथा,

---

सूचित करनेके कारण 'सूत्र' कहा जाता है उसे जो करता है उसे 'सूत्रकर' कहते हैं। सूत्रकर, स्वयंबुद्ध आदि भी हो सकते हैं अतः उनकी निवृत्तिके लिए कहते हैं कि "गणधरास्तान्नत्वेति" अर्थात् सूत्र बनानेवाले गणधरोंको मैं नमस्कार करता हूँ। यद्यपि सामान्य आचार्य्य भी गणधर कहलाते हैं तथापि तीर्थकरके नमस्कारके पश्चात् गणधरके ग्रहणसे यहाँ गौतम आदि गणधर ही विवक्षित हैं दूसरे नहीं। पहिला चकार सिद्ध आदिका उपलक्षण है और दूसरा समुच्चयार्थक है। क्त्वा प्रत्यय दूसरी क्रियाकी अपेक्षा रखता है इसलिए दूसरी क्रिया बताते हैं—जो अपने तथा दूसरोंके सिद्धान्तोंकी सूचना करता है उसे 'सूत्रकृत' कहते हैं। वह सूत्रकृत, महान् अर्थका बोधक होनेके कारण भगवान् है उसकी (निर्युक्ति मैं करता हूँ।) यहाँ सूत्रकृतको भगवान् कहनेसे सर्वज्ञ द्वारा उसका कथन होना बताया जाता है। (निर्युक्तिं कीर्तयिष्य इति) योजन करना युक्ति कहलाता है। अर्थकी घटना यानी योजनाको युक्ति कहते हैं। निश्चय पूर्वक अथवा आधिक्यसे अर्थकी योजना अर्थात् सम्यक् प्रकारसे अर्थको प्रकट करना 'निर्युक्ति' कहलाता है। अथवा सूत्रोंमें ही परस्पर संबंध रखनेवाले अर्थोंको प्रकट करना निर्युक्ति है। "निर्युक्तानां युक्तिः" यह विग्रह करके युक्त शब्दके लोप होनेसे 'निर्युक्ति' पदकी सिद्धि समझनी चाहिए। उस निर्युक्तिको मैं कहूँगा (यह प्रतिज्ञा है) यहाँ निर्युक्तिकारने "निर्युक्तिं कीर्तयिष्ये" मैं निर्युक्तिको कहूँगा इस प्रतिज्ञाके द्वारा उपक्रम (उत्थानिका) की सूचना दी है। वह उपक्रम "इहापसद" इत्यादि प्रथम वाक्यके द्वारा कुछ बता दिया गया

ओघनिष्पन्नो नामनिष्पन्नः सूत्रालापकनिष्पन्नश्चेति । तत्रौघनिष्पन्ने निक्षेपेऽङ्गं नामनिष्पन्ने तु निक्षेपे सूत्रकृत मिति ॥ १ ॥

तत्र तत्त्वभेदपर्य्यायैर्व्याख्येत्यतः पर्य्यायप्रदर्शनार्थं निर्युक्तिकृदाह—

सूयगडं अंगाणं बितियं तस्सय इमाणि नामाणि ।
सूतगडं सुत्तकडं सुयगडं चेव गोण्णाइं ॥ २ ॥

सूत्रकृतमित्येतदङ्गानां द्वितीयं तस्यचामून्येकार्थिकानि–तद्यथा–सूतम् उत्पन्नमर्थरूपतया तीर्थकृद्भ्य स्ततः कृतं ग्रन्थरचनया गणधरैरिति । तथा सूत्रकृतमिति सूत्रानुसारेण तत्त्वावबोधः क्रियतेऽस्मिन्निति । तथा सूचाकृतमिति, स्वपरसमयार्थसूचनं सूचा साऽस्मिन् कृतेति । एतानि चास्य गुणनिष्पन्नानि नामानीति ॥ २ ॥

है । इसके पश्चात् निक्षेप बताया जाता है । निक्षेप[1] तीन प्रकारका है । जैसे कि— ओघनिष्पन्न[2], नामनिष्पन्न[3], सूत्रालापकनिष्पन्न[4] । ओघनिष्पन्ननिक्षेपमें यह समस्त अंग है । नामनिष्पन्न निक्षेपमें इस शास्त्रका सूत्रकृत यह नाम है ।

स्वरूप, भेद और पर्य्यायके द्वारा वस्तुकी व्याख्या की जाती है । अतः निर्युक्तिकार सूत्रकृतके पर्य्यायोंको बतानेके लिये कहते हैं कि "सूयगडं" इत्यादि ।

'सूत्रकृताङ्ग' सूत्र अङ्गोंमें दूसरा है । इसके एकार्थक नाम ये हैं । जैसे कि— जो, तीर्थकरोंके द्वारा अर्थ रूपमें उत्पन्न होकर गणधरोंके द्वारा ग्रन्थ रूपमें रचा गया है उसे 'सूतकृत' कहते हैं । (यह इसका पहला नाम है) । सूत्रके अनुसार जिसमें तत्त्व अर्थका बोध किया जाता है । उसे 'सूत्रकृत' कहते हैं । (यह इसका दूसरा नाम है ।) अपने तथा दूसरोंके सिद्धन्तोंको सूचित करना 'सूचा' कहलाता है । वह इस शास्त्रमें किया गया है इसलिए इसका नाम 'सूचाकृत' है । ये तीन इसके गुणनिष्पन्न नाम हैं ॥ २ ॥

टिप्पणी—(१) नाम आदिके द्वारा शास्त्रकी व्याख्या करना 'निक्षेप' कहलाता है ।

(२) सामान्यको 'ओघ' कहते हैं । वह अध्ययन आदि है । उस अध्ययन आदिसे जो निष्पन्न है उसे ओघनिष्पन्न कहते हैं । यह समस्त अंग, ओघनिष्पन्न है क्योंकि अनेक अध्ययनोंके द्वारा इसकी उत्पत्ति हुई है ।

(३) गुणानुसारी नामके द्वारा जिसकी उत्पत्ति हुई है उसे नामनिष्पन्न कहते हैं । जैसे इस शास्त्रका गुणानुसारी नाम 'सूत्रकृत' है ।

(४) सूत्रोंके उच्चारणविधिको सूत्रालापक कहते हैं उससे जो निष्पन्न है उसे सूत्रालापकनिष्पन्न कहते हैं ।

साम्प्रतं सूत्रकृतपदयोर्निक्षेपार्थमाह—

दव्वंतु पोण्डयादीभावेसूत्तमिह सूयगं नाणं।
सण्णा संग्गहवित्ते जातिणिवद्धेय कत्थादी ॥ २ ॥

नामस्थापनेऽनादृत्य द्रव्यसूत्रं दर्शयति 'पोण्डया इ'त्ति। पोण्डगं च वनीफलादुत्पन्नं कार्पासिकम्। आदि ग्रहणादण्डजवालजादेर्ग्रहणम्। भाव सूत्रं तु, इह' अस्मिन्नधिकारे सूचकं ज्ञानं श्रुतज्ञानमित्यर्थः। तस्यैव स्वपरार्थसूचकत्वादिति। तच्च श्रुतज्ञानसूत्रं चतुर्धाभवति, तद्यथा संज्ञासूत्रं, संग्रहसूत्रं वृत्तनिवद्धं जातिवद्धं च। तत्र संज्ञासूत्रं यत् स्वसंकेतपूर्वकंनिवद्धं, तद्यथा "जेछेए सागारियं न सेवे, सव्वामगंधं परिण्णाय णिरामगंधो परिव्वए" इत्यादि। तथा लोकेऽपि पुद्गलाः संस्कारः क्षेत्रज्ञा इत्यादि। संग्रहसूत्रंतु यत्प्रभूतार्थसंग्राहकं, तद्यथा द्रव्यमित्याकारिते समस्तधर्माधर्मादिद्रव्यसंग्रह इति। यदिवा उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सदिति। वृत्तनिवद्धसूत्रं पुनर्यदनेकप्रकारया वृत्तजात्या निवद्धं। तद्यथा "वुज्झिज्जत्ति-

---

अव निर्युक्तिकार सूत्र और कृतपदका निक्षेप वतानेके लिए कहते हैं। निर्युक्तिकार नाम और स्थापनाको छोड़कर "पोण्डयाइ" इत्यादि गाथाके द्वारा द्रव्य सूत्र वतलाते हैं। कपास तथा आदि शब्दसे अंडा और वालसे उत्पन्न सूतेको 'द्रव्यसूत्र' कहते हैं। भाव सूत तो इस अधिकारमें सूचना करनेवाला ज्ञान अर्थात् श्रुतज्ञा० है क्योंकि वही स्वसिद्धान्त तथा परसिद्धान्त रूप अर्थको सूचित करता है। वह श्रुतज्ञान सूत्र चार प्रकार का है। जैसे कि—(१) संज्ञासूत्र, (२) संग्रहसूत्र, (३) वृत्तनिवद्धसूत्र और (४) जातिनिवद्धसूत्र। जो सूत्र अपने किए संकेतके अनुसार रचा गया है वह 'संज्ञासूत्र' है। जैसे—"जे छेए" इत्यादि सूत्र संज्ञा सूत्र है। (इसका अर्थ यह है कि चतुर पुरुप मैथुन सेवन न करे तथा सव दोपोंको जानकर और उन्हें छोड़कर विचरे। यहाँ 'सागारिक' तथा 'आमगंध' शब्द स्वशास्त्रसंकेतित हैं, अतः यह संज्ञासूत्र है) इसी तरह लोकमें भी पुद्गलाः, संस्कारः क्षेत्रज्ञाः" इत्यादि संज्ञासूत्र हैं। (यहाँ पुद्गल संस्कार और क्षेत्रज्ञपद संकेतित हैं) जो सूत्र वहुत अर्थोंको संग्रह करता है उसे संग्रहसूत्र कहते हैं। जैसे द्रव्य कहनेसे धर्म-अधर्म आदि समस्त द्रव्योंका संग्रह होता है। अथवा उत्पत्ति, विनाश और नित्यतासे युक्त पदार्थ सत् है। (यहाँ सत् शब्दसे सभी द्रव्योंका संग्रह होता है इसलिए उक्त सूत्र संग्रह सूत्र है।)

जो सूत्र अनेक प्रकारके छन्दोंमें रचा गया है, वह 'वृत्तनिवद्ध' सूत्र है।

तिउट्टिज्जे' इत्यादि । जातिनिबद्धं तु चतुर्धा । तद्यथा—कथनीयं कथ्यमुत्तराध्ययनज्ञाताधर्मकथादि । पूर्वर्षिचरितकथानकप्रायत्वात्तस्य । तथा गद्यं ब्रह्मचर्य्याध्ययनादि । तथा पद्यं छन्दोनिबद्धम् । तथा गेयं यत् स्वरसंचारेण गीतिकाप्रायनिबद्धं, तद्यथा—कापिलीयमध्ययनम् । "अधुवे असासयंमि संसारंमि दुक्खपउराए" इत्यादि ॥ ३ ॥

इदानीं कृतपदनिक्षेपार्थं निर्युक्तिकृद्गाथामाह—

करणं च कारओय कडं च तिण्हंपि छक्क निक्खेवो ।
दव्वे खित्ते काले भावेण उ कारओ जीवो ॥ ४ ॥

इह कृतमित्यनेन कर्मोपात्तं, नचाकर्तृकं कर्म भवतीत्यर्थात्कर्तुराक्षेपो धात्वर्थस्य च करणस्य । अमीषां त्रयाणामपि प्रत्येकं नामादिः षोढा-निक्षेपः । तत्र गाथापश्चार्धेनाल्पवक्तव्यत्वात्तावत्करणमतिक्रम्य कारकस्यनिक्षेपमाह । तत्र नामस्थापने प्रसिद्धत्वादनादृत्य द्रव्यादिकं दर्शयति "दव्वे" इति । द्रव्यविषये कारकश्चिन्त्यः सच द्रव्यस्य, द्रव्येण, द्रव्यभूतो वा कारको द्रव्यकारकः । तथा क्षेत्रे भरतादौ यः कारको, यस्मिन्वा क्षेत्रे

जैसे—"वुज्झिज्जत्ति तिउट्टिज्जा" इत्यादि सूत्र 'वृत्तनिबद्धसूत्र' है । जातिनिबद्धसूत्र चार प्रकारका होता है जैसे कि 'कथनीय' । जिसमें किसीकी कथा होती है वह कथनीय सूत्र है । जैसे उत्तराध्ययन और ज्ञाताधर्मकथा इत्यादि । इन सूत्रोंमें प्रायः प्राचीन ऋषियोंका चरित्र वर्णित हुआ है । तथा ब्रह्मचर्य्याध्ययन आदि (२) गद्यसूत्र हैं । छन्दोनिबद्धसूत्र, (३) पद्यसूत्र हैं । जो सूत्र स्वर मिलाकर गाया जाता है उस गीतिकाप्राय सूत्रको 'गेयसूत्र' कहते हैं । जैसे कापिलीय अध्ययन इत्यादि । "अधुवे असासयंमि" इत्यादि सूत्र गेयसूत्र हैं ॥ ३ ॥

अब निर्युक्तिकार कृतपदका निक्षेप बतानेके लिए गाथा कहते हैं । "करणं च" इत्यादि गाथामें कृतपदके द्वारा कर्मका ग्रहण किया गया है । कर्ताके विना कर्म नहीं होता है इसलिए यहाँ कर्मसे कर्ता और धात्वर्थ करणका आक्षेप होता है । कर्ता, कर्म और करण इन तीनोंके प्रत्येकका नाम आदि छः निक्षेप होते हैं। कर्ताके निक्षेपमें, करणकी अपेक्षा अल्पवक्तव्य है इसलिए करणको छोड़कर गाथाका उत्तरार्धके द्वारा पहले कर्ताका निक्षेप बतलाते हैं । प्रसिद्ध होनेके कारण नाम और स्थापनाको छोड़कर कर्ताके द्रव्य आदि निक्षेप बताये जाते हैं । अब द्रव्यके विषयमें कर्ताका विचार किया जाता है । जो द्रव्यका कर्ता है अथवा जो द्रव्यके द्वारा कर्ता है अथवा जो द्रव्य रूप कर्ता है उसे 'द्रव्यकारक' कहते हैं । तथा भरत आदि क्षेत्रमें जो कर्ता

कारको व्याख्यायते स क्षेत्रकारकः । एवं कालेऽपि योज्यम् । भावेन तु भावद्वारेण चिंत्यमानो जीवोऽत्र कारको, यस्मात्सूत्रस्य गणधरः कारकः । एतच्च निर्युक्तिकृद्देवोत्तरत्र वक्ष्यति "ठीइ अणुभावे" इत्यादौ ॥४॥

साम्प्रतं करणव्याचिख्यासया नामस्थापने मुक्त्वा द्रव्यादिकरण निक्षेपार्थं निर्युक्तिकृदाह—

दव्वं पओगवीसस, पओगसा मूल उत्तरे चेव ।
उत्तरकरणं वंजण अत्थो उ उवक्खरो सव्वो ॥५॥

'द्रव्ये' द्रव्यविषये करणं चिंत्यते, तद्यथा—द्रव्यस्य द्रव्येण द्रव्यनिमित्तं वा करणम् अनुष्ठानं द्रव्यकरणम् । तत्पुनर्द्विधा-प्रयोगकरणं विस्रसाकरणञ्च । तत्र प्रयोगकरणं, पुरुषादिव्यापारनिष्पाद्यम् । तदपि द्विविधम्-मूलकरण मुत्तरकरणञ्च । तत्रोत्तरकरणं गाथापश्चार्द्धेन दर्शयति—उत्तरत्र करणमुत्तर करणं कर्णवेधादि । यदिवा तन्मूलकरणं घटादिकं येनोपस्करेण—दण्ड चक्रादिनाऽभिव्यज्यते स्वरूपतः प्रकाश्यते तदुत्तरकरणं, कर्तुरुपकारकः सर्वोऽप्युपस्कारार्थ इत्यर्थः ॥५॥

है अथवा जिस क्षेत्र में कर्ता की व्याख्या की जाती है वह 'क्षेत्रकारक' कहलाता है। इसी तरह काल में भी कारक (कर्ता) की योजना कर लेनी चाहिए। भावविषयमें विचार करने पर भावद्वारा जो कारक (कर्ता) है वह 'भावकारक' है। भावकारक यहाँ जीव है क्योंकि सूत्र के कारक यहाँ गणधर हैं। निर्युक्तिकार आगे चलकर "ठीइ अणुभावे" इत्यादि गाथाके द्वारा यह बतलावेंगे ॥४॥

अब निर्युक्तिकार, करणकी व्याख्या करनेके लिए नाम और स्थापनाको छोड़कर द्रव्य आदि करणके निक्षेपार्थ कहते हैं कि—

अब द्रव्यके विषयमें करणका विचार किया जाता है द्रव्यका अथवा द्रव्यके द्वारा अथवा द्रव्यके निमित्त जो अनुष्ठान किया जाता है उसे 'द्रव्यकरण' कहते हैं। वह दो प्रकारका है (१) प्रयोगकरण और (२) विस्रसाकरण। पुरुष आदिके व्यापारसे जो उत्पन्न किया जाता है उसे 'प्रयोगकरण' कहते हैं। वह भी दो प्रकार का है (१) मूलकरण और (२) उत्तरकरण। इनमें उत्तरकरण गाथाके उत्तरार्ध-द्वारा बताया जाता है। जो उत्तरकालमें किया जाता है उसे 'उत्तरकरण' कहते हैं। जैसे कर्णवेध आदि। अथवा मूलकरण घट आदि, दण्डचक्र आदि जिस सामग्रीके द्वारा अपने स्वरूपमें प्रकट किया जाता है उसे 'उत्तरकरण' कहते हैं। कर्ताके उपकारक सभी साधन 'उत्तरकरण' कहलाते हैं।

पुनरपि प्रपंचतो मूलोत्तरकरणे प्रतिपादयितु माह—

मूलकरणं सरीराणि पंच तिसु कण्णखंधमादीयं।
दब्विंदियाणि परिणामियाणि विसओसहादीहिं ॥६॥

मूलकरण मौदारिकादीनि शरीराणि पंच। तत्र चौदारिकवैक्रियाहारकेषु त्रिपूत्तरकरणं कर्णस्कन्धादिकं विद्यते। तथाहि "सीसमुरोयरपिट्ठी दो वाहू उरु पाय अट्ठंग" त्ति। त्रयाणामप्येतन्निष्पत्तिर्मूलकरणम्। कर्णस्कन्धाद्यङ्गोपाङ्गनिष्पत्तिस्तूत्तरकरणम्। कार्मणतैजसयोस्तु स्वरूपनि-

---

फिर भी निर्युक्तिकार मूलकरण और उत्तरकरणको विस्तारके साथ बतानेके लिए कहते हैं—

औदारिक आदि पांच शरीर मूलकरण कहलाते हैं। इनमें औदारिक, वैक्रिय, आहारक, इन तीन शरीरोंमें कान और स्कन्ध आदि 'उत्तरकरण' हैं क्योंकि शिर, छाती, पेट, पीठ, दो भुजायें और दो जंघायें ये आठ अङ्ग हैं। औदारिक वैक्रिय और आहारक इन तीन शरीरोंकी उत्पत्ति मूलकरण कहलाता है। कान और स्कन्ध आदि अङ्ग तथा उपाङ्गोंकी उत्पत्ति उत्तरकरण है। कार्मण और तैजस शरीरके स्वरूपकी उत्पत्ति ही मूलकरण है। इन शरीरोंके अङ्गोपाङ्ग नहीं होते हैं।

टिप्पणी—(१) (औदारिक शरीर) जो सब शरीरोंमें प्रधान है वह औदारिक शरीर है। तीर्थंकर, की अपेक्षासे यह शरीर प्रधान माना जाता है। अथवा साररहित स्थूल द्रव्योंसे बना हुआ अर्थात् जो मांस हड्डी और चर्बी आदिसे बना हुआ है वह शरीर औदारिक शरीर कहलाता है।

(वैक्रिय शरीर) विकारको विक्रिया कहते हैं उसकेद्वारा बने हुए शरीरको वैक्रिय शरीर कहते हैं। यहाँ नाना प्रकारका बहुत शरीर बनाना विक्रिया है उसके द्वारा जो अनेक आश्चर्यजनक, विविध गुण और ऋद्धिसे युक्त शरीर उत्पन्न होता है उसे वैक्रिय शरीर कहते है।

(आहारक शरीर) जो शरीर, अत्यंत शुभ, शुक्ल और विशुद्ध द्रव्यवर्गणाके द्वारा किसी विशेष प्रयोजनके लिए अन्तर्मुहूर्त्त काल तक बनाया जाता है उसे आहारक शरीर कहते हैं।

(तैजस शरीर) जो तेज गुणवाली द्रव्यवर्गणासे उत्पन्न किया जाता है वह तैजस शरीर है। तेजोलब्धिधारी पुरुष, क्रोधित होकर किसीको जलानेके लिए यह शरीर प्रकट करता है। जैसे गोशालकने तैजस शरीर प्रकट किया था। अथवा खाये हुए अन्नको पचानेवाला शरीर तैजस शरीर है।

(कार्मण शरीर) कर्मके द्वारा बने हुए शरीरको कार्मण शरीर कहते हैं। बेर फलसे भरे हुए घड़ेके समान यह शरीर कर्मोंसे भरा हुआ होता है और जैसे अंकुर उत्पन्न करनेमें बीज समर्थ होता है उसी तरह समस्त कर्मोंको उत्पन्न करनेमें यह समर्थ होता है।

ष्पत्तिरेव मूलकरणम् । अंगोपाङ्गाभावान्नोत्तरकरणम् । यदिवा औदारिकस्य कर्णवेधादिकमुत्तरकरणं वैक्रियस्य तूत्तरकरण मुत्तरवैक्रियं, दन्तकेशादिनिष्पादनरूपं वा । आहारकस्यतु गमनाद्युत्तरकरणम् । यदि वौदारिकस्य मूलोत्तरकरणे गाथापश्चार्धेन प्रकारान्तरेण दर्शयति–द्रव्येन्द्रियाणि, कलम्बुकापुष्पाद्याकृतीनि मूलकरणं, तेषामेव परिणामिनां विषौपधादिभिः पाटवाद्यापादनमुत्तरकरणमिति ॥६॥

साम्प्रतमजीवाश्रितं करणमभिधातुकाम आह ।

संधायणे य परिसाडणा य मीसे तहेव पडिसेहो ।
पडसंखसगडथूणाउड्ढतिरिच्छादिकरणं च ॥ ७ ॥

संघातकरणमातानवितानीभूततंतुसंघातेन पटस्य, परिसाटकरणं–करपत्रादिना शंखस्य निष्पादनम् । संघातपरिशाटकरणं–शकटादेः । तदुभयनिषेधकरणं स्थूणादे रूर्ध्वतिरश्चीनाद्यापादनमिति ॥७॥

प्रयोगकरणमभिधाय विस्रसाकरणाभिधित्सया आह—

अतः इनमें उत्तरकरण नहीं होता है । अथवा औदारिक शरीरका उत्तरकरण कर्णवेध आदि हैं और वैक्रिय शरीरका उत्तरवैक्रिय करना उत्तरकरण है । अथवा दाँत या केश आदिको उत्पन्न करना वैक्रिय शरीरका उत्तरकरण है । आहारक शरीरका जाना आना आदि उत्तरकरण है । अथवा औदारिक शरीरके मूल और उत्तरकरणको इस गाथाके उत्तरार्धद्वारा और तरहसे बताते हैं । कलंबुकाका फूल आदिके समान आकारवालीं द्रव्य इन्द्रियाँ मूलकरण हैं । तथा परिणामको प्राप्त होनेवाली उन इन्द्रियोंकी विप और औपधके प्रयोगसे शक्ति बढ़ाना उत्तरकरण है ।

अब निर्युक्तिकार अजीव सम्बन्धी करणको बतानेके लिए कहते हैं—

ताना और बाना रूपमें स्थित तंतुसमूहसे वस्त्र बनाना संघातकरण कहलाता है । आरा वगैरहसे चीरकर शंख आदि बनाना 'परिशाटकरण' कहलाता है । कुछ द्रव्योंको मिलाकर और कुछको हटाकर गाड़ी आदि बनाना संघातपरिशाटकरण कहलाता है । तथा इन दोनों क्रियाओंको निपेध करके लकड़ी आदिको ऊपर या तिरिच्छा करना उभयनिपेधकरण कहलाता है ॥७॥

प्रयोगकरण बताकर अब विस्रसाकरण बतानेके लिए कहते हैं—

खंधेसु दुप्पएसादिएसु अब्भेसु विज्जुमाईसु ।
णिप्फण्णगाणि दव्वाणि, जाण तं वीससाकरणं ॥८॥

विस्रसाकरणं साद्यनादिभेदाद्द्विधा । तत्रानादिकं धर्माधर्माकाशानामन्योऽन्यानुवेधेनाऽवस्थानम् । अन्योऽन्यसमाधानाश्रयणाच्च सत्यप्यनादित्वे करणत्वाविरोधः । रूपिद्रव्याणाञ्च द्व्यणुकादिप्रक्रमेण भेदसंघाताभ्यां स्कन्धत्वापत्तिः सादिकं करणम् । पुद्गलद्रव्याणाञ्च दशविधः परिणामः तद्यथा—बन्धनगतिसंस्थानभेदवर्णगन्धरसस्पर्शागुरुलघुशब्दरूप इति । तत्र बंधः स्निग्धरूक्षत्वात् । गतिपरिणामो देशांतरप्राप्तिलक्षणः । संस्थानपरिणामः परिमण्डलादिकः पञ्चधा । भेदपरिणामः खण्डप्रतरचूर्णकानुतटिकोत्करिकाभेदेन पञ्चधैव । खण्डादिस्वरूपप्रतिपादकं चेदं गाथाद्वयं तद्यथा—

खंडेहि खंडभेयं पयरब्भेयं जहब्भपडलस्स ।
चुण्णं चुण्णियभेयं अणुतडियं वंसवक्कलियं ॥१॥
ढुंढुमिसमारोहे भेए उक्केरिया य उक्केरं ।
वीससपओगमीसगसंघायविओगविविहगमो ॥२॥

विस्रसाकरण, सादि और अनादि भेदसे दो प्रकारका है । धर्म अधर्म और आकाशका परस्पर एक दूसरेको वेध कर स्थित रहना अनादि विस्रसाकरण है । धर्म अधर्म और आकाश ये तीनो परस्पर मिलकर रहते हैं इसलिए अनादि होनेपर भी इनमें करण (क्रिया) होना विरुद्ध नहीं है । रूपी द्रव्य, द्व्यणुकादिक्रमसे भेद और संघातके द्वारा जो स्कंधरूपमें आते हैं वह सादिकरण हैं । पुद्गल द्रव्योंका परिणाम दश प्रकारका होता है । वह यह है—(१) बन्धन (२) गति (३) संस्थान (४) भेद (५) वर्ण (६) गंध (७) रस (८) स्पर्श (९) अगुरुलघु (१०) और शब्द रूप । स्निग्ध और रूक्षताके कारण बंध परिणाम होता है । दूसरे देशको प्राप्त करना गति परिणाम है । परिमंडल आदि भेदसे संस्थानपरिणाम, पाँच प्रकारका होता है । खंड, प्रतर, चूर्णक, अनुतटिका और उत्करिका भेदसे भेदपरिणाम पाँच प्रकारका होता है । खंड आदिके स्वरूपको बतानेवाली ये दो गाथायें हैं (खंडेहिं खंड भेयं) खंड यानी टुकड़ा टुकड़ा हो जाना खंड भेद है । तथा अभ्रक के समान एक एक तह अलग अलग होजाना प्रतर भेद है । चूर्ण किये हुए पदार्थ के चूर्णको चूर्णितभेद कहते हैं । बाँसके छिलकोंको अलग अलग कर देना अनुतटिका भेद है । सूखे हुए तालावकी फटी हुई दरारें उत्करिकाभेद हैं । इस प्रकार पुद्गलोंके स्वाभाविक, प्रायोगिक, मिश्र, संघात और वियोगरूप नानाविध भेद होते हैं । श्वेत

वर्णपरिणामः पञ्चानां श्वेतादीनां वर्णानां परिणति स्तद्‌द्व्यादि-संयोगपरिणतिश्च, एतत्स्वरूपं च गाथाभ्योऽवसेयं ताश्चेमाः—

जइकालगमेगगुणं सुकिलयंपि य हविज्ज वहुयगुणं ।
परिणामिज्जइ कालं सुक्केण गुणाहियगुणेणं ॥१॥
जइ सुक्किल मेगगुणं कालगदव्वं तु वहुगुणं जइ य ।
परिणामिज्जइ सुक्कं कालेण गुणाहियगुणेणं ॥२॥
जइ सुक्कं एक्कगुणं कालगदव्वंपि एक्कगुणमेव ।
कावोयं परिणामं तुल्लगुणत्तेण संभवइ ॥३॥
एवं पंचवि वण्णा संजोएणं तु वण्णपरिणामो ।
एक्कत्तीसं भंगा सव्वेवि य ते मुणेयव्वा ॥४॥
एमेव य परिणामो गंधाण रसाण तह य फासाणं ।
संठाणाण य भणिओ संजोगेणं वहुविगप्पो ॥५॥

एकत्रिंशद्भंगा एवं पूर्यंते—दशद्विकसंयोगाः दश त्रिकसंयोगाः पञ्चचतुष्कसंयोगा एकः पञ्चकसंयोगः प्रत्येकं वर्णाश्च पञ्चेति । अगुरुलघु-

---

आदि पाँच वर्णोंका अन्यवर्णके आकारमें परिणत होना तथा दो या तीन वर्ण मिलकर एक नया वर्ण वन जाना, वर्णपरिणाम कहलाता है । इसका स्वरूप नीचे लिखी हुई गाथाओंसे जानना चाहिए । वे गाथायें ये हैं—(जइ) यदि काला रंग एक गुणवाला हो और शुक्ल रंग बहुत गुणवाला हो तो काला रंग, अधिक गुणवाले शुक्ल गुणके रूपमें परिणत हो जाता है । १—यदि शुक्ल द्रव्य एक गुणवाला हो और काला द्रव्य वहुत गुणवाला हो तो शुक्लवर्ण अधिक गुणवाले काले वर्णके रूपमें परिणत हो जाता है । २—शुक्लवर्ण यदि एक गुणवाला हो और काला वर्ण भी एक गुणवाला ही हो तो वहाँ दोनोंके तुल्यगुण होनेसे कपोतवर्ण उत्पन्न होता है । ३—वर्ण पाँच प्रकारके होते हैं । इनके संयोगसे वर्णपरिणाम होता है । इस प्रकार वर्णपरिणामके एकतीस भेद स्वयं जान लेने चाहिये । ४—इसी तरह गंध, रस स्पर्श और संस्थानोंके भी अनेक प्रकारके संयोगज परिणाम होते हैं । ५—कृष्णादि वर्णोंके परस्पर संयोगसे उत्पन्न होनेवाले परिणामोंके एकतीस भंगोंकी पूर्ति इस प्रकार करनी चाहिए । दो दो वर्णोंके संयोग, दश और तीन तीनके संयोग दश होते हैं । चारके संयोग पाँच और पाँचका संयोग एक तथा प्रत्येक वर्ण पाँच होते हैं । ये सव मिलकर एकतीस भेद होते हैं । परमाणुसे लेकर अनंता-

परिणामस्तु परमाणोरारभ्य यावदनंतानंतप्रदेशिकाः स्कंधाः सूक्ष्माः। शब्दपरिणामस्तत्तविततघनसुषिरभेदाच्चतुर्धा। तथा ताल्वोष्ठपुटव्यापाराद्यभिनिर्वर्त्यश्च। अन्येऽपिच पुद्गलपरिणामाश्छायादयो भवंति, ते चामी—

छाया य आयवो वा, उज्जोओ तह य अंधकारो य।
एसो उ पुग्गलाणं परिणामो फंदणा चेव ॥१॥

सीया णाइपगासा, छाया णाइच्चिया वहुविगप्पा।
उण्हो पुणप्पगासो णायव्वो आयवो नाम ॥२॥

नवि सीओ नवि उण्हो समो पगासो य होइ उज्जोओ।
कालं मइलं तमंपि य वियाण तं अंधयारंति ॥३॥

दव्वस्स चलण पप्फंदणा उ सा पुण गई उ निद्दिट्ठा।
वीससपओगमीसा, अत्तपरेणं तु उभओवि ॥४॥

तथाऽभ्रेन्द्रधनुर्विद्युदादिषु कार्य्येषु यानि पुद्गलद्रव्याणि परिणतानि तद्विस्रसाकरणमिति ॥८॥

गतं द्रव्यकरणम् इदानीं क्षेत्रकरणाभिधित्सयाऽऽह।

ण विणा आगासेणं कीरइ जं किंचि खेत्तमागासं।
वंजणपरियावण्णं उच्छुकरणमादियं बहुहा ॥९॥

नंत प्रदेशी सूक्ष्म स्कंध अगुरुलघु परिणाम हैं। तत, वितत, घन और सुषिर भेदसे शब्द परिणाम चार प्रकारका है। तथा तालु और ओष्ठ आदिके व्यापारसे भी शब्दपरिणाम होता है। छाया आदि दूसरे भी पुद्गलोंके परिणाम होते हैं। वे ये हैं—छाया, आतप, उद्योत, अंधकार और स्पंदन। ये पुद्गलोंके परिणाम हैं ॥१॥

ठंढी, अति प्रकाश रहित, आदित्य वर्जित, अनेक भेदवाली छाया होती है। उष्ण प्रकाशको 'आतप' कहते हैं। २—जो ठंढा भी नहीं है और गर्म भी नहीं है ऐसे सम प्रकाशको उद्योत कहते हैं। काला और मलिन तमको अंधकार जानो। ३—द्रव्यका चलना प्रस्पंदना कहलाता है और उसीको गति कहते हैं। वह गति, विस्रसा, प्रयोग, मिश्रण, अपने, दूसरे तथा दोनोंसे उत्पन्न होती है। मेघ, इन्द्रधनुष और विद्युत् आदि कार्य्यद्रव्योंमें जो पुद्गलद्रव्य परिणत हुए हैं वह विस्रसाकरण है।

द्रव्यकरण कहा जा चुका अब क्षेत्रकरण बतानेके लिए कहते हैं—

'क्षिनिवासगत्योः' अस्मादधिकरणे ष्ट्रना क्षेत्रमिति तच्चावगाहदान लक्षणमाकाशं तेन चावगाहदानयोग्येन विना न किंचिदपि कर्तुं शक्यत इत्यतः क्षेत्रेकरणं क्षेत्रकरणं नित्यत्वेऽपि चोपचारतः क्षेत्रस्यैव करणं क्षेत्रकरणम् । यथा गृहादावपनीते कृत माकाश मुत्पादिते विनष्टमिति । यदिवा व्यंजन-पर्य्यायापन्नं शब्दद्वाराऽऽयातम् । 'इक्षुकरणादिक'मिति, इक्षुक्षेत्रस्य करणं लांगलादिना संस्कारः क्षेत्रकरणं, तच्च वहुधा—शालिक्षेत्रादिभेदादिति ॥९॥

साम्प्रतं कालकरणाभिधित्सयाऽऽह—

कालो जो जावइओ जं कीरइ जंमि जंमि कालंमि।
ओहेण णामओ पुण करणा एक्कारस हवंति ॥१०॥

कालस्याऽपि मुख्यं करणं न संभवतीत्यौपचारिकं दर्शयति—'कालो यो यावानिति' यः कश्चित् घटिकादिको नलिकादिना व्यवच्छिद्य व्यवस्थाप्यते तद्यथा षष्ठ्युदकपलमाना घटिका, द्विघटिको मुहूर्त स्त्रिंशन्मुहूर्तमहो-

---

निवास और गति अर्थमें 'क्षि' धातुका प्रयोग होता है। इस 'क्षि' धातुसे अधिकरण अर्थमें 'ष्ट्रन्' प्रत्यय होकर 'क्षेत्र' शब्द वनता है। अवगाहन देनेवाला आकाश 'क्षेत्र' कहलाता है। उस अवगाहन देनेवाले आकाशके विना कुछ भी कार्य्य नहीं किया जा सकता है अतः आकाश में कोई कार्य्य करना 'क्षेत्रकरण' कहलाता है अथवा क्षेत्र यानी आकाशको ही उत्पन्न करना क्षेत्रकरण कहलाता है। यद्यपि आकाश नित्य है तथापि उपचारसे आकाशका भी किया जाना जानना चाहिये जैसे घर आदिके तोड़ देनेपर आकाश किया गया और घर आदि वना देनेपर आकाश नष्ट हो गया यह औपचारिक व्यवहार होता है। अथवा व्यंजन पर्य्यायको प्राप्त क्षेत्रके करणको क्षेत्रकरण कहते हैं। हल चलाकर खेतको ईख आदि उत्पन्न करने योग्य वनाना क्षेत्रकरण है। वह शालिक्षेत्र आदिभेदसे वहुत प्रकारका होता है।

अव निर्युक्तिकार कालकरण वतानेके लिए कहते हैं—

काल भी मुख्यरूपसे नहीं किया जा सकता है अतः औपचारिक कालकरण वताते हैं—

नलिका आदि यंत्रके द्वारा माँपकर घटिका आदि जो कालबोधक पदार्थ वनाए जाते हैं वह कालकरण कहलाता है। जैसे साठ पलकी एक घटिका होती है और दो घटिकाका एक मुहूर्त होता है और तीस मुहूर्तके एक रात दिन होते हैं। इसीका

रात्रमित्यादि तत्कालकरणमिति, यद्वा यद् यस्मिन् काले क्रियते, यत्रवा काले करणं व्याख्यायते तत्कालकरणम् । एतदोघतः, नामतस्त्वेकादश करणानि ॥१०॥

तानि चामूनि—"बवंच बालवं चेव कोलवं तेत्तिलं तहा।
गरादि वणियं चेव विट्ठी हवइ सत्तमा" ॥११॥
सउणि चउप्पयं नागं किंसुग्घं च करणं भवे एयं ।
एते चत्तारि धुवा, अन्ने करणा चला सत्त ॥१२॥
चाउद्दसि रत्तीए सउणी पडिवज्जए सदा करणं ।
तत्तो अहक्कमं खलु चउप्पयं णाग किंसुग्घं ॥१३॥

एतद्गाथात्रयं सुखोन्नेयमिति ।११।१२।१३

इदानीं भावकरणप्रतिपादनायाऽऽह—

भावे पओगवीसस, पओगसा मूल उत्तरे चेव ।
उत्तरकमसुयजोवण वण्णादी भोअणादीसु ॥१४॥

भावकरणमपिद्विधा-प्रयोगविस्रसाभेदात् । तत्र जीवाश्रितं प्रायोगिकं मूलकरणं पञ्चानां शरीराणां पर्य्याप्तिः, तानि हि पर्याप्तिनामकर्मोदयादौदयिके भावे वर्तमानो जीवः स्ववीर्य्यजनितेन प्रयोगेण निष्पाद-

---

नाम कालकरण है । अथवा जिस कालमें कोई वस्तु की जाती है अथवा जिस कालमें करणकी व्याख्या की जाती है वह कालकरण है। यह ओघ (सामान्य) रूपसे कालकरण कहा गया परंतु नामसे एग्यारह करण होते हैं ॥१०॥

वे करण ये हैं—बव, बालव, कोलव, तैतिल, गर, वणिक, विष्टि, शकुनि, चतुष्पद, नाग, किंसुग्घ । ये एगारह करण होते हैं । इनमें पीछले चार ध्रुव और अन्य सात चल हैं । चतुर्दशीकी रातमें शकुनि नामक करण सदा वर्जित करना चाहिए और त्रयोदशीको चतुष्पद, द्वादशीको नाग और एकादशीको किंसुग्घ वर्जित करना चाहिए । ११।१२।१३।

अब भावकरण बतानेके लिए कहते हैं—

प्रयोग और विस्रसाभेदसे भावकरण भी दो प्रकार का होता है । इनमें जीवके द्वारा प्रयोगसे उत्पन्न मूलकरण, पाँच शरीरोंकी पर्याप्ति है क्योंकि औदयिक भावमें वर्तमान जीव, पर्य्याप्तिनाम कर्मके उदयसे अपने वीर्य्यसे उत्पन्न प्रयोगके द्वारा

यति । उत्तरकरणंतु गाथापश्चार्धेनाऽऽह—उत्तरकरणं क्रमश्रुतयौवन वर्णादिचतूरूपम् । तत्र क्रमकरणं शरीरनिष्पत्त्युत्तरकालं बालयुवस्थविरादिक्रमेणोत्तरोत्तरोऽवस्थाविशेषः । श्रुतकरणं तु व्याकरणादिपरिज्ञानरूपोऽवस्थाविशेषोऽपरकलापरिज्ञानरूपश्चेति । यौवनकरणं कालकृतोवयोऽवस्था विशेषोरसायनाद्यापादितोवेति । तथा वर्णगंधरसस्पर्शकरणं विशिष्टेषु भोजनादिषु सत्सु याद्विशिष्टवर्णाद्यापादनमिति एतच्च पुद्गलविपाकित्वात्वाद्वर्णादीना मजीवाश्रितमपि द्रष्टव्यमिति ॥१४॥

इदानीं विस्रसाकरणाभिधित्सयाऽऽह ।

वण्णादिया य वण्णादिएसु, जे केइ वीससासेला ।
ते हुंति थिरा अथिरा, छायातवदुद्धमादीसु ॥ १५ ॥

'वर्णादिका' इति रूपरसगंधस्पर्शाः ते यदाऽपरेष्वपरेषां वा स्वरूपादीनां मिलंति ते वर्णादिमेलकाः विस्रसाकरणं, ते च मेलकाः स्थिरा—असंख्येयकालावस्थायिनः, अस्थिराश्च—क्षणावस्थायिनः, संध्यारागाभ्रेन्द्रधनुरादयोभवंति । तथा छायात्वेनातपत्वेन च पुद्गलानां विस्रसा-

---

पाँच प्रकारके शरीरोंको बनाता है। अब गाथाके उत्तरार्धद्वारा उत्तरकरण बताया जाता है । क्रम, श्रुत, यौवन, और वर्णादिभेदसे उत्तरकरण चतुर्विध होता है । शरीरकी निष्पत्तिके पश्चात् बाल, युवा, और स्थविर आदि क्रमसे जो उत्तरोत्तर अवस्थाविशेष है वह क्रमकरण है । व्याकरण आदिका ज्ञानरूप अवस्थाविशेष और दूसरी कलाओंका ज्ञानरूप अवस्थाविशेष 'श्रुतकरण' है । कालकृत वयका अवस्था विशेष अथवा रसायन आदिके प्रयोगसे संपादित अवस्था विशेष यौवनकरण है । विशिष्ट भोजन आदि होनेपर जो विशिष्ट वर्ण आदि उत्पन्न किया जाता है उसे 'वर्णगन्धरसस्पर्शकरण' कहते हैं । ये वर्ण आदि, पुद्गलोंके विपाक हैं इसलिए इन्हें अजीवाश्रित भी समझना चाहिए ॥ १४ ॥

अब निर्युक्तिकार विस्रसाकरण बतानेके लिए कहते हैं ।

रूप रस गंध और स्पर्श जब अपनेसे भिन्न रूप रस गंध और स्पर्शमें मिलते हैं तो उस वर्ण आदिके मेलको 'विस्रसाकरण' कहते हैं । वे मेल कोई तो असंख्येय कालतक रहनेवाले स्थिर होते हैं और कोई क्षण भर रहनेवाले अस्थिर होते हैं । जैसे संध्याकालकी लालिमा मेघ और इन्द्रधनुष आदि थोड़ी देरतक ही रहते हैं । इसी तरह पुद्गलोंके विस्रसारूप परिणामसे ही छाया और आतपरूप परिणाम

परिणामत एव परिणामो भावकरणं दुग्धादेश्च स्तनप्रच्यवनानंतरं प्रतिक्षणं कठिनाम्लादिभावेन गमनमिति ॥ १५ ॥

साम्प्रतं श्रुतज्ञानमधिकृत्य मूलकरणाभिधित्सयाऽऽह—

मूलकरणं पुण सुते तिविहे जोगे सुभासुभे झाणे ।
ससमयसुएण पगयं अज्झवसाणेण य सुहेणं ॥ १६ ॥

'श्रुते' पुनः श्रुतग्रन्थे मूलकरणमिदं 'त्रिविधेयोगे' मनोवाक्काय-लक्षणे व्यापारे शुभाशुभे च ध्याने वर्तमानै ग्रन्थरचना क्रियते, तत्रलोकोत्तरे शुभध्यानावस्थितैर्ग्रन्थरचना विधीयते, लोकेत्वशुभध्यानाश्रितैर्ग्रन्थ-ग्रन्थनं क्रियत इति, लौकिकग्रन्थस्य कर्मवन्धहेतुत्वात् कर्तुरशुभध्यायित्व-मवसेयम्, इह तु सूत्रकृतस्य तावत्स्वसमयत्वेन शुभाध्यवसायेन च प्रकृतं, यस्माद्गणधरैः शुभध्यानावस्थितैरिदमङ्गीकृतमिति ॥१६॥

तेषां च ग्रंथरचनां प्रति शुभध्यायिनां कर्मद्वारेण
योऽवस्थाविशेषस्तं दर्शयितुकामो नियुक्तिकृदाह—

ठिइअणुभावे बंधणनिकायणनिहत्तदीहहस्सेसु ।
संकमउदीरणाए उदए वेदे उवसमे य ॥१७॥

होते हैं। इसी तरह दूध आदि पदार्थ स्तनसे निकलकर प्रतिक्षण जो काठिन्य और खट्टेपनको प्राप्त होते हैं वह भावकरण परिणाम समझना चाहिए ॥ १५ ॥

अब निर्युक्तिकार श्रुतज्ञानके विषयमें मूलकरण बतानेके लिये कहते हैं—

श्रुत यानी श्रुतग्रन्थके विषयमें 'मूलकरण' यह है—तीन प्रकारके योग अर्थात् मन, वचन, और कायके व्यापारमें तथा शुभ और अशुभध्यानमें वर्तमान पुरुषोंके द्वारा ग्रंथकी रचना की जाती है। उसमें शुभध्यानमें स्थित पुरुषोंके द्वारा लोकोत्तर ग्रंथकी रचना की जाती है और अशुभध्यानमें स्थित पुरुषोंके द्वारा लौकिक ग्रंथकी रचना की जाती है। लौकिक ग्रन्थ कर्मवन्धके कारण हैं इसलिए लौकिक ग्रंथ रचने वाले पुरुषोंको अशुभ ध्यानवाला समझना चाहिए। यह सूत्रकृताङ्गसूत्र स्वसिद्धान्त-का बोधक है तथा शुभ अध्यवसायसे किया गया है क्योंकि शुभध्यानमें स्थित गणधरोंने इसकी रचना की है ॥१६॥

ग्रन्थरचनाके विषयमें शुभध्यानवाले उन गणधरोंका कर्मद्वारा जो अवस्था विशेष था उसे दर्शानेके लिये निर्युक्तिकार कहते हैं—

तत्र कर्मस्थितिं प्रति अजघन्योत्कृष्टकर्मस्थितिभिर्गणधरैः सूत्रमिदं-कृतमिति, तथाऽनुभावो—विपाकस्तदपेक्षया मन्दानुभावैः, तथा बन्ध-मङ्गीकृत्य ज्ञानावरणीयादिप्रकृतीर्मन्दानुभावा बध्नद्भिः तथाऽनिकाच-यद्भिरेवं निधत्तावस्थामकुर्वद्भि स्तथादीर्घस्थितिकाः कर्मप्रकृतीर्ह्रसीय-सीर्जनयद्भिः, तथोत्तरप्रकृतीर्बध्यमानासु संक्रामयद्भिः, तथोदयवतां कर्मणामुदीरणां विदधानै रप्रमत्तगुणस्थैस्तु सातासाताऽऽयूंष्यनुदीरयद्भिः, तथा मनुष्यगतिपञ्चेन्द्रियजात्यौदारिकशरीरतदङ्गोपाङ्गादिकर्मणामुदये वर्त-मानैः, तथावेदमङ्गीकृत्य पुंवेदे सति, तथा 'उवसमे'त्ति सूचनात्सूत्रमिति क्षायोपशमिके भावे वर्तमानैर्गणधरादिभिरिदं सूत्रकृताङ्गं दृब्धमिति ॥१७॥

जिनकी कर्मस्थिति, न तो जघन्य थी और न उत्कृष्ट थी ऐसे गणधरोंने इस सूत्रकी रचना की थी। अनुभाव, विपाकका नाम है। वह भी उन गणधरोंका मन्द था। वे, मन्दविपाकवाली ज्ञानावरणीय आदि प्रकृतिको बाँधते थे, तथा उस कर्मप्रकृतिको वे, निकाचित[1] और निधत्त[2] अवस्थामें नहीं पहुँचने देते थे। एवं दीर्घस्थितिवाली कर्म प्रकृतिको वे ह्रस्व स्थितिवाली करते थे। तथा उत्तर प्रकृतियोंको वे बाँधी जाती हुई कर्मस्थितिमें मिलाते थे। उदयको प्राप्त कर्मोंकी वे उदीरणा करते थे। जो अप्रमत्तगुणस्थानवाले थे वे, साता और असाता आयुकी उदीरणा नहीं करते थे। मनुष्य गति, पञ्चेन्द्रिय जाति, औदारिक शरीर, तथा उसके अंगोपांग आदि कर्मोंके उदयमें वे वर्तमान थे। पुंवेद और क्षायोपशमिक भावमें वे वर्तमान थे। ऐसे गणधरोंने इस सूत्रकृताङ्गसूत्रकी रचना की थी। यह अर्थोंकी सूचना करनेके कारण 'सूत्र' कहलाता है ॥१७॥

---

१. (निकाचित) जैसे लोहकी शलाकाओंको आगमें तपाकर घनसे पीटने पर वे एक हो जाती हैं। उस समय वे अलग अलग नहीं की जा सकती हैं इसी तरह जो कर्म, आत्माके साथ अत्यंत बँध गया है और विना भोगे अलग नहीं किया जा सकता है उसे 'निकाचित' कहते हैं।

२. किसी वस्तुको स्थापित करना, अथवा स्थापित वस्तुको 'निधत्त' कहते हैं। तारसे बाँधी हुई लोहकी शलाकाएँ तार खोलकर जैसे अलग अलग की जा सकती हैं इसी तरह जो कर्म, उद्वर्तना और अपवर्तनाको छोड़कर शेष करणोंसे अलग नहीं किए जा सकते हैं उन्हें 'निधत्त' कहते हैं। अनुकूल पुद्गलोंके संयोगसे बंधकी वृद्धि होना उद्वर्तना है और प्रतिकूल पुद्गलोंके संयोगसे बंधका घटना 'अपवर्तना' है।

साम्प्रतं स्वमनीषिकापरिहारद्वारेण करणप्रकारमभिधातुकामआह—

सोऊण जिणवरमतं गणहारी काउ तक्खओवसमं।
अज्झवसाणेण कयं सूत्तमिणं तेण सूयगडं ॥१८॥

श्रुत्वा निशम्य जिनवराणां तीर्थकराणां मतमभिप्रायं मातृकादिपदं 'गणधरैः' गौतमादिभिः कृत्वा 'तत्र' ग्रंथरचने क्षयोपशमं तत्प्रतिबंधक-कर्मक्षयोपशमादत्तावधानैरितिभावः, शुभाध्यवसायेन च सता कृत मिदं सूत्रं तेन सूत्रकृत मिति ॥१८॥

इदानीं कस्मिन् योगे वर्तमानै स्तीर्थकृद्भिर्भाषितं ? कुत्र वा गणधरै-दृब्धमित्येतदाह—

वइजोगेण पभासियमणेगजोगंधराण साहूणं।
तो वयजोगेण कयं जीवस्स सभावियगुणेण ॥१९॥

तत्र तीर्थकृद्भिः क्षायिकज्ञानवर्तिभिर्वाग्योगेनार्थः प्रकर्षेण भाषितः प्रभाषितो गणधराणां, तेच न प्राकृतपुरुषकल्पाः, किंत्वनेकयोगधराः। तत्र योगः—क्षीराश्रवादिलब्धिकलापसम्बन्धस्तंधारयन्तीत्यनेकयोगधरास्तेषां

यह सूत्र अपनी इच्छासे नहीं किन्तु जिस प्रकार रचा गया है वह बतानेके लिए निर्युक्तिकार कहते हैं—

ग्रन्थकी रचना करनेमें विघ्न उत्पन्न करनेवाले कर्मोंके क्षयोपशम हो जानेसे एकाग्रचित्त गौतमादि गणधरोंने तीर्थंकरोंके मत यानी उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्त मातृकादि पदोंको सुनकर शुभ अध्यवसायके साथ इस सूत्रकी रचनाकी थी इस-लिए इसका नाम 'सूत्रकृत' है ॥ १८ ॥

तीर्थंकरोंने किस योगमें वर्तमान होकर इस सूत्रका भाषण किया था तथा गणधरोंने किस भावकी भूमिका पर स्थित होकर इस ग्रंथकी रचनाकी थी ? अब यह बतानेके लिए निर्युक्तिकार कहते हैं—

क्षायिकज्ञानमें वर्तमान तीर्थंकरोंने वाणीद्वारा गणधरोंको यह सूत्र अच्छी तरह कहा था। वे गणधर भी साधारण पुरुषके समान न थे किंतु वे अनेक योगोंको धारण करनेवाले थे। क्षीराश्रव आदि लब्धि समूहके सम्बन्धको 'योग' कहते हैं। उस योगको धारण करनेवाले गणधर थे। अतएव वे 'अनेकयोगधर' कहलाते

प्रभाषितमिति सूत्रकृताङ्गापेक्षयानपुंसकता। साधवश्चात्र गणधरा एव गृह्यंते, तदुद्देशेनैव भगवतामर्थप्रभाषणादिति, ततोऽर्थं निशम्य गणधरैरपि वाग्योगेनैव कृतं तच्च जीवस्य 'स्वाभाविकेन गुणेनेति' स्वस्मिन् भावे भवः स्वाभाविकः प्राकृतइत्यर्थः, प्राकृतभाषयेत्युक्तं भवति न पुनः संस्कृतया लट्‌लिट्‌शप्‌प्रकृतिप्रत्ययादिविकारविकल्पनानिष्पन्नयेति ॥ १९ ॥

पुनरन्यथा सूत्रकृतनिरुक्तमाह—

अक्खरगुणमतिसंघायणाए, कम्मपरिसाडणाए य।
तदुभयजोगेण कयं, सूत्तमिणं तेण सूत्तगडं ॥२०॥

अक्षराणि—अकारादीनि तेषां गुणः—अनंतगमपर्य्यायवत्त्वमुच्चारणं वा, अन्यथाऽर्थस्य प्रतिपादयितुमशक्यत्वात्। मतेः—मतिज्ञानस्य संघटना मतिसंघटना, अक्षरगुणेन मतिसंघटना, अक्षरगुणमतिसंघटना, भावश्रुतस्य द्रव्यश्रुतेन प्रकाशनमित्यर्थः। अक्षरगुणस्य वा मत्या—बुद्‌ध्या संघटना रचनेति यावत्, तयाऽक्षरगुणमतिसंघटनया। तथा कर्मणां—ज्ञानावरणा-

---

हैं। उन गणधरोंको यह सूत्र भगवानने कहा था। यहाँ 'सूत्रकृताङ्ग' शब्दकी अपेक्षासे 'प्रभाषितम्' यह नपुंसक लिंग हुआ है। यहाँ साधु पदसे गणधरोंका ही ग्रहण है क्योंकि भगवान्ने उन गणधरोंके उद्देशसे ही इस अर्थको कहा है। भगवान्से उस अर्थको सुनकर गणधरोंने वाग्योगके द्वारा ही इस सूत्रकी रचनाकी थी। यह रचना, जीवके स्वाभाविक गुणके अनुसार की गई है। जो अपने भावमें उत्पन्न होता है उसे 'स्वाभाविक' कहते हैं अर्थात् जो जीवकी प्रकृतिसे सिद्ध है उसे स्वाभाविक कहते हैं। वह प्राकृत है। उस प्राकृत भाषामें इस सूत्रकी रचना की गई है परंतु लट्, लिट्, शप्, प्रकृति, प्रत्यय, आदि विकारोंकी कल्पनासे उत्पन्न संस्कृत भाषामें नहीं। (क्योंकि संस्कृत भाषा जीवोंकी स्वाभाविक भाषा नहीं है।)

फिर दूसरे प्रकारसे सूत्रकृत शब्दकी व्याख्या करते हैं।

अकारादि वर्णोंको अक्षर कहते हैं। उन अक्षरोंका अनंतगमपर्य्यायपना अथवा उच्चारण करना गुण है क्योंकि अक्षरोंके उच्चारणके विना अर्थका प्रतिपादन नहीं किया जा सकता है। मतिज्ञानको जोड़ना 'मतिसंघटना' कहलाता है। मतिज्ञानको अक्षरगुणके साथ जोड़ना 'अक्षरगुणमतिसंघटना' कहलाता है। भावश्रुतको द्रव्य श्रुतके द्वारा प्रकट करना 'अक्षरगुणमतिसंघटना' है। (अपने मनके भावको वाणी द्वारा प्रकट करना 'अक्षरगुणमतिसंघटना है) अथवा बुद्धिके द्वारा अक्षरगुणोंकी रचना करना 'अक्षरगुणमतिसंघटना' है। ज्ञानावरणीय आदि

दीनां परिशाटना—जीवप्रदेशेभ्यः पृथक्करणरूपा तया च हेतुभूतया, सूत्रकृताङ्गं कृतमिति सम्बन्धः, तथाहि-यथा यथा गणधराः सूत्रकरणायोद्योगंकुर्वंति तथा तथा कर्मपरिशाटना भवति, यथा यथा च कर्मपरिशाटना तथा तथा ग्रंथरचनायोद्यमः सम्पद्यत इति । एतदेव गाथापश्चार्धेन दर्शयति—'तदुभययोगेने' ति अक्षरगुणमतिसंघटनायोगेन कर्मपरिशाटनायोगेन च, यदिवा वाग्योगेन मनोयोगेन च कृतमिदं सूत्रं तेन सूत्रकृतमिति ॥२०॥

इहानंतरं सूत्रकृतस्य निरुक्तमुक्तम्, अधुना सूत्रपदस्य निरुक्ताभिधित्सयाऽऽह—

सुत्तेण सुत्तिया च्चिय अत्था तह सूइया य जुत्ता य ।
तो बहुविहप्पउत्ता एय पसिद्धा अणादीया ॥२१॥

अर्थस्य सूचनात्सूत्रं तेन सूत्रेण केचिदर्थाः साक्षात्सूत्रिताः मुख्यतयोपात्ताः, तथाऽपरे सूचिता अर्थापत्त्याक्षिप्ताः, साक्षादनुपादानेऽपि दध्यानयनचोदनया तदाधारानयनचोदनावदिति, एवं च कृत्वा चतुर्दशपूर्वविदः परस्परं षट्स्थानपतिता भवंति, तथाचोक्तम्—"अक्खरलंभेण

कर्मोंको जीव प्रदेशसे अलग करना 'कर्मपरिशाटन' कहलाता है। यह सूत्रकृताङ्गसूत्र, अक्षरगुणमतिसंघटना और कर्मपरिशाटनाके द्वारा रचा गया है। गणधर लोग शास्त्रकी रचनामें ज्यों ज्यों उद्योग करते हैं त्यों त्यों उनके कर्मोंका परिशाटन होता है और ज्यों ज्यों उनके कर्मोंका परिशाटन होता है त्यों त्यों ग्रंथ रचनेमें उनका उद्योग बढ़ता जाता है। यही गाथाके उत्तरार्ध द्वारा बताया जाता है। गणधरोंने अक्षरगुणमतिसंघटना और कर्मपरिशाटना इन दोनोंके योगसे अथवा वाग्योग और मनोयोगसे इस सूत्रको रचा है इसलिए इसका नाम सूत्रकृत है ॥ २० ॥

इसके पूर्व सूत्रकृत शब्दकी व्याख्याकी गई है अब निर्युक्तिकार सूत्र पदकी व्याख्या करनेके लिए कहते हैं। जो अर्थको सूचित करता है उसे 'सूत्र' कहते हैं। उस सूत्रके द्वारा कोई अर्थ साक्षात् कहे हुए होते हैं, वे मुख्यरूपसे गृहीत होते हैं और दूसरे अर्थ सूचित किए हुए अर्थात् अर्थापत्ति न्यायसे आक्षेप किए हुए होते हैं। वे अर्थ साक्षात् ग्रहण न करने पर भी दही लानेकी आज्ञा देनेपर उसके बर्तनको लानेकी आज्ञाके समान अर्थवश जान लिये जाते हैं। यही कारण है कि चौदह पूर्वधारी छः प्रकारके होते हैं। कहा भी है "अक्खरलंभेणं" अर्थात्

समा उणहिया हुंति मतिविसेसेहिं । तेऽविय मईविसेसा सुयणाणऽब्भंतरे-जाण" । १ तत्र ये साक्षादुपात्तास्तान् प्रति सर्वेऽपि तुल्याः, ये पुनः सूचितास्तदपेक्षया कश्चिदनंतभागाधिकमर्थं वेत्त्यपरोऽसंख्येयभागाधिक मन्यः संख्येयभागाधिकं तथाऽन्यः संख्येयासंख्येयानंतगुणमिति, तेच सर्वेऽपि 'युक्ता' युक्त्युपपन्नाः सूत्रोपात्ता एव वेदितव्याः, तथाचाभिहि-तम्—"तेऽविय मईविसेसे" इत्यादि । ननु किं सूत्रोपात्तेभ्योऽन्येऽपि केचनार्थाः संति ? येन तदपेक्षया चतुर्दशपूर्वविदां षट्स्थानपतितत्वमुद्धो-ष्यते, बाढं विद्यन्ते, यतोऽभिहितम् "पण्णवणिज्जाभावा अणंतभागोउ अणभिलप्पाणं । पण्णवणिज्जाणं पुण अणंतभागो सुयनिबद्धो" १ यतश्चैवं ततस्तेऽर्था आगमे बहुविधं प्रयुक्ताः सूत्रैरुपात्ताः केचन साक्षात्, केचिदर्थापत्त्या समुपलभ्यंते । यदिवा क्वचिद्देशग्रहणं क्वचि-त्सर्वार्थोपादानमित्यादि यैश्च पदैस्तेऽर्थाः प्रतिपाद्यन्ते तानि पदानि

सभी चौदह पूर्वधारी सूत्राक्षरोंके ज्ञानमें समान होते हैं परंतु उनके अर्थज्ञानमें भेद होता है । उनका अर्थज्ञान श्रुतज्ञानके अभ्यंतर ही जानना चाहिए बाहर नहीं । जो अर्थ सूत्रोंमें साक्षात् गृहीत है उनके विषयमें सभी पूर्वधारी समान हैं परंतु जिन अर्थोंकी सूचना की गई है उनके विषयमें कोई अनंत भाग अधिक अर्थ जानते हैं कोई असंख्येय भाग अधिक जानते हैं, कोई संख्येय भाग अधिक जानते हैं तथा कोई संख्येय असंख्येय और अनंत भाग अधिक जानते हैं । सूचना किये हुए वे सभी अर्थ भी युक्ति संगत तथा सूत्रद्वारा गृहीत ही हैं यह जानना चाहिए। अतएव कहा है कि वे अर्थज्ञान श्रुतज्ञानके अन्दर ही हैं बाहर नहीं हैं ।

(शंका) क्या सूत्रोंमें ग्रहण किए हुए अर्थोंसे भिन्न भी कोई अर्थ हैं जिनकी अपेक्षासे चौदह पूर्वधारियोंके छः भेद होनेकी घोषणा करते हो ? (समाधान) हाँ, अवश्य हैं अतएव कहा है कि "पण्णवणिज्जा" इत्यादि । अर्थात् कथन करने योग्य अर्थ, नहीं कथन करने योग्य पदार्थोंकी अपेक्षासे अनंत भाग न्यून हैं और कथन करने योग्य पदार्थोंकी अपेक्षासे अनंत भाग न्यून अर्थ सूत्रोंमें कहे हुए हैं । बात ऐसी ही है इसीलिए आगममें बहुत प्रकारसे उन अर्थोंका ग्रहण है । कोई अर्थ सूत्रोंमें साक्षात् गृहीत हैं और कोई अर्थापत्तिन्यायसे * जाने जाते हैं । अथवा सूत्रोंमें कहीं अर्थके एक देशका ग्रहण है और कहीं समस्त अर्थोंका ग्रहण है । जिन पदोंके द्वारा उन अर्थोंका प्रतिपादन किया गया है वे पद अत्यंत सिद्ध हैं

---

* जिसके बिना जिसकी सिद्धि नहीं होती है उससे उसका आक्षेप करना अर्थापत्ति है ।

प्रकर्षेण सिद्धानि प्रसिद्धानि न साधनीयानि, तथाऽनादीनि च तानि नेदानी मुत्पाद्यानि, तथाचेयं द्वादशाङ्गी शब्दार्थरचनाद्वारेण विदेहेषु नित्या भरतैरावतेष्वपि शब्दरचनाद्वारेणैव प्रतितीर्थकरं क्रियते, अन्यथा तु नित्यैव । एतेन च "उच्चरितप्रध्वंसिनो वर्णा" इत्येतन्निराकृतं वेदितव्यमिति ॥२१॥

साम्प्रतं सूत्रकृतस्य श्रुतस्कन्धाध्ययनादिनिरूपणार्थमाह—

दो चेव सुयक्खन्धा अज्झयणाइं च हुतिं तेवीसं ।
तेत्तिसुद्देसणकाला, आयाराओ दुगुणमङ्गं ॥२२॥

द्वावत्र श्रुतस्कन्धौ, त्रयोविंशतिरध्ययनानि, त्रयस्त्रिंशदुद्देशनकालाः, ते चैवं भवंति—प्रथमाध्ययने चत्वारो द्वितीये त्रय स्तृतीये चत्वार एवं चतुर्थपञ्चमयों द्वौ द्वौ, तथैकादशस्वेकसरकेष्वेकादशैवेति प्रथमश्रुतस्कन्धे । तथा द्वितीयश्रुतस्कन्धे सप्ताध्ययनानि तेषां सप्तैवोद्देशनकालाः । एवमेते सर्वेऽपि त्रयस्त्रिंशदिति । एतच्चाचाराङ्गाद् द्विगुणमङ्गं षट्त्रिंशत्पदसहस्रपरिमाणमित्यर्थः ॥२२॥

साध्य नहीं हैं तथा वे अनादि हैं इस समय उत्पन्न करने योग्य नहीं हैं । अतएव यह द्वादशाङ्गी शब्द और अर्थरचना द्वारा विदेहक्षेत्रमें नित्य है । तथा भरत और ऐरावतमें भी शब्दरचना द्वारा ही यह, प्रति तीर्थंकरके समय की जाती है नहीं तो और तरहसे यह नित्य ही है । इस कथनसे "उच्चारण करनेके पश्चात् ही वर्ण नष्ट हो जाते हैं इसलिए यह द्वादशाङ्गी अनित्य है" यह मत खण्डित समझना चाहिए ॥ २१ ॥

अब निर्युक्तिकार, सूत्रकृताङ्गसूत्रके श्रुतस्कन्ध और अध्ययन आदिको बतानेके लिए कहते हैं—

इस सूत्रकृताङ्ग सूत्रमें दो श्रुतस्कन्ध तेईस अध्ययन तथा तैंतीस उद्देशनकाल हैं । वे इस प्रकार हैं—प्रथम अध्ययनमें चार उद्देश दूसरे अध्ययनमें तीन उद्देश और तीसरे अध्ययनमें चार उद्देश हैं । इसी तरह चतुर्थ और पञ्चम अध्ययनमें दो दो उद्देश हैं । शेष एगारह अध्ययनोंमें एक एक ही उद्देश हैं । यह प्रथम श्रुतस्कन्धके अध्ययन और उद्देशोंका प्रमाण है । दूसरे श्रुतस्कन्धमें सात अध्ययन और सात ही उद्देश हैं । इस प्रकार दोनों श्रुतस्कन्ध मिलकर तेईस अध्ययन हैं । यह सूत्र आचाराङ्ग सूत्रसे द्विगुण है । इसके पद छत्तीस हजार हैं ॥२२॥

साम्प्रतं सूत्रकृताङ्गनिक्षेपानन्तरं प्रथमश्रुतस्कन्धस्य नामनिष्पन्ननिक्षेपाभिधित्सयाऽऽह—

निक्खेवो गाहाए चउव्विहो छव्विहो य सोलससु।
निक्खेवो य सुयंमि य खंधे य चउव्विहो होइ ॥२३॥

इहाद्यश्रुतस्कन्धस्य गाथाषोडशक इति नाम, गाथाख्यं षोडशमध्ययनं यस्मिन् श्रुतस्कन्धे स तथेति। तत्र गाथायाः नामस्थापनाद्रव्यभावरूपश्चतुर्विधो निक्षेपः, नामस्थापने प्रसिद्धे। द्रव्यगाथा द्विधा—आगमतो नो आगमतश्च। तत्र आगमतो ज्ञाता तत्रचानुपयुक्तः 'अनुपयोगो द्रव्यमितिकृत्वा' नो आगमतस्तु त्रिधा—ज्ञशरीरद्रव्यगाथा, भव्यशरीरद्रव्यगाथा, ताभ्यां विनिर्मुक्ताच 'सत्तट्ठतरू विसमेण सेहया ताण छट्ठ णह जलया। गाहाए पच्छद्धे भेओ छट्ठोत्ति इक्कलो" १—इत्यादिलक्षणलक्षिता पत्रपुस्तकादिन्यस्तेति। भावगाथाऽपि द्विविधा—आगमनोआगमभेदात्। तत्रागमतोगाथापदार्थज्ञस्तत्रचोपयुक्तः, नोआगमतस्त्विदमेव गाथाख्य-

---

सूत्रकृताङ्ग सूत्रका निक्षेप बतानेके पश्चात् अब प्रथम श्रुतस्कन्धका नामनिक्षेप बतानेके लिए निर्युक्तिकार कहते हैं—

सूत्रकृताङ्ग सूत्रके प्रथमश्रुतस्कन्धका नाम 'गाथाषोडशक' है। जिसमें गाथानामक सोलह अध्ययन हैं उसे 'गाथाषोडशक' कहते हैं। नाम स्थापना, द्रव्य और भाव भेदसे गाथाका निक्षेप चार प्रकारका होता है। इनमें नाम और स्थापना प्रसिद्ध हैं। द्रव्य गाथा दो प्रकारकी होती है—आगमसे और नोआगमसे। जो पुरुष, गाथा जानता हुआ भी उसमें उपयोग नहीं रखता है वह आगमसे द्रव्यगाथा है क्योंकि उपयोग न रखना ही द्रव्य है। नो आगमसे द्रव्यगाथा तीन प्रकारकी होती है (१) ज्ञशरीरद्रव्यगाथा (२) भव्यशरीर द्रव्यगाथा (३) और इन दोनोंसे भिन्न द्रव्य गाथा। (सत्तट्ठतरू) जिस छन्दमें चार मात्रावाले सात गण हों, आठवाँ गुरु हो और विषममें जगण न हों, छट्ठा चतुर्लघु न हो अथवा जगण हो वह गाथा छन्द है। परन्तु यह गाथाके पूर्वार्धका वर्णन है उत्तरार्धमें छट्ठा एक लघु होना चाहिए शेष पूर्वार्धवत् जानना चाहिए। इस लक्षणसे युक्त जो छन्द, पन्ने और पुस्तकों पर लिखा हुआ है वह गाथा छन्द है। भावगाथा भी आगम और नोआगम भेदसे दो प्रकारकी होती है। गाथाको जाननेवाला जो पुरुष, उस गाथामें उपयोग रखता है वह आगमसे भावगाथा है। नो आगमसे, यह गाथा नामक

मध्ययनम् आगमैकदेशत्वादस्य । षोडशकस्याऽपि नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावभेदात् षोढा निक्षेपः, तत्र नामस्थापने क्षुण्णे, द्रव्यषोडशकं ज्ञशरीरभव्यशरीरविनिर्मुक्तं सचित्तादीनि षोड़शद्रव्याणि । क्षेत्रषोड़शकं षोडशाकाशप्रदेशाः । कालषोडशकं षोडशसमयाः एतत्कालावस्थायि वा द्रव्यमिति । भावषोडशकमिदमेवाध्ययनषोडशकं क्षायोपशमिकभाववृत्तित्वादिति । श्रुतस्कन्धयोः प्रत्येकं चतुर्विधो निक्षेपः सचान्यत्र न्यक्षेण प्रतिपदित इति नेह प्रतन्यते ॥२३॥

साम्प्रतमध्ययनानां प्रत्येकमर्थाधिकारं दिदर्शयिषयाऽऽह—

ससमयपरसमयपरूवणा य णाऊण बुज्झणा चेव ।
संबुद्धस्सुवसग्गा, थीदोसविवज्जणा चेव ॥२४॥
उवसग्गभीरुणो थीवसस्स णरएसु होज्ज उववाओ ।
एव महप्पा वीरो जयमाह तहा जएज्जाह ॥२५॥
परिचत्तनिसीलकुसीलसुसीलसविग्गसीलवं चेव ।
णाऊण वीरियदुगं पंडियवीरिए पयट्टेइ (पयहिज्जा) ॥२६॥
धम्मो समाहिमग्गो समोसढा चउसु सव्ववादीसु ।
सीसगुणदोसकहणा, गंथंमि सदा गुरुनिवासो ॥२७॥
आदाणियसंकलिया आदाणीयंमि आदयचरित्तं ।
अप्पगंथे पिंडियवयणेणं होइ अहिगारो ॥२८॥

तत्र प्रथमाध्ययने स्वसमयपरसमयप्ररूपणा, द्वितीये स्वसमयगुणान्

अध्ययन ही भावगाथा है क्योंकि यह आगमका एक भाग है। षोडशकका भी नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव भेदसे छः निक्षेप होते हैं। इनमें नाम और स्थापना सुगम हैं अतः उन्हें छोड़कर द्रव्यषोडशक बताया जाता है। ज्ञ शरीर और भव्यशरीरसे भिन्न सचित्त आदि सोलह द्रव्य, 'द्रव्यषोडशक' हैं। सोलह आकाशप्रदेश, क्षेत्रषोडशक हैं। सोलह समय अथवा सोलह समयतक रहनेवाला द्रव्य, कालषोडशक है। भावषोडशक, यह अध्ययन ही है क्योंकि यह क्षायोपशमिकभावमें वर्तमान है। श्रुत और स्कन्धका निक्षेप भी प्रत्येक चार प्रकारका है वह दूसरे स्थलमें विस्तारके साथ कहा गया है इसलिए वह यहाँ नहीं कहा गया ॥२३॥

अब निर्युक्तिकार, सूत्रकृताङ्गसूत्रके प्रत्येक अध्ययनोंमें वर्णित अर्थोंको प्रदर्शित करनेके लिए कहते हैं—सूत्रकृताङ्गसूत्रके प्रथम अध्ययनमें स्वसिद्धान्त तथा

परसमयदोषांश्च ज्ञात्वा स्वसमय एव बोधो विधेय इति। तृतीयाध्ययने तु संवुद्धः सन् यथोपसर्गसहिष्णुर्भवति तदभिधीयते। चतुर्थे स्त्रीदोषविवर्जना, पञ्चमे त्वयमर्थाधिकारः, तद्यथा—उपसर्गसहिष्णोः, स्त्रीवशवर्त्तिनोऽवश्यं नरकेषूपपात इति। षष्ठे पुनः 'एव मिति' अनुकूलप्रतिकूलोपसर्गसहनेन स्त्रीदोषवर्जनेन च भगवान् महावीरो जेतव्यस्य कर्मणः संसारस्य वा पराभवेन जयमाह ततस्तथैव यत्नं विधत्त यूयमिति शिष्याणामुपदेशो दीयते। सप्तमेत्विदमभिहितं, तद्यथा निःशीलाः गृहस्थाः कुशीलास्त्वन्यतीर्थिकाः पार्श्वस्थादयो वा ते परित्यक्ताः येन साधुना स परित्यक्तनिःशीलकुशील इति, तथा सुशीला उद्युक्तविहारिणः, संविग्नाः—संवेगमग्नास्तत्सेवाशीलः शीलवान् भवतीति। अष्टमेत्वेतत्प्रतिपाद्यते, तद्यथा—ज्ञात्वा वीर्य्यद्वयं पंडितवीर्य्ये प्रयत्नो विधीयत इति। नवमेत्वर्थाधिकारस्त्वयं, तद्यथा—यथाऽवस्थितो धर्मः कथ्यते, दशमे तु समाधिः प्रतिपाद्यते, एकादशे तु सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मको मोक्षमार्गः

परसिद्धान्तका कथन है। द्वितीय अध्ययनमें स्वसिद्धान्तके गुण और परसिद्धान्तके दोषोंको जानकर मनुष्यको स्वसिद्धान्तका ही बोध प्राप्त करना चाहिये यह कहा है। तृतीयाध्ययनमें सम्यक् बोधको प्राप्त पुरुष जिस प्रकार उपसर्गोंको सहन करता है वह कहा है। चतुर्थ अध्ययनमें स्त्रीसम्बन्धी दोषोंको वर्जित करनेका उपदेश है। पञ्चम अध्ययनमें कहा है कि जो पुरुष, उपसर्गोंका सहन नहीं करता है, और स्त्रीवशीभूत होता है, उसका अवश्य नरकवास होता है। छट्ठे अध्ययनमें शिष्योंको उपदेश देते हुए यह कहा है कि अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्गोंके सहन करनेसे, तथा स्त्रीसम्बन्धी दोषोंके वर्जित करनेसे भगवान् महावीर स्वामीने विजय करने योग्य कर्मोंके अथवा संसारके पराभवसे विजय प्राप्त होना बताया है, इसलिए आपलोग वैसाही प्रयत्न करें। सप्तम अध्ययनमें यह कहा है कि शीलवर्जित-गृहस्थ और कुशील अन्यतीर्थी अथवा पार्श्वस्थ आदिको जिस साधुने छोड़ दिया है वह साधु "परित्यक्तनिःशीलकुशील" कहलाता है। तथा सुशील यानी शास्त्रानुसार संयम पालनेवाले संवेगमग्न पुरुषकी जो सेवा करता है वही पुरुष शीलवान् होता है। अष्टम अध्ययनमें कहा है कि बालवीर्य्य और पण्डितवीर्य्य इन दोनों वीर्य्योंको जानकर पण्डितवीर्य्यमें प्रयत्न करना चाहिये। नवम अध्ययनमें धर्मका यथावस्थित स्वरूप कहा है। दशम अध्ययनमें समाधिका कथन है। एकादश अध्ययनमें सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्रस्वरूप

कथ्यते, द्वादशे त्वयमर्थाधिकारः तद्यथा—'समवसृता' अवतीर्णाः व्यवस्थिता श्चतुर्षु मतेषु क्रियाऽक्रियाऽज्ञानवैनयिकाख्येष्वभिप्रायेषु त्रिषष्ट्युत्तरशतत्रयसंख्याः पाषण्डिनः स्वीयं स्वीयमर्थं प्रसाधयन्तः समुत्थितास्तदुपन्यस्तसाधनदोषोद्भावनतो निराक्रियंते । त्रयोदशेत्विदमभिहितं, तद्यथा—सर्ववादिषु कपिलकणादाक्षपादशौद्धोदनिजैमिनिप्रभृतिमतानुसारिषु कुमार्गप्रणेतृत्वं साध्यते । चतुर्दशे तु ग्रन्थाख्येऽध्ययनेऽयमर्थाधिकारः तद्यथा—शिष्याणां गुणदोषकथना तथा शिष्यगुणसंपदुपेतेन च विनेयेन नित्यं गुरुकुलवासो विधेय इति । पञ्चदशेत्वादानीयाख्येऽध्ययनेऽर्थाधिकारोऽयं, तद्यथा—आदीयन्ते-गृह्यन्त उपादीयन्त इत्यादानीयानि-पदान्यर्था वा ते च प्रागुपन्यस्तपदैरर्थैश्च प्रायशोऽत्रसङ्कलिताः, तथा आयतं चरित्रं सम्यक्चरित्रं मोक्षमार्गप्रसाधकं तच्चात्र वर्ण्यत इति । षोडशे तु गाथाख्येऽल्पग्रंथेऽध्ययनेऽयमर्थो व्यावर्ण्यते तद्यथा पञ्चदशभिरध्ययनैर्योऽर्थोऽभिहितः सोऽत्र पिण्डितवचनेन संक्षिप्ताभिधानेन प्रतिपाद्यत इति ॥२८॥

गाहासोलसगाणं पिंडत्थो वण्णिओ समासेणं ।
इत्तो इक्किक्कं पुण अज्झयणं कित्तयिस्सामि ॥१॥

मोक्षमार्गका वर्णन है । द्वादश अध्ययनका अर्थाधिकार यह है—क्रियावाद अक्रियावाद, अज्ञानवाद और विनयवाद इन चार मतोंको माननेवाले तीन सौ तीरेसठ प्रकारके पापण्डी, अपने अपने मतोंको साधन करते हुए उपस्थित होते हैं, उन पाषण्डियोंके द्वारा अपने पक्षका समर्थनके लिए दिये हुए साधनोंमें दोष दिखाकर उनका निराकरण किया गया है । तेरहवें अध्ययनमें, कपिल, कणाद, अक्षपाद, बुद्ध और जैमिनि आदि सब मतवादियोंको कुमार्गका प्रवर्तक सिद्ध किया है । ग्रंथ नामक चौहदवें अध्ययनमें, शिष्यसम्बन्धी गुण और दोषोंको बताकर कहा है कि शिष्यसम्बन्धी गुणोंसे सम्पन्न पुरुषको सदा गुरुकुलमें निवास करना चाहिए । आदानीय नामक पन्द्रहवें अध्ययनका अर्थाधिकार यह है—जो शब्द अथवा अर्थ, ग्रहण किये जाते हैं उनको 'आदानीय' कहते हैं । वे आदानीय पद अथवा अर्थ पूर्ववर्णितपदों और अर्थोंके साथ प्रायः इस अध्ययनमें मिलाये गए हैं तथा मोक्षमार्गके साधक आयतचारित्र यानी सम्यक्चारित्रको यहाँ बताया है । गाथा नामक सोलहवें अध्ययनमें पाठ बहुत कम है उसमें यह अर्थ वर्णित हुआ है, जैसे कि—पन्द्रह अध्ययनोंके द्वारा जो अर्थ कहा गया है वह यहाँ संक्षेपसे वर्णन किया गया है ॥ २८ ॥

तत्राद्यमध्ययनं समयाख्यं तस्य चोपक्रमादीनि चत्वार्य्यनुयोगद्वाराणि भवंति तत्रोपक्रमण मुपक्रम्यते वाऽनेन शास्त्रं न्यासदेशं निक्षेपावसरमानीयत इत्युपक्रमः। स च लौकिको नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावभेदेन षड्रूप आवश्यकादिष्वेव प्रपञ्चितः। शास्त्रीयोऽप्यानुपूर्वीनामप्रमाणवक्तव्यताऽर्थाधिकारसमवताररूपः षोढैव। तत्रानुपूर्व्यादीन्यनुयोगद्वारानुसारेण ज्ञेयानि तावद्यावत्समवतारः। तत्रेदमध्ययनमानुपूर्व्यादिषु यत्र यत्र समवतरति तत्र तत्र समवतारयितव्यम्। तत्र दशविधायामानुपूर्व्यां गणनानुपूर्व्यां समवतरति। साऽपि त्रिधा-पूर्वानुपूर्वी, पश्चानुपूर्वी, अनानुपूर्वी चेति। तत्रेदमध्ययनं पूर्वानुपूर्व्यां प्रथमं पश्चानुपूर्व्यां षोडशम्, अनानुपूर्व्यांतु चिन्त्यमानमस्यामेवैकादिकायामेकोत्तरिकायां षोडशगच्छगतायां श्रेण्यामन्योऽन्याभ्यासद्विरूपोनसंख्याभेदं भवति। अनानुपूर्व्यान्तु भेदसंख्यापरिज्ञानोपायोऽयं,

---

गाथा नामक सोलह अध्ययनोंका समुदायार्थ, संक्षेपसे कहा गया, अब यहाँसे एक एक अध्ययनोंका वर्णन करूँगा। प्रथम अध्ययनका नाम समयाध्ययन है। इसके उपक्रम आदि चार अनुयोगद्वार होते हैं। जिसके द्वारा शास्त्र, निक्षेपके अवसरको प्राप्त होता है, उसे 'उपक्रम' कहते हैं। वह निक्षेप लौकिक और शास्त्रीय भेदसे दो प्रकारका होता है! उसमें लौकिक निक्षेप, नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव भेदसे छः प्रकारका होता है। इसका विस्तृत विवेचन आवश्यक आदि सूत्रोंमें ही कर दिया गया है। शास्त्रीय निक्षेप भी आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता अर्थाधिकार और समवतार भेदसे छः प्रकारका ही है। आनुपूर्वीसे लेकर समवतार पर्य्यन्त निक्षेपोंको अनुयोगद्वार सूत्रके अनुसार जानना चाहिए। यह अध्ययन, आनुपूर्वी आदि निक्षेपोंमें जहाँ जहाँ उतर सके, वहाँ वहाँ उतारना चाहिए। आनुपूर्वी दश प्रकारकी होती है उसमें यह अध्ययन गणनानुपूर्वीमें उतरता है। गणनानुपूर्वी तीन प्रकारकी होती है। पूर्वानुपूर्वी, पश्चानुपूर्वी और अनानुपूर्वी। इनमें यह अध्ययन पूर्वानुपूर्वीके हिसाबसे सोलहवाँ है। अनानुपूर्वीका विचार करनेपर यहाँ एकसे लेकर सोलह तक अंकोंकी सोलह श्रेणी होगी। उस सोलह श्रेणीमें अंकोंको परस्पर गुणन करनेपर जो फल होगा उसमें एक संख्या पूर्वानुपूर्वीकी और एक पश्चानुपूर्वीकी होगी शेष संख्याएँ अनानुपूर्वीकी होंगी। अनानुपूर्वीमें संख्याभेद जाननेका उपाय यह है—

तद्यथा— एकाद्याः गच्छपर्य्यन्ताः परस्परसमाहताः ।
राशयस्तद्धि विज्ञेयं विकल्पगणिते फलम् ॥

प्रस्तारानयनोपायस्त्वयम्—

पुव्वाणुपुव्वि हेट्ठा समयाभेएण कुण जहाजेट्ठं ।
उवरिमतुल्लं पुरओ नसेज्ज पुव्वकमो सेसे ॥ १ ॥

तत्र— "गणितेऽन्त्यविभक्ते तु, लब्धं शेषैर्विभाजयेत् ।
आदावन्ते च तत् स्थाप्यं विकल्पगणिते क्रमात् ॥२॥

अयं श्लोकः शिष्यहितार्थं विव्रियते—तत्र सुखावगमार्थं षट् पदानि समाश्रित्य तावत् श्लोकार्थो योज्यते, तत्रैवं १, २, ३, ४, ५, ६ षट् पदानि स्थाप्यानि, एतेषां परस्परताडनेन सप्तशतानि विंशत्युत्तराणि गणित मुच्यते, तस्मिन् गणितेऽन्त्योऽत्रषट्क स्तेन भागे हृते विंशत्युत्तरं शतं लभ्यते, तच्च षण्णां पक्तीनां मन्त्यपंक्तौ षट्कानां न्यस्यते, तदधः पञ्चकानां विंशत्युत्तरमेव शतम्, एवमधोऽधश्चतुष्कत्रिकद्विकैककानां प्रत्येकं

(एकाद्याः)—अर्थात् जितनी संख्याका गच्छ हो, उसमें प्रथम संख्यासे लेकर अन्तिम संख्या तकके अंकोंको परस्पर गुणन करनेपर जो अंक राशि फल आवे वही विकल्प गणितका फल है । प्रस्तार लानेका उपाय यह है (पूव्वाणुपूव्वि) बड़ी संख्याके अनुसार छोटी संख्याओंको पूर्वक्रमसे समताभेदसे रखना चाहिए। और ऊपरके समान उसके सामने भी रखना चाहिए, शेषमें पहिला ही क्रम है। (गणिते) परस्पर गुणन की हुई संख्याओंका जो फल आवे उसमें अन्तिम संख्यासे भाग लेनेपर जो लब्धि आती है उसमें शेष संख्याओंसे भाग लेना चाहिए और उसे आदि तथा अन्तमें क्रमशः रखना चाहिए यह विकल्प गणितकी रीति है। इस श्लोककी शिष्यहितके लिए व्याख्या की जाती है। शिष्यको सुखपूर्वक ज्ञान होनेके लिए छः संख्याओंको लेकर पहले इस श्लोकके अर्थकी योजना की जाती है। पहले १, २, ३, ४, ५, ६, ये छः अंक स्थापित करने चाहिए। इन संख्याओं-को परस्पर गुणन करने पर ७२० गणितफल होता है। इस गणितमें अन्तिम संख्या ६ है। ७२० में ६ का भाग लेनेपर १२० लब्धि आती है। उस १२० को छः पंक्तिओंके अन्तिम पंक्तिमें षट्कोंका स्थापन करना चाहिए। उसके नीचे पञ्चकोंका भी १२० ही स्थापना करना चाहिये। इसी तरह नीचे नीचे चतुष्क, त्रिक, द्विक और एक इन प्रत्येकके नीचे १२० स्थापन करना चाहिए। इस प्रकार

विंशत्युत्तरं शतं न्यस्यम्, एवमन्त्यपंक्तौ सप्तशतानि विंशत्युत्तराणि भवन्ति एषा च गणितप्रक्रियाया आदि रुच्यते। तथा यत्तद्विंशत्युत्तरं शतं लब्धं तस्य च पुनः शेषेण पञ्चकेन भागेऽपहृते लब्धा चतुर्विंशतिः, तावन्तस्तावन्तश्च पञ्चकचतुष्कत्रिकद्विकैकका: प्रत्येकं पञ्चमपङ्क्तौ न्यस्याः यावद्विंशत्युत्तरं शतमिति। तदधोऽग्रतोन्यस्तमङ्कं मुक्त्वा येऽन्ये तेषां यो यो महत्संख्यः स सोऽधस्ताच्चतुर्विंशतिसंख्य एव तावत् न्यस्यो यावत्सप्तशतानि विंशत्युत्तराणि पञ्चमपंक्तावपि पूर्णानि भवन्ति, एषा च गणितप्रक्रिययैवान्त्योऽभिधीयते। एवमनया प्रक्रियया चतुर्विंशतेः शेष चतुष्ककेन भागे हृते षट् लभ्यन्ते तावन्तश्चतुर्थपंक्तौ चतुष्कका: स्थाप्याः तदधः षट् त्रिकाः पुनर्द्विकाः भूय एकका:, पुनः पूर्वन्यायेन पङ्क्तिः पूरणीया, पुनः षट्कस्य शेषत्रिकेण भागे हृते द्वौ लभ्येते। तावन्मात्रौ त्रिकौ तृतीयपङ्क्तौ, शेषं पूर्ववत्। शेषपंक्तिद्वये शेषमङ्कद्वयं क्रमोत्क्रमाभ्यां व्यवस्थाप्यमिति। १२३४, २१३४, १३२४, ३१२४, २३१४, ३२१४, १२४३, २१४३, १४२३, ४१२३, २४१३, ४२१३, १३४२, ३१४२, १४३२, ४१३२, ३४१२, ४३१२, २३४१ ३२४१, २४३१, ४२३१, ३४२१, ४३२१। तथा नाम्नि षड्विधनाम्न्य वतरति, यतस्तत्र षड्-

अन्तिम पंक्तिमें ७२० संख्या होती है। इसे गणित प्रक्रियाका आदि कहते हैं। ७२० में ६ का भाग देनेपर जो १२० लब्धि आई है उसमें शेष पाँचका भाग लगानेपर २४ लब्धि आती है इसलिए उतना ही पंचक, चतुष्क, त्रिक द्विक और एक पञ्चम पंक्तिमें प्रत्येक स्थापन करने चाहिए जब तक १२० संख्या हो। उसके नीचे, पहले रखे हुए अंकको छोड़ कर जो दूसरे अंक हैं उनमें जो जो महान् संख्यावाला है उस महान् संख्यावालोंको नीचे २४ संख्यामें उतना रखना चाहिए जिससे पञ्चम पंक्तिमें भी ७२० संख्या पूर्ण हो जाय। इस विधिको गणितकी प्रक्रियासे ही अन्त्य कहते हैं। इसी तरह २४ में शेष चारका भाग लगानेपर छः लब्धि आती है इसलिए चतुर्थ पंक्तिमें ६ चतुष्क स्थापन करना चाहिए। उसके नीचे ६ त्रिक, फिर ६ द्विक और ६ एक स्थापन करके पूर्वोक्त रीतिसे पङ्क्तिको पूर्ण करना चाहिए। इसके पश्चात् ६ में शेष त्रिकका भाग लगानेपर दो लब्धि आती है इसलिए तृतीय पंक्तिमें २ त्रिक लिखकर शेष पूर्ववत् लिखना चाहिए। शेष दो पंक्तिओंमें शेष दो अंकोंको क्रम और उत्क्रमसे स्थापन करना चाहिए।

भावाः प्ररूप्यन्ते, श्रुतस्य च क्षायोपशमिकभाववर्तित्वात् । प्रमाणमधुना प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणं, तत् द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदाच्चतुर्धा । तत्रास्याध्ययनस्य क्षायोपशमिकभावव्यवस्थितत्वाद्भावप्रमाणेऽवतारः । भावप्रमाणं च गुणनयसंख्याभेदात्रिधा, तत्राऽपि गुणप्रमाणे समवतारः, तदपि जीवाजीवभेदाद् द्विधा । समयाध्ययनस्य च क्षायोपशमिकभावरूपत्वात् । तस्य च जीवानन्यत्वाज्जीवगुणप्रमाणे समवतारः । जीवगुणप्रमाणमपि ज्ञानदर्शनचारित्रभेदात् त्रिविधं तत्रास्य बोधरूपत्वात् ज्ञानगुणप्रमाणे समवतारः। तदपि प्रत्यक्षानुमानोपमानागमभेदाच्चतुर्धा तत्रास्यागमप्रमाणे समवतारः सोऽपि लौकिकलोकोत्तरभेदाद् द्विधा तदस्य लोकोत्तरे समवतारः। तस्य च सूत्रार्थतदुभयरूपत्वात्त्रैविध्यम् । अस्य त्रिरूपत्वात् त्रिष्वपि समवतारः, यदि वा आत्मानन्तरपरम्परभेदादागम-

---

नामोपक्रममें यह अध्ययन छः प्रकारके नामोंमें उतरता है क्योंकि नामोपक्रममें छः प्रकारके भावोंकी प्ररूपणाकी गई है और यह अध्ययन श्रुत होनेके कारण चायोपशमिक भावमें विद्यमान है ।

अब प्रमाण बताया जाता है । जिससे पदार्थका निश्चय किया जाता है उसे 'प्रमाण' कहते हैं । वह प्रमाण द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव भेदसे चार प्रकारका है। इनमें इस अध्ययनका चायोपशमिकभावमें विद्यमान होनेके कारण भाव प्रमाणमें अवतरण होता है । भाव प्रमाण भी गुण, नय, और संख्या भेदसे तीन प्रकारका होता है । इनमें भी इस अध्ययनका गुणप्रमाणमें अवतार समझना चाहिए । गुणप्रमाण भी जीव और अजीव भेदसे दो प्रकारका होता है। यह समयाध्ययन, चायोपशमिक भाव रूप है और चायोपशमिक भाव, जीवसे भिन्न नहीं है इसलिए इस अध्ययनका जीवगुण प्रमाणमें अवतार समझना चाहिए । जीवगुण प्रमाण भी ज्ञान दर्शन और चारित्र भेदसे तीन प्रकारका होता है। इनमें, यह अध्ययन ज्ञानरूप है इसलिए ज्ञानगुण प्रमाणमें इसका अवतार समझना चाहिए। ज्ञानगुण प्रमाण भी प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम भेदसे चार प्रकारका है । उनमें आगम प्रमाणमें इसका अवतार समझना चाहिए । आगम भी लौकिक और लोकोत्तर भेदसे दो प्रकारका होता है उनमें इस अध्ययनका लोकोत्तर आगममें समावेश समझना चाहिए। लोकोत्तर आगम भी सूत्र, अर्थ और उभयरूपसे तीन प्रकारका होता है। यह अध्ययन, त्रिरूप है इसलिए तीनोंमें इसका अवतार समझना चाहिए। अथवा आत्मागम, अनंतरागम और परंपरागम भेदसे

स्त्रिविधः तत्र तीर्थंकृतामर्थापेक्षयाऽऽत्मागमो, गणधराणामनन्तरागम स्तच्छिष्याणां परम्परागमः। सूत्रापेक्षया तु गणधराणामात्मागम स्तच्छिष्याणा मनंतरागम स्तदन्येषां परम्परागमः। गुणप्रमाणानन्तरं नयप्रमाणावसरः, तस्य चेदानीं पृथक्त्वानुयोगे नास्ति समवतारो, भवेद्वा पुरुषापेक्षया, तथाचोक्तं—"मूढनइयं सुयं कालियं तु ण णया समोयरंति इहं। अपुहुत्ते समोयारो, णत्थि पुहुत्ते समोयारो"॥ १॥ तथा—"आसज्जउ सोयारं नए नयविसारउ बूया" संख्याप्रमाणंत्वष्टधा—नामस्थापनाद्रव्य क्षेत्रकालपरिमाणपर्य्यवभावभेदात्। तत्रापि परिमाणसंख्यायां समवतारः। साऽपि कालिकदृष्टिवादभेदाद् द्विधा तत्रास्य कालिकपरिमाणसंख्यायां समवतारः। तत्राप्यङ्गानङ्गयोरङ्गप्रविष्टे समवतारः, पर्य्यवसंख्यायान्त्वनन्ताः पर्य्यवाः, तथा संख्येयान्यक्षराणि संख्येयाः संघाताः संख्येयानि पदानि संख्येयाः पादाः संख्येयाः श्लोकाः संख्येयान्यनुयोगद्वाराणि।

आगम तीन प्रकारका होता है। इनमें तीर्थंकरके लिए अर्थकी अपेक्षासे यह आगम आत्मागम है और गणधरोंके लिए अनंतरागम है और गणधरके शिष्योंके लिए परम्परागम है। सूत्रकी अपेक्षासे यह आगम, गणधरोंके लिए आत्मागम है और गणधरके शिष्योंके लिए अनन्तरागम है तथा दूसरे लोगोंके लिए परम्परागम है। गुणप्रमाण कहनेके पश्चात् अब नयप्रमाण कहनेका अवसर है। परंतु इस कालमें नयप्रमाणकी अलग अलग व्याख्या करनेका प्रसंग नहीं है अथवा पुरुषकी अपेक्षासे हो भी सकता है। जैसा कि कहा है—(मूढनइयं) अर्थात् कालिक सूत्र, इस कालमें नयशून्य माने जाते हैं अतः उनमें नयोंका समवतार नहीं होता है यदि हो तो सूत्रोंमें अभेद रूपसे ही होता है परंतु अलग-अलग नहीं होता। (आसज्जउ) तथा नयके जाननेमें निपुण पुरुष, श्रोताको पाकर नयोंका वर्णन करे। नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, परिमाण, पर्य्यव और भाव भेदसे संख्याप्रमाण आठ प्रकारका होता है। इनमें इस अध्ययनका परिमाणसंख्यामें अवतार समझना चाहिए। परिमाणसंख्या भी कालिक और दृष्टिवाद भेदसे दो प्रकारकी होती है। इनमें इस अध्ययनका कालिक परिमाणसंख्यामें समवतार समझना चाहिए। उसमें अङ्ग और अनङ्गके मध्यमें अङ्गप्रविष्टमें इसका समवतार समझना चाहिये। पर्य्यवसंख्यामें अनंत पर्य्यव हैं तथा संख्यात अक्षर हैं, संख्यात संघात हैं, संख्यात पद हैं, संख्यात श्लोक हैं, संख्यात गाथायें हैं, संख्यात वेढ (एक अर्थको बतानेवाली वाक्य योजनायें) हैं, एवं संख्यात अनुयोगद्वार हैं। अब वक्तव्यताका

साम्प्रतं वक्तव्यतायाः समवतारश्चिन्त्यते, साच स्वपरसमयतदुभयभेदा-त्रिधा। तत्रेदमध्ययनं त्रिविधायामपि समवतरति अर्थाधिकारो द्वेधा—अध्ययनार्थाधिकार उद्देशार्थाधिकारश्च। तत्राध्ययनार्थाधिकारोऽभिहितः उद्देशार्थाधिकारन्तु गाथान्तरितं निर्युक्तिकृद् वक्ष्यति साम्प्रतं निक्षेपावसरः स च त्रिधा—ओघनिष्पन्नो नामनिष्पन्नः सूत्रालापकनिष्पन्नश्च। तत्रौघनिष्पन्नेऽध्ययनं तस्य च निक्षेप आवश्यकादौ प्रबन्धेनाभिहित एव। नामनिष्पन्ने तु समय इति नाम तन्निक्षेपार्थं निर्युक्तिकार आह—

णामं ठवणा दविए, खेत्ते काले कुतित्थसंगारे।
कुलगणसंकरगंडी, बोद्धव्वो भावसमए य ॥२९॥

नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालकुतीर्थसंगारकुलगणसंकरगंडीभावभेदाद् द्वादशधा समयनिक्षेपः। तत्र नामस्थापने क्षुण्णे, द्रव्यसमयो द्रव्यस्य सम्यगयनं—परिणतिविशेपः स्वभाव इत्यर्थः। तद्यथा जीवद्रव्यस्योपयोगः पुद्गलद्रव्यस्य मूर्त्तत्वम्, धर्माधर्माकाशानां गतिस्थित्यवगाहदानलक्षणः अथवा यो यस्य द्रव्यस्यावसरो-द्रव्यस्योपयोगकालइति, तद्यथा "वर्षासु

समवतारके विषयमें विचार किया जाता है। स्वसमयवक्तव्यता, परसमयवक्तव्यता और उभयसमयवक्तव्यता भेदसे वक्तव्यता तीन प्रकारकी होती है। इनमें यह अध्ययन तीनों वक्तव्यताओंमें उतरता है। अध्ययनार्थाधिकार और उद्देशार्थाधिकार भेदसे अर्थाधिकार दो प्रकारका है। इनमें निर्युक्तिकारने अध्ययनार्थाधिकार कह दिया है और उद्देशार्थाधिकार भी गाथा द्वारा आगे चलकर बतावेंगे। अब निक्षेप का अवसर है। निक्षेप तीन प्रकारका होता है। ओघनिष्पन्न, नामनिष्पन्न और सूत्रालापकनिष्पन्न। ओघनिष्पन्नमें यह अध्ययन है। उसका निक्षेप आवश्यक आदि सूत्रोंमें प्रधानरूपसे कहा ही है। नामनिष्पन्न निक्षेपमें इस अध्ययनका 'समय' नाम है। उस समयका निक्षेप बतानेके लिए निर्युक्तिकार कहते हैं—

नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, कुतीर्थ, संगार, कुल, गण, संकर, गंडी और भाव भेदसे समयनिक्षेप बारह प्रकारका होता है। इनमें नाम और स्थापना सुगम हैं। द्रव्यके सम्यक् अयन अर्थात् परिणामविशेष यानी स्वभावको द्रव्यसमय कहते हैं। जैसे जीवद्रव्यका स्वभाव उपयोग है और पुद्गलद्रव्यका स्वभाव मूर्त्तत्व है। गति स्थिति और अवकाश देना क्रमशः धर्म-अधर्म और आकाशके स्वभाव हैं। अथवा जिस द्रव्यका जो काल, उपयोगके योग्य है वह उसका समय

लवण ममृतं शरदि जलं, गोपयश्च हेमन्ते। शिशिरे चामलकरसो घृतं वसन्ते गुडश्चान्ते ॥१॥ क्षेत्रसमयः क्षेत्रमाकाशं तस्य समयः स्वभावः यथा

"एगेणवि से पुण्णे दोहिवि पुण्णे सयंवि माएज्जा।
लक्खसएणवि पुण्णे, कोडिसहस्संपि माएज्जा" ॥२॥

यदिवा देवकुरुप्रभृतीनां क्षेत्राणामीदृशोऽनुभावो यदुत तत्र प्राणिनः सुरूपाः नित्यसुखिनो निर्वैराश्च भवन्तीति। क्षेत्रस्य वा परिकर्मणावसरः क्षेत्रसमय इति। कालसमयस्तु सुषमादेरनुभावविशेषः, उत्पलपत्रशतभेदाभिव्यङ्ग्यो वा कालविशेषः कालसमयइति। अत्र च द्रव्यक्षेत्रकालप्राधान्यविवक्षया द्रव्यक्षेत्रकालसमयता द्रष्टव्येति। कुतीर्थसमयः पाषण्डिकानामात्मीयात्मीय आगमविशेषः तदुक्तंवाऽनुष्ठानमिति। संगारः संकेतस्तद्रूपः समयः संगारसमयः। यथा सिद्धार्थसारथिदेवेन पूर्वकृतसंगारानुसारेण गृहीतहरिशवो वलदेवः प्रतिवोधित इति। कुलसमयः कुलाचारो यथा शकानां पितृशुद्धिः, आभीरकाणां मन्थनिकाशुद्धिः गणसमयो यथा

है। जैसे वर्षा ऋतुमें नमक, शरद् ऋतुमें जल, हेमंतमें गायका दूध, शिशिरमें आँवलेका रस वसन्तमें घृत और ग्रीष्ममें गुड़ अमृत हैं। अब क्षेत्रसमय वताया जाता है। क्षेत्र, आकाशका नाम है आकाशके स्वभावको क्षेत्रसमय कहते हैं। आकाश, एक परमाणुसे भी पूर्ण होता है, दो से भी पूर्ण होता है तथा सौ भी उसमें समा जाते हैं। वह सौ लाखसे भी पूर्ण होता है तथा हजारों कोटि भी उसमें समा जाते हैं। अथवा देवकुरु आदि क्षेत्रोंका यह स्वभाव है कि उनमें निवास करनेवाले प्राणी वड़े सुन्दर नित्यसुखी तथा निर्वैर होते हैं। अथवा धान्य आदि वोनेके लिए खेतको शुद्ध करनेका जो अवसर होता है उसे 'क्षेत्रसमय' कहते हैं। सुषम आदि आराके प्रभाव विशेषको कालसमय कहते हैं। अथवा कमलके सौ पत्तोंके वींधनेसे व्यक्त होनेवाले कालविशेषको कालसमय कहते हैं। यहाँ द्रव्य, क्षेत्र, और कालकी प्रधानताको लेकर द्रव्य क्षेत्र और कालका समय समझना चाहिए। पाषंडियोंका जो अपना-अपना आगम विशेष है वह कुतीर्थसमय कहलाता है। अथवा पाषंडियोंके आगममें कहे हुए अनुष्ठानको कुतीर्थसमय कहते हैं। संकेतको संगार कहते हैं। संगाररूप जो समय है उसे संगारसमय कहते हैं जैसे सिद्धार्थ सारथिदेवने पूर्वकृत संकेतके अनुसार हरि के शवको ग्रहण किए हुए वलदेवको प्रतिवोध दिया था। कुलके आचारको 'कुलसमय' कहते हैं। जैसे पितृशुद्धि शक जातिका और मंथनिकाशुद्धि अहीर जातिका कुलाचार है। गण यानी किसी संघके

मल्लानामयमाचारो—यथा योऽनाथोमल्लो म्रियते स तैः संस्क्रियते पतितश्चो-द्ध्रियत इति। संकरसमयस्तु संकरोभिन्नजातीयानांमीलकस्तत्रच समयः एकवाक्यता यथा वाममार्गादावनाचारप्रवृत्तावपि गुप्तिकरणमिति। गण्डी-समयो—यथा शाक्यानां भोजनावसरे गण्डीताडनमिति। भावसमयस्तु नो आगमत इदमेवाध्ययनम्, अनेनैवात्राधिकारः शेषाणान्तु शिष्यमतिविका-सार्थमुपन्यास इति ॥२६॥

साम्प्रतं प्रागुपन्यस्तोद्देशार्थाधिकाराभिधित्सयाऽऽह—

महपंचभूय एक्कप्पए य तज्जीवतच्छरीरे य।
तह य अगारगवाती, अत्तछट्ठो अफलवादी ॥३०॥
बीए नियईवाओ अण्णाणिय तह य नाणवाईओ।
कम्मं चयं न गच्छइ चउव्विहं भिक्खुसमयंमि ॥३१॥
तइए आहाकम्मं कडवाई जह य ते य वाईओ।
किच्चुवमा य चउत्थे परप्पवाई अविरएसु ॥३२॥

अस्याध्ययनस्य चत्वार उद्देशकाः। तत्राद्यस्यषडर्थाधिकारा आद्यगा-थयाऽभिहिताः, तद्यथा पञ्चभूतानि—पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशाख्यानि महान्ति च तानि सर्वलोकव्यापित्वाद्भूतानि च महाभूतानि, इत्येकोऽयम-

आचारको गणसमय कहते हैं। जैसे मल्ल लोगोंका यह आचार है कि जो अनाथ मल्ल मर जाता है उसका दाह संस्कार मल्ल लोग ही करते हैं और पतित मल्लका वे उद्धार करते हैं। अब संकरसमय बताया जाता है—भिन्न जातिवालोंके संमेलनको संकर कहते हैं उस संकरका जो एकवाक्यता अर्थात् एकमत होकर रहना है उसे संकरसमय कहते हैं जैसे वाममार्ग आदिमें अनाचार सेवन करते हुए भी उसे वे छिपाते हैं। तथा शाक्य लोग भोजनके समय गंडीका ताड़न करते हैं वह, गंडी समय कहा जाता है। भावसमय, नो आगमसे यही अध्ययन है। भाव समय का ही यहाँ प्रस्ताव है, शेष समय तो शिष्यके बुद्धि विकासार्थ यहाँ कहे गए हैं ॥२९॥

अब पहले कहे हुए उद्देशकोंका अर्थाधिकार बतानेके लिए निर्युक्तिकार कहते हैं। इस अध्ययनके चार उद्देशक हैं। उनमें प्रथम उद्देशकके छः अर्थाधिकार पहिली गाथाके द्वारा कहे गए हैं। जैसे कि पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश ये पाँच महाभूत हैं। ये, सर्वलोकव्यापी होनेके कारण महान् और भूत है इस-लिए ये महाभूत कहे जाते हैं। यह पहला अर्थाधिकार है। चेतन और अचेतन

र्थाधिकारः। तथा चेतनाचेतनं सर्वमेवात्मविवर्तइत्यात्माद्वैतवादः प्रतिपाद्यत इत्यर्थाधिकारोद्वितीयः। सचासौ जीवश्च तज्जीवः—कायाकारो भूतपरिणामः, तदेव च शरीरं जीवशरीरयोरैक्यमितियावदिति तृतीयोऽर्थाधिकारः। तथाऽकारको जीवः सर्वस्याः पुण्यपापक्रियाया इत्येवंवादीति चतुर्थोऽधिकारः। तथाऽत्मा षष्ठ इति पञ्चानां भूतानामात्मा षष्ठः प्रतिपाद्यत इत्ययं पञ्चमोऽर्थाधिकारः तथाऽफलवादीति न विद्यते कस्याश्चित् क्रियायाः फलमित्येवंवादी च प्रतिपाद्यत इति षष्ठोऽर्थाधिकार इति। द्वितीयोद्देशके चत्वारोऽर्थाधिकाराः, तद्यथा नियतिवादस्तथाऽज्ञानिकमतं ज्ञानवादी च प्रतिपाद्यते, कर्म चयम्-उपचयं चतुर्विधमपि न गच्छति भिक्षुसमये शाक्यागम इति चतुर्थोऽर्थाधिकारः। चातुर्विध्यन्तु कर्मणोऽविज्ञोपचितम् अविज्ञानमविज्ञा तयोपचितम् अनाभोगकृतमित्यर्थः यथा मातुः स्तनाद्याक्रमणेन पुत्रव्यापत्तावप्यनाभोगान्न कर्मोपचीयते, तथा परिज्ञानं परिज्ञा केवलेन मनसा पर्य्यालोचनं, तेनाऽपि कस्यचित्प्राणिनो व्यापाद-

---

जगत्के सभी पदार्थ आत्माके परिणाम हैं इस प्रकार आत्माद्वैतवाद प्रतिपादन किया गया है अतः यह दूसरा अर्थाधिकार है। वही जीव है और वही शरीर है अर्थात् शरीरके आकारमें भूतोंका परिणाम ही जीव है और वही शरीर है, तात्पर्य्य यह है कि जीव और शरीर एक हैं, यह तीसरा अर्थाधिकार है। तथा पाप और पुण्य सभी क्रियाओंको जीव नहीं करता है ऐसा कहनेवाला पुरुष, चौथा अर्थाधिकार है। पाँच महाभूत हैं और उनमें छट्ठा आत्मा है यह पाँचवाँ अर्थाधिकार है। किसी भी क्रियाका फल नहीं होता है ऐसा कहने वालेका मत भी यहाँ कहा गया है वह छट्ठा अर्थाधिकार है। दूसरे उद्देशकमें चार अर्थाधिकार हैं—जैसे कि नियतिवाद, अज्ञानिकमत और ज्ञानवादीका कथन है तथा शाक्योंके आगममें चार प्रकारका कर्म उपचयको प्राप्त नहीं होता है यह चौथा अर्थाधिकार है। वे चार प्रकारके कर्म ये हैं—

(१) अविज्ञोपचित। अज्ञानको अविज्ञा कहते हैं उससे किया हुआ कर्म अविज्ञोपचित कहलाता है। जो कर्म भूलसे हो गया है उसे 'अविज्ञोपचित' कहते हैं। जैसे माताके स्तन आदिसे दबकर पुत्रकी मृत्यु होने पर भी अज्ञानके कारण माता को कर्मका उपचय नहीं होता है इसी तरह भूलसे जीव हिंसा आदि होने पर भी कर्मका उपचय नहीं होता है। दूसरा (२) परिज्ञोपचित। केवल मनके द्वारा चिन्तन करना परिज्ञा कहलाता है उससे भी किसी प्राणीका घात न होनेके कारण कर्मका

नाभावात् कर्मोपचयाभाव इति तथा ईरणमीर्य्या गमनं तेन जनित मीर्य्याप्रत्ययं तदपि कर्मोपचयं न गच्छति, प्राणिव्यापादनाभिसन्धेरभावादिति। तथा स्वप्नान्तिकं स्वप्नप्रत्ययं कर्म नोपचीयते यथा स्वप्नभोजने तृप्त्यभाव इति। तृतीयोद्देशके त्वयमर्थाधिकारः तद्यथा—आधाकर्मगतविचारस्तद्भोजिनां च दोषोपदर्शनमिति। तथा कृतवादी च भण्यते, तद्यथा—ईश्वरेण कृतोऽयं लोकः प्रधानादिकृतोवा। यथा च ते प्रवादिन आत्मीयमात्मीयं कृतवादं गृहीत्वोत्थितास्तथा भण्यंत इति द्वितीयोऽधिकारः। चतुर्थोद्देशकाधिकारस्त्वयं, तद्यथा—अविरतेषु गृहस्थेषु यानि कृत्यान्यनुष्ठानानि स्थितानि तैरसंयमप्रधानैः कर्तव्यैः परप्रवादी परतीर्थिक उपमीयत इति। इदानीमनुगमः, सच द्वेधा-सूत्रानुगमो निर्युक्त्यनुगमश्च तत्र निर्युक्त्यनुगमस्त्रिविधः तद्यथा निक्षेपनिर्युक्त्यनुगम उपोद्घातनिर्युक्त्यनुगमः सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्यनुगमश्च। तत्र निक्षेपनिर्युक्त्यनुगमोऽनुगतः, ओघनामनिष्पन्ननिक्षेपयोरन्तर्गतत्वात्, तथा च वक्ष्यमाणस्य सूत्रस्य निक्षेप्स्यमानत्वात्। उपोद्घातनिर्युक्त्यनुगमस्तु षड्विंशतिद्वारप्रतिपादकाद्गाथाद्वयादवसेयः।

उपचय नहीं होता है। तीसरा ईर्य्याप्रत्यय अर्थात् मार्गमें आने जानेसे जो जीव हिंसा होती है उससे भी कर्मका उपचय नहीं होता है क्योंकि वहाँ मार्ग जानेवालेका अभिप्राय जीवघातका नहीं होता। (४) चौथा स्वप्नांतिक जैसे स्वप्नमें भोजन करनेसे तृप्ति नहीं होती है उसी तरह स्वप्नमें किए हुए जीवहिंसा आदिसे कर्मका उपचय नहीं होता है। तृतीय उद्देशकमें, आधाकर्म आहारका विचार किया गया है और वह आहार खानेवालोंका दोष दिखाया गया है तथा कृतवादीका मत भी कहा गया है। कोई इस लोकको ईश्वरकृत और कोई प्रधानादिकृत कहते हैं। ये प्रावादुक अपने अपने पक्षका समर्थन करनेके लिए जिस प्रकार खड़े होते हैं वह भी इस उद्देशकमें कहा है यह दूसरा अर्थाधिकार है। चतुर्थ उद्देशकका अर्थाधिकार यह है—अविरत यानी गृहस्थोंमें जो असंयमप्रधान अनुष्ठान हैं वे ही परतीर्थिकोंमें भी विद्यमान हैं इसलिए परतीर्थी, गृहस्थके तुल्य हैं।

अब अनुगम बताया जाता है। अनुगम दो प्रकारका होता है। एक सूत्रानुगम और दूसरा निर्युक्त्यनुगम। इनमें निर्युक्त्यनुगम तीन प्रकारका होता है जैसे कि—निक्षेपनिर्युक्त्यनुगम, उपोद्घातनिर्युक्त्यनुगम और सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्यनुगम। इनमें निक्षेपनिर्युक्त्यनुगम कथितप्राय है क्योंकि वह ओघनिष्पन्न और नामनिष्पन्न निक्षेपमें ही अन्तर्भूत है तथा आगे कहाजानेवाला सूत्रका निक्षेप भी आगे किया

तच्चेदम्—"उद्देशे निद्देशे* य" इत्यादि। सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्यनुगमस्तु सूत्रे सति संभवति, सूत्रश्च सूत्रानुगमे सचावसरप्राप्त एव, तत्रास्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयं तच्चेदम्।

जायगा। उपोद्घात निर्युक्त्यनुगमको छब्बीस द्वार बतानेवाली दो गाथाओंसे जान लेना चाहिए। "उद्देसे निद्देसे" इत्यादि गाथायें दो गाथाये हैं। सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तिका अनुगम तो सूत्र होनेपर होता है और सूत्र, सूत्रानुगम होने पर होता है उस सूत्रानुगमका अवसर आ ही गया है अतः अस्खलित आदि गुणोंके साथ सूत्रका उच्चारण करना चाहिए। वह सूत्र यह है।

---

(१) उद्देसे निद्देसे य निग्गमे खित्तकालपुरिसे य कारणपच्चयलक्खणनएसमोयारणाणुमए। १ किं कइविहं कस्स कहिं केसु कहं किच्चिरं हवइ कालं। कइसंतरमविरहिअं भवागरिस फासण निरुती। २ उद्देसो निर्देशश्च निर्गमः क्षेत्रं कालं पुरुषश्च। कारणं प्रत्ययो लक्षणं नयः समवतारोऽनुमतम्। १ किं कतिविधं कस्य क्व केषु कथं कियच्चिरं भवति कालम्। कति सान्तरमविरहितं भवा आकर्षाः स्पर्शना निरुक्तिः। मेघच्छन्ने यथा चन्द्रो न राजति नभस्तले। उपोद्घातं विना शास्त्रं तथा न भ्राजते विधौ।

श्रीसूत्रकृताङ्गे

सटीकभाषानुवादसहिते
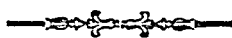
प्रथमाध्ययने स्वसमयवक्तव्यताधिकारः

बुज्झिज्जत्ति तिउट्टिज्जा, बंधणं परिजाणिया ।
किमाह बंधणं वीरो किंवा जाणं तिउट्टई ? ॥१॥

छाया—बुध्येत त्रोटयेद् बंधनं परिज्ञाय ।
किमाह बंधनं वीरः किं वा जानंस्त्रोटयति ॥

व्याकरण—(बुज्झिज्जत्ति) क्रिया, विधिलिङ् । (तिउट्टिज्जा) क्रिया, विधिलिङ् । (बंधणं) कर्म । (परिजाणिया) पूर्वकालिकक्रिया । (किम्) बंधनका विशेषण । (बंधणं) कर्म (आह) क्रिया (वीरो) 'आह' क्रियाका कर्ता । (किम्) प्रश्नार्थक कर्म विशेषण (जाणं) कर्ताका विशेषण (वा) अव्यय । (तिउट्टई) क्रिया ।

अन्वयार्थ—(बुज्झिज्जत्ति) मनुष्यको बोध प्राप्त करना चाहिए । (बंधणं परिजाणिया) बंधनको जानकर (तिउट्टिज्जा) उसे तोड़ना चाहिए । (वीरो) वीर प्रभुने (बंधणं किमाह) बंधनका स्वरूप क्या बताया है (वा) और (किं जाणं) क्या जानता हुआ पुरुष, (तिउट्टई) बंधनको तोडता है ?

भावार्थ—मनुष्यको बोध प्राप्त करना चाहिए, तथा बन्धनका स्वरूप जानकर उसे तोड़ना चाहिए । वीर प्रभुने बंधनका स्वरूप क्या बताया है ? और क्या जानकर जीव बंधनको तोड़ता है ?

टीका—अस्य संहितादिक्रमेण व्याख्या—बुध्येतेत्यादि। सूत्रमिदं सूत्रकृताङ्गादौ वर्तते। अस्य चाचाराङ्गेन सहायं सम्बन्धः। तद्यथाऽऽचाराङ्गेऽभिहितम्—"जीवो छक्कायपरूवणा य तेसिं वहेण बंधोत्ति" इत्यादि, तत्सर्वं बुध्येतेत्यादि। यदिवेह केषाञ्चिद्वादिनां ज्ञानादेव मुक्त्यवाप्तिरन्येषां क्रियामात्रात्, जैनाना न्तूभाभ्यां निःश्रेयसाधिगम इत्येतदनेन श्लोकेन प्रतिपाद्यते। तत्राऽपि ज्ञानपूर्विका क्रिया फलवती भवतीत्यादौ बुध्येतेत्यनेन ज्ञानमुक्तम्। त्रोटयेदित्यनेन च क्रियोक्ता। तत्राऽयमर्थो—बुध्येत अवगच्छेत् बोधं विदध्यादित्युपदेशः। किं पुन स्तद्बुध्येतात आह—'बंधणं' बध्यते जीवप्रदेशैरन्योऽन्यानुवेधरूपतया व्यवस्थाप्यत इति बंधनं, ज्ञानावरणीयाद्यष्टप्रकारं कर्म, तद्धेतवो वा मिथ्यात्वाविरत्यादयः

टीकार्थ—इस सूत्रकी संहिता* आदि क्रमसे व्याख्या की जाती है। "बुध्येत" इत्यादि गाथा 'सूत्रकृताङ्ग' सूत्रके आदिमें है। इस गाथाका आचाराङ्ग सूत्रके साथ सम्बन्ध यह है—आचाराङ्ग सूत्रमें कहा है कि "जीव, छः कायवाले होते हैं उन जीवोंके घातसे कर्मबन्ध होता है" यह सब जानना चाहिए, यह इस गाथाके द्वारा बताया जाता है। अथवा कोई वादी ज्ञानमात्रसे मुक्ति बतलाते हैं और कोई क्रिया मात्रसे मुक्ति लाभ कहते हैं परंतु जैनलोग, ज्ञान और क्रिया दोनोंसे मुक्ति मानते हैं यह इस श्लोकके द्वारा बताया जाता है। उस पर भी ज्ञानके साथ की हुई क्रिया ही मोक्ष फल देती है इसलिए पहले 'बुध्येत' इस पदके द्वारा ज्ञान बताया गया है और 'त्रोटयेत्' के द्वारा क्रिया कही गई है। बोध प्राप्त करना चाहिए यह उपदेश इस (बुध्येत) का अर्थ है। वह क्या है जिसका बोध प्राप्त करना चाहिए ? इसलिए कहते हैं कि "बंधणं" अर्थात् जीव प्रदेश, परस्पर अनुवेध रूपसे जिसको स्थापित करता है उसे 'बंधन' कहते हैं अर्थात् जीव प्रदेश जिसमें स्वयं मिल जाता है और उसे भी अपनेमें मिला लेता है वह 'बंधन' है। ज्ञानावरणीय आदि आठ प्रकारके कर्म, बंधन हैं अथवा ज्ञानावरणीय आदि कर्मोंके कारणरूप मिथ्यात्व और अविरति आदि अथवा परिग्रह और आरंभ आदि बंधन हैं। इन बंधनोंका

* संहिता च पदं चैव पदार्थः पदविग्रहः चालना प्रत्यवस्थानं व्याख्या तन्त्रस्य षड्विधा ॥१॥
पदोंको स्पष्ट उच्चारण करना संहिता है। श्लोकके पदोंको अलग अलग बताना 'पद' है। पदोंके अर्थको पदार्थ कहते हैं। पदोंका विग्रह करना पदविग्रह है। शिष्यके प्रश्नको 'चालना' कहते हैं। शिष्यके प्रश्नका उत्तर देना 'प्रत्यवस्थान' कहलाता है। इसप्रकार शास्त्रकी व्याख्या छः प्रकारकी होती है।

परिग्रहारम्भादयो वा । न च बोधमात्रादभिलषितार्थावाप्तिर्भवतीत्यतः क्रियां दर्शयति—तच्च बंधनं परिज्ञाय विशिष्टया क्रियया-संयमानुष्ठानरूपया त्रोटयेदपनयेदात्मनः पृथक् कुर्य्यात्परित्यजेद्वा । एवञ्चाभिहिते जम्बू स्वाम्यादिको विनेयो बन्धादिस्वरूपं विशिष्टं जिज्ञासुः पप्रच्छ 'किमाह' किमुक्तवान् बंधनं वीरः तीर्थकृत् किं वा जानन् अवगच्छँस्तद्बन्धनं त्रोटयति ततो वा त्रुट्यति ? इति श्लोकार्थः ॥ १ ॥

बोध प्राप्त करना चाहिए यह उपदेश है। परंतु बोधमात्रसे इष्ट अर्थकी प्राप्ति नहीं होती है किन्तु क्रियाकी भी आवश्यकता है अतः शास्त्रकार क्रिया दिखलाते हैं। बंधनको जानकर विशिष्ट क्रियासे यानी संयमके अनुष्ठानसे उसका विनाश करना चाहिए अथवा अपनेसे उसे अलग करदेना चाहिए। इस प्रकार कहने पर श्रीजम्बूस्वामी आदि शिष्यवर्गने, बंधनके विशिष्ट स्वरूपको जाननेके लिए श्रीसुधर्मास्वामीसे पूछा कि "तीर्थंकर वीर प्रभुने बन्धनका स्वरूप क्या बताया है और क्या जानकर जीव बन्धनको तोड़ता है अर्थात् स्वयं उससे पृथक् हो जाता है ?" यह इस श्लोकका अर्थ है।
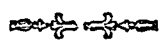
चित्तमंतमचित्तं वा, परिगिज्झ किसामवि ।
अन्नं वा अणुजाणाइ, एवं दुक्खा ण मुच्चइ ॥२॥

छाया—चित्तवन्त मचितं वा परिगृह्य कृशमपि ।
अन्यं वा अनुजानाति, एवं दुःखान्नमुच्यते ॥

व्याकरण—(चित्तमंतं) कर्म। (अचित्तं) कर्म (वा) अव्यय। (परिगिज्झ) पूर्वकालिकक्रिया। (किसां) कर्म। (अपि) अव्यय। (अन्नं) कर्म (वा) अव्यय (अणुजाणाइ) क्रिया (एवं) अव्यय। (दुक्खा) अपादान (न) अव्यय। (मुच्चई) क्रिया।

अन्वयार्थ—(चित्तमंतं) चित्तवान् अर्थात् ज्ञानयुक्त द्विपद चतुष्पद आदि प्राणी (वा) अथवा (अचित्तं) चैतन्य रहित सोना चाँदी आदि। (किसामवि) तथा तुच्छ वस्तु भूस्सा आदि अथवा स्वल्प भी (परिगिज्झ) परिग्रह रख कर (वा) अथवा (अन्नं) दूसरेको परिग्रह रखनेकी (अणुजाणाइ) अनुज्ञा देकर (एवं) इस प्रकार (दुक्खा) दुःखसे (ण मुच्चई) जीव मुक्त नहीं होता है।

भावार्थ—जो पुरुष, द्विपद चतुष्पद आदि चेतन प्राणीको, अथवा चैतन्यरहित सोना चाँदी आदि पदार्थोंको, अथवा तृण भूस्सा आदि तुच्छ पदार्थोंको भी परिग्रह रूपसे रखता है अथवा दूसरेको परिग्रह रखनेकी अनुज्ञा देता है वह दुःखसे मुक्त नहीं होता है।

टीका—बंधनप्रश्नस्वरूपनिर्वचनायाह—

इह बंधनं कर्म तद्धेतवो वाऽभिधीयन्ते, तत्र न निदानमन्तरेण निदानिनो जन्मेति निदानमेव दर्शयति, तत्राऽपि सर्वारम्भाः कर्मोपादानरूपाः प्रायश आत्मात्मीयग्रहोत्थाना इति कृत्वाऽऽदौ परिग्रहमेव दर्शितवान्। चित्तमुपयोगो ज्ञानं तद्विद्यते यस्य तच्चित्तवत्—द्विपदचतुष्पदादि, ततोऽन्यदचित्तवत्—कनकरजतादि, तदुभयरूपमपि परिग्रहं परिगृह्य, कृशमपि स्तोकमपि तृणतुपादिकमपीत्यर्थः, यदिवा कसनं कसः परिग्रहबुद्ध्या जीवस्य गमनपरिणाम इति यावत् तदेवं स्वतः परिग्रहं परिगृह्यान्यान्वाग्राहयित्वा गृह्णतोवाऽन्याननुज्ञाय दुःखयतीतिदुःखम्—अष्टप्रकारं कर्म तत्फलं वाऽसातोदयादिरूपं तस्मान्न मुच्यत इति। परिग्रहाग्रहएव परमार्थतोऽनर्थमूलं भवति। तथा चोक्तम्—

"ममाहमिति चैष यावदभिमानदाहज्वरः,
कृतान्तमुखमेव तावदिति न प्रशान्त्युन्नयः।

टीकार्थ—वन्धनका स्वरूप बतानेके लिए शास्त्रकार कहते हैं—

यहाँ, कर्म अथवा कर्मके कारण बंधन कहे जाते हैं। कारणके विना कार्य्यका जन्म नहीं होता है इसलिए शास्त्रकार पहले वन्धनके कारणको ही दर्शाते हैं। उसमें भी सभी आरम्भ, कर्मके कारणरूप हैं और वे आरम्भ, प्रायः "यह मैं हूँ और यह मेरी वस्तु है" इस परिग्रहवुद्धिसे ही उत्पन्न होते हैं इसलिए शास्त्रकारने पहले परिग्रहको ही दिखलाया है। उपयोग अर्थात् ज्ञानको 'चित्त' कहते हैं। वह ज्ञान, जिसमें रहता है उसे 'चित्तवत्' कहते हैं। द्विपद और चतुष्पद आदि प्राणी चित्तवत् कहलाते हैं। उनसे भिन्न वस्तु 'अचित्तवत्' है। वह सोना चाँदी आदि पदार्थ हैं। इन दोनों प्रकारकी वस्तुको ममत्वबुद्धिसे ग्रहण करना, तथा तुच्छ वस्तु तृण और भूस्सा आदिको भी परिग्रहरूपसे ग्रहण करना, अथवा किसी वस्तुको परिग्रहवुद्धिसे ग्रहण करनेके लिए उस वस्तुके पास जीवके जानेका परिणाम होना, यह सव परिग्रह रखना है। इसप्रकार जो पुरुष स्वयं परिग्रहको ग्रहण करता है अथवा दूसरेको परिग्रह ग्रहण कराता है अथवा परिग्रह ग्रहण करते हुए पुरुषको अनुज्ञा देता है वह पुरुष दुःख देनेवाले अष्टविध कर्म अथवा उन कर्मोंके फलरूप जो असातोदय आदि हैं उनसे मुक्त नहीं होता है वस्तुतः परिग्रहमें आग्रह रखना ही अनर्थका मूल है। जैसा कि कहा है—"यह मैं हूँ और यह मेरा है" यह अभिमानरूपी दाहज्वर जवतक मनुष्यको बना रहता है तबतक उसके लिए कालका ही

यशःसुखपिपासितैरयमसावनर्थोत्तरैः,
परैरपसदः कुतोऽपि कथमप्यपाकृष्यते" ॥१॥

तथा च—"द्वेषस्यायतनं धृतेरपचयः क्षान्तेः प्रतीपो विधि
र्व्याक्षेपस्य सुहृन्मदस्य भवनं ध्यानस्य कष्टो रिपुः।
दुःखस्य प्रभवः सुखस्य निधनं पापस्य वासो निजः
प्राज्ञस्याऽपि परिग्रहो ग्रह इव क्लेशाय नाशाय च" ॥२॥

तथा च परिग्रहेष्वप्राप्तनष्टेषु काङ्क्षाशोकौ प्राप्तेषु च रक्षणमुपभोगेचातृप्तिरित्येवं परिग्रहे सति दुःखात्मकाद् बंधनान्नमुच्यत इति ॥२॥

मुख शरण है, शान्तिकी आशा नहीं है। तथापि यश और सुखकी इच्छा रखनेवाले और अन्तमें अनर्थको प्राप्त करनेवाले मूढ़ जीव, इस दुःखद परिग्रहको बड़ी कठिनाईसे उपार्जन किया करते हैं ॥१॥ यह परिग्रह, द्वेषका घर है, धीरताका ह्रास करता है, क्षमाका शत्रु है, चित्तविक्षेपका मित्र है, मदका घर है, ध्यानका कष्टदायी शत्रु है, दुःखका जन्मदाता है, सुखका विनाशक है और पापका खास निवासस्थान है। यह परिग्रह, दुष्ट ग्रहके समान चतुर पुरुषको भी क्लेश देता है और उसका नाश कर डालता है ॥ २ ॥

अप्राप्त परिग्रहको प्राप्त करनेकी इच्छा होती है और परिग्रह नष्ट होनेपर शोक होता है तथा प्राप्तपरिग्रहकी रक्षामें कष्ट होता है और परिग्रहके उपभोगसे भी तृप्ति नहीं होती है इसलिए परिग्रह रहनेपर दुःखस्वरूप बंधनसे मुक्ति नहीं हो सकती है ॥२॥
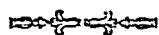
सयं तिवायए पाणे, अदुवाऽन्नेहिं घायए।
हणंतं वाऽणुजाणाइ, वेरं वड्ढइ अप्पणो ॥३॥

छाया—स्वयमतिपातये त्प्राणानथवाऽन्यै र्घातयेत्।
घ्नन्तं वाऽनुजानाति वैरं वर्धयत्यात्मनः ॥३॥

व्याकरण—(सयं) अव्यय है। (तिवायए) क्रिया। (पाणे) कर्म (अदुवा) अव्यय। (अन्नेहिं) प्रयोज्य (कर्ता) है। (घायए) प्रेरणार्थक क्रिया विधि लिङ्। (हणंतं) कर्म। (अणुजाणाइ) क्रिया (वा) अव्यय। (वेरं) कर्म (वड्ढइ) क्रिया (अप्पणो) सम्बन्ध षष्ठ्यंत पद।

अन्वयार्थ—(सयं) स्वयं—अपने आप (पाणे) प्राणियोंको (तिवायए) जो मारता है

(अदुवा) अथवा (अन्नेहिं) दूसरे के द्वारा (घायए) घात कराता है (वा) अथवा (हणंतं) प्राणीका घात करते हुए पुरुषको (अणुजाणाइ) अनुज्ञा देता है वह (अप्पणो) अपना (वेरं) वैर (वड्ढइ) वढ़ाता है।

भावार्थ—जो पुरुष स्वयं प्राणियोंका घात करता है अथवा दूसरे द्वारा घात कराता है अथवा प्राणियोंका घात करते हुए पुरुषोंको अनुज्ञा देता है वह, मारे जाने वाले प्राणियोंके साथ अपना वैर वढ़ाता है।

टीका—परिग्रहवतश्चावश्यंभाव्यारम्भस्तस्मिँश्च प्राणातिपात इति दर्शयितुमाह—

यदिवा—प्रकारान्तरेण वन्धनमेवाह—'सयंतीत्यादि,' स परिग्रहवानसंतुष्टो भूयस्तदर्जनपरः समर्जितोपद्रवकारिणि च द्वेषमुपगत स्ततः स्वयमात्मना 'त्रिभ्यो' मनोवाक्कायेभ्य आयुर्वलशरीरेभ्यो वा 'पातयेत्' च्यावयेत् प्राणान् प्राणिनः। अकारलोपाद्वा अतिपातयेत् प्राणानिति। प्राणाश्चामी—

"पञ्चेन्द्रियाणि त्रिविधं वलञ्च, उच्छ्वासनिश्वासमथान्यदायुः।
प्राणा दशैते भगवद्भिरुक्ता स्तेषां वियोगीकरणन्तु हिंसा ॥१॥

तथा स परिग्रहाग्रही न केवलं स्वतो व्यापादयति अपरैरपि

टीकार्थ—परिग्रही पुरुषके द्वारा आरम्भ होना आवश्यक है और आरम्भ होनेपर प्राणातिपात होता है यह दर्शानेके लिए शास्त्रकार कहते हैं।

अथवा सूत्रकार 'सयं' इत्यादि गाथाके द्वारा दूसरे प्रकारसे वंधनका ही स्वरूप वतलाते हैं। परिग्रही पुरुष असंतुष्ट होकर फिर परिग्रहके उपार्जनमें तत्पर होता है और उपार्जित परिग्रहमें उपद्रव करने वाले पर वह द्वेष करता है। इस द्वेषके कारण वह स्वयं प्राणीको मन वचन और काय अथवा आयु वल और शरीर इन तीनोंसे नष्ट करता है। अथवा 'तिवायए' इस पदमें अकारके लोप होने से 'अतिपातयेत्' यह जानना चाहिए अतः वह परिग्रही पुरुष, प्राणोंका विनाश करता है यह इसका अर्थ है। 'प्राण' ये हैं—पांच इन्द्रिय, तीन प्रकारका वल, उच्छ्वास, निश्वास और आयु, तीर्थंकर भगवान्ने ये दश प्राण कहे हैं, इन प्राणों का वियोग करना हिंसा है। परिग्रहमें आग्रह रखने वाला वह पुरुष अपने आप ही प्राणियोंका घात नहीं करता है किंतु दूसरे द्वारा भी घात कराता है और प्राणियोंका घात करने वाले दूसरेको अनुमति भी देता है। इस प्रकार वह

घातयति, अतश्चान्यान् समनुजानीते । तदेवं कृतकारितानुमतिभिः प्राण्युपमर्द्दनेन जन्मांतरशतानुबन्ध्यात्मनो वैरं वर्धयति, ततश्च दुःखपरम्परा-रूपाद् बंधनान्न मुच्यत इति । प्राणातिपातस्य चोपलक्षणार्थत्वान्मृषावादा-दयोऽपि बन्धहेतवो द्रष्टव्या इति ॥३॥

पुरुष, प्राणियोंको घात करने कराने और अनुमति देने रूप तीनो करणोंसे प्राणियोंका घात करके सैकड़ों जन्मके लिए उन प्राणियोंके साथ अपना वैर बढ़ाता है । इस कारण वह पुरुष, दुःखपरम्परारूप वन्धनसे मुक्त नहीं होता है। यहाँ प्राणातिपात उपलक्षण* है इसलिए मृषावाद आदि भी बन्धके कारण जानने चाहिए ॥ ३ ॥

जस्सिं कुले समुप्पन्ने जेहिं वा संवसे नरे ।
ममाइ लुप्पई बाले अराणे अराणेहि मूच्छिए ॥४॥

छाया—यस्मिन्कुले समुत्पन्नो यै र्वा संवसेन्नरः ।
ममायं लुप्यते बालः, अन्येष्वन्येषु मूर्च्छितः ।

व्याकरण—(जस्सिं) अधिकरणका विशेषण । (कुले) अधिकरण । (समुप्पन्ने) कर्ताका विशेषण (जेहिं) सहार्थक तृतीयांत (वा) अव्यय । (संवसे) क्रिया (नरे) कर्ता (मम) सम्बन्ध षष्ठयंत (लुप्यते) क्रिया (बाले) कर्ता (अन्ने अन्नेहिं) अधिकरण (मूच्छिए) कर्ताका विशेषण ।

अन्वयार्थ—(नरे) मनुष्य (जस्सिं) जिस (कुले) कुलमें (समुप्पन्ने) उत्पन्न है (जेहिंवा) अथवा जिसके साथ (संवसे) निवास करता है (ममाइ) उनमें ममत्व बुद्धि रखता हुआ वह (लुप्पई) पीडित होता है । (बाले) वह अज्ञानी (अन्ने अन्नेहि) दूसरी दूसरी वस्तुओंमें (मूच्छिए) मूर्च्छित है ।

भावार्थ—मनुष्य जिस कुलमें उत्पन्न हुआ है और जिसके साथ निवास करता है उनमें ममता रखता हुआ वह पीड़ित होता है । वह मूर्ख अन्य अन्य पदार्थोंमें आसक्त है ।

टीका—पुनर्बन्धनमेवाश्रित्याह—

'जस्सिं' मित्यादि, यस्मिन् राष्ट्रकुलादौ कुले जातो यै र्वा सह पांसुक्रीडितै र्वयस्यैर्भार्य्यादिभि र्वा सह संवसेन्नरः, तेषु मातृपितृभ्रातृ

टीकार्थ—फिर वन्धनके विषयमें ही सूत्रकार कहते हैं—

मनुष्य, जिस राठौर आदि कुलमें उत्पन्न हुआ है और साथमें धूलि क्रीडा किए हुए जिन मित्रों और भार्य्या आदिके साथ वह निवास करता है उन

* जो दूसरेका भी बोध करता है उसे उपलक्षण कहते हैं ।

भगिनीभार्य्यादिषु ममायमिति ममत्ववान् स्निह्यन् लुप्यते विलुप्यते। ममत्वजनितेन कर्मणा नारकतिर्य्यङ्मनुष्यामरलक्षणे संसारे भ्रम्यमाणो वाध्यते-पीड्यते। कोऽसौ? वालः-अज्ञः-सदसद्विवेकरहितत्वात्। अन्येष्वन्येषु च मूर्च्छितोगृद्धोऽध्युपपन्नो ममत्ववहुल इत्यर्थः। पूर्वं तावन्माता पित्रोस्तदनु भार्य्यायां पुनः पुत्रादौ स्नेहवानिति ॥४॥

माता पिता भाई भगिनी भार्य्या और मित्र आदिमें "ये मेरे हैं" ऐसा ममता रखकर उनमें स्नेह करता हुआ वह दुःखित होता है। वह पुरुष, ममतासे उत्पन्न कर्मके द्वारा नारक, तिर्य्यक् मनुष्य और अमररूप संसारमें भ्रमण करता हुआ पीडित होता है। वह कौन है? वह वाल अर्थात् अज्ञानी है क्योंकि उसको सत् और असत्का विवेक नहीं है। वह अन्य अन्य वस्तुओंमें आसक्त रहता हुआ उनमें वहुत ममता रखता है। वह पहले माता पितामें स्नेह करता है इसके पश्चात् भार्य्यामें स्नेह करता है फिर वह पुत्र आदिमें स्नेह करता है ॥४॥

वित्तं सोयरिया चेव सव्वमेयं न ताणइ।
संखाए जीवियं चेवं, कम्मुणा उ तिउट्टई ॥५॥

छाया—वित्तं सोदर्य्याश्चैव सर्वमेतन्न त्राणाय।
संख्याय जीवितञ्चैव कर्मणस्तु त्रुट्यति ॥

व्याकरण—(वित्तं सोयरिया) कर्ता (चेव) अव्यय (सव्वमेयं) सर्वनाम, कर्ताका विशेषण (न) अव्यय (ताणइ) चतुर्थ्यन्त। (संखाय) पूर्वकालिक क्रिया (जीवियं) कर्म (चेव) अव्यय (कम्मुणा) करण अथवा अपादान। (उ) अव्यय (तिउट्टइ) क्रिया।

अन्वयार्थ—(वित्तं) धनदौलत (चेव) और (सोयरिया) सहोदर भाई भगिनी आदि (एयं सव्वं) ये सव (णताणइ) रक्षाके लिए नहीं हैं। (संखाय) यह जानकर (जीवियं चेवं) तथा जीवनको भी स्वल्प जानकर जीव, (कम्मणाउ) कर्मसे (तिउट्टई) पृथक् हो जाता है।

भावार्थ—धन दौलत और भाई भगिनी आदि ये सव रक्षाके लिए समर्थ नहीं होते हैं, तथा जीवन भी अल्प है यह जानकर जीव, कर्मसे पृथक् हो जाता है।

टीका—साम्प्रतं यदुक्तं प्राक् 'किंवा जानन् वंधनं त्रोटयतीति' अस्य निर्वचनमाह—

टीकार्थ—पहले कहा है कि "क्या जानकर जीव वंधनको तोड़ता है" इसका समाधान देनेके लिए शास्त्रकार कहते हैं—

टीका—वित्तं द्रव्यं तच्च सचित्तमचित्तं वा, तथा सोदर्य्या भ्रातृ भगिन्यादयः, सर्वमपि च 'एतद्' वित्तादिकं संसारान्तर्गतस्यासुमतोऽति-कटुकाः शारीरमानसीर्वेदनाः समनुभवतो न त्राणाय रक्षणाय भवती-त्येतत्संख्याय ज्ञात्वा तथा जीवितं च प्राणिनां स्वल्पमिति संख्याय—ज्ञपरिज्ञया, प्रत्याख्यानपरिज्ञया तु सचित्ताचित्तपरिग्रहप्राण्युपघातस्वजन-स्नेहादीनि बन्धनस्थानानि प्रत्याख्याय कर्मणः सकाशात् 'त्रुट्यति' अप-गच्छत्यसौ, तुरवधारणे त्रुट्येदेवेति। यदि वा कर्मणा क्रियया संयमानु-ष्ठानरूपया बंधनात् त्रुट्यति कर्मणः पृथग्भवतीत्यर्थः ॥५॥

टीकार्थ—द्रव्यको 'वित्त' कहते हैं। वह सचित्त हो अथवा अचित्त हो, तथा भाई बहिन आदि सहोदर गण, ये सब, अतिकष्टदायी शारीरिक और मानसिक पीड़ा भोगते हुए संसारी प्राणीकी रक्षाके लिए समर्थ नहीं होते हैं यह जानकर तथा प्राणियोंका जीवन भी स्वल्प है यह ज्ञपरिज्ञासे जानकर पश्चात् प्रत्याख्यान परिज्ञाके द्वारा सचित्त अचित्त परिग्रह जीवघात, और स्वजनवर्गके स्नेह आदि बन्धनस्थानोंको छोड़कर जीव कर्मसे पृथक् हो जाता है। 'तु' शब्द अवधारणार्थक है इसलिए वह जीव अवश्य कर्मसे पृथक् हो जाता है यह अर्थ है। अथवा उक्त वातको जानकर जीव संयमके अनुष्ठानरूप क्रिया द्वारा बन्धनसे छूट जाता है अर्थात् कर्मसे पृथक् होजाता है यह अर्थ है ॥५॥
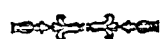
एए गंथे विउक्कम्म, एगे समणमाहणा।
अयाणंता विउस्सित्ता सत्ता कामेहि माणवा ॥६॥

छाया—एतान् ग्रंथान् व्युत्क्रम्य एके श्रमणब्राह्मणाः।
अजानन्तो व्युत्सिताः सक्ताः कामेषु मानवाः।

व्याकरण—(एए गंथे) कर्म (विउक्कम्म) पूर्वकालिक क्रिया। (एगे समणमाहणा) कर्ता (अयाणंता) कर्ताका विशेषण (विउस्सित्ता) कर्ताका विशेषण (सत्ता) कर्ताका विशेषण (कामेहि) अधिकरण (माणवा) कर्ता।

अन्वयार्थ—(एगे समणमाहणा) कोई कोई शाक्यभिक्षु और बृहस्पतिमतानुयायी ब्राह्मण, (एए गंथे) इन ग्रंथोंको (विउक्कम्म) छोड़कर (विउस्सित्ता) स्वसिद्धान्तोंमें अत्यंत बद्ध हैं। (अयाणंता) ये अज्ञानी (माणवा) मनुष्य (कामेहि) कामभोगमें (सत्ता) आसक्त हैं।

भावार्थ—कोई शाक्यभिक्षु और बृहस्पतिमतानुयायी ब्राह्मण इन ग्रन्थोंको छोड़कर अपने सिद्धान्तोंमें अत्यंत बद्ध हैं। वे अज्ञानी मनुष्य, कामभोगमें आसक्त हैं।

टीका—अध्ययनार्थाधिकाराभिहितत्वात्स्वसमयप्रतिपादनानन्तरं परसमयप्रतिपादनाभिधित्सयाऽऽह—

एतान् अनन्तरोक्तान् ग्रन्थान् व्युत्क्रम्य परित्यज्य स्वरुचिविरचितार्थेषु ग्रन्थेषु सक्ताः 'सिताः' बद्धाः एके, न सर्वे इति सम्बन्धः। ग्रन्थातिक्रमश्चैतेषां तदुक्तार्थानभ्युपगमात्। अनन्तरग्रन्थेषु चायमर्थोऽभिहितः तद्यथा—जीवास्तित्वे सति ज्ञानावरणीयादि कर्म बंधनम्। तस्य हेतवो मिथ्यात्वाविरतिप्रमादादयः परिग्रहारंभादयश्च, तत्त्रोटनञ्च सम्यग्दर्शनाद्युपायेन, मोक्षसद्भावश्चेत्येवमादिकः। तदेवमेके श्रमणाः शाक्यादयो बार्हस्पत्यमतानुसारिणश्च ब्राह्मणाः 'एतान्' अर्हदुक्तान् ग्रन्थानतिक्रम्य परमार्थमजानानाः विविधम् अनेकप्रकारम् उत् प्राबल्येन सिताः बद्धाः स्वसमयेष्वभिनिविष्टाः। तथा च शाक्या एवं प्रतिपादयन्ति, यथा—सुखदुःखेच्छाद्वेषज्ञानाधारभूतो नास्त्यात्मा कश्चित् किन्तु विज्ञानमेवैकं विवर्तत इति, क्षणिकाः सर्वसंस्कारा इत्यादि। तथा सांख्या एवं

टीकार्थ—प्रथम अध्ययनका अर्थाधिकार परसमयवक्तव्यता भी है यह अध्ययनके अर्थाधिकारमें कहा है अतः स्वसमय कहनेके पश्चात् अब परसमय बतानेके लिए शास्त्रकार कहते हैं—

—कोई पुरुष इन पूर्वोक्त ग्रन्थोंको छोड़कर अपनी रुचिके अनुसार रचे हुए ग्रन्थोंमें बद्ध हैं। परंतु कोई ही ऐसे हैं सब नहीं। "ये लोग पूर्वोक्त ग्रन्थोंका उल्लंघन करते हैं।" इसका तात्पर्य यह है कि ये लोग पूर्वोक्त ग्रन्थोंमें कहे हुए सिद्धान्तोंको स्वीकार नहीं करते हैं। पूर्वोक्त ग्रन्थोंमें यह कहा है कि "जीवका अस्तित्व होने पर ज्ञानावरणीय आदि कर्म, बंधन हैं और उस कर्मके कारणरूप मिथ्यात्व, अविरति और प्रमाद आदि तथा परिग्रह और आरंभ आदि भी बन्धन हैं। इस बन्धनका सम्यग्दर्शन आदि उपायके द्वारा खण्डन होता है और मोक्षका भी अस्तित्त्व है इत्यादि" परंतु कोई शाक्यभिक्षु और बृहस्पतिमतानुयायी ब्राह्मण इन अर्हत्कथित ग्रन्थोंको अस्वीकार करके परमार्थको न जानते हुए अनेक प्रकारसे अपने सिद्धान्तोंमें अत्यंत आग्रह रखते हैं। शाक्य लोग कहते हैं कि—"सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और ज्ञानका आधारभूत कोई आत्मा नहीं है किन्तु एक विज्ञान ही नाना रूपोंमें परिणत होता रहता है। तथा सभी संस्कार (पदार्थ) क्षणिक हैं इत्यादि"

व्यवस्थिताः—"सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान् महतोऽहंकार स्तस्माद्गणश्च षोड़शकः तस्मात् षोडशकादपि पञ्चभूतानि, चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपमित्यादि ।" वैशेषिकाः पुनराहुः—"द्रव्यगुण कर्मसामान्यविशेषसमवायाः षट् पदार्था" इति । तथा नैयायिकाः— प्रमाणप्रमेयादीनां पदार्थानामन्वयव्यतिरेकपरिज्ञानान्निःश्रेयसाधिगम- इति व्यवस्थिताः । तथा मीमांसकाः चोदनालक्षणो धर्मो नच सर्वज्ञः कश्चिद्विद्यते मुक्त्यभावश्चेत्येवमाश्रिताः । चार्वाकास्त्वेवमभिहितवन्तो, यथा नास्ति कश्चित् परलोकयायी भूतपञ्चकाद्व्यतिरिक्तो जीवाख्यः पदार्थो, नाऽपि पुण्यपापे स्त इत्यादि । एवं चाङ्गीकृत्यैते लोकायतिकाः 'मानवाः' पुरुषाः 'सक्ता' गृद्धा अध्युपपन्नाः कामेषु, इच्छामदनरूपेषु, तथाचोचुः "एतावानेव पुरुषो यावानिन्द्रियगोचरः । भद्रे ! वृकपदं पश्य यद् वदन्त्यबहुश्रुताः" १ "पिब खाद च साधु शोभने ! यदतीतं वरगात्रि ! तन्न ते । नहि भीरु ! गतं निवर्तते समुदयमात्र मिदं कलेवरम् । २ एवं

एवं सांख्यवादी पदार्थोंकी व्यवस्था इस प्रकार करते हैं—"सत्व रज और तमकी साम्य अवस्थाको प्रकृति कहते हैं। उस प्रकृतिसे महत् यानी बुद्धितत्व उत्पन्न होता है। बुद्धिसे अहंकार और अहंकारसे सोलह गण उत्पन्न होते हैं। उस सोलह गणसे पांच महाभूत उत्पन्न होते हैं। चैतन्य, पुरुषका स्वरूप है इत्यादि"। वैशेषिक कहते हैं कि "द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, और समवाय ये छः पदार्थ हैं। नैयायिक, अन्वय और व्यतिरेकके द्वारा प्रमाण प्रमेयादि पदार्थोंके तत्त्वज्ञानसे मोक्षकी प्राप्ति होती है यह मानते हैं। मीमांसक कहते हैं कि "अज्ञात अर्थको बोधित करनेवाला वैदिकवाक्य 'चोदना' कहलाता है, उस चोदनाके द्वारा बोधित अर्थ धर्म है। कोई भी पुरुष सर्वज्ञ नहीं है तथा मुक्तिका भी अभाव है इत्यादि। चार्वाकोंने इस प्रकार कहा है कि परलोकमें जानेवाला, पाँच महाभूतोंसे भिन्न कोई जीव नामका पदार्थ नहीं है और पाप पुण्य भी नहीं हैं इत्यादि। इस प्रकारका सिद्धान्त मानकर ये लोकायतिक (चार्वाक) पुरुष, इच्छा मदनरूप कामभोगमें आसक्त रहते हैं। उन्होंने कहा भी है (एतावानेव) चार्वाकाचार्य्य वृहस्पति अपनी बहिनसे कहते हैं कि हे भद्रे! जितना देखनेमें आता है उतना ही लोक हैं। जैसे मूर्ख मनुष्य पृथिवी पर उखड़े हुए मनुष्यके पंजेको भेडियेके पैरके चिन्ह बताते हैं उसी तरह लोग स्वर्ग नरक आदिकी मिथ्या कल्पना किया करते हैं। १ हे सुन्दरि! उत्तमोत्तम भोजन खाओ और पीओ। जो समय, चला

ते तन्त्रान्तरीयाः स्वसमयार्थवासितान्तःकरणाः सन्तो भगवदर्हदुक्तं ग्रन्थार्थमज्ञातपरमार्थाः समतिक्रम्य स्वकीयेषु ग्रन्थेषु सिताः—संबद्धाः कामेषु च सक्ता इति ॥६॥

गया वह तुम्हारा नहीं है हे भीरु! गया हुआ समय लौटकर नहीं आता है तथा यह शरीर भी पांच महाभूतोंका पुञ्ज ही है। इस प्रकार अपने सिद्धान्तोंसे वासित हृदयवाले अन्यदर्शनी, भगवान् अरिहन्तके कहे हुए ग्रन्थोंको छोड़कर परमार्थको न जानते हुए अपने ग्रन्थोंमें बद्ध और कामभोगमें आसक्त रहते हैं ॥६॥

संति पंच महब्भूया, इह मेगेसिमाहिया।
पुढवी आउ तेऊ वा वाउ आगासपंचमा ॥७॥

छाया—संति पञ्च महाभूतानीहैकेषा माख्यातानि।
पृथिव्यापस्तेजो वा वायुराकाशपञ्चमानि ॥

व्या०—(संति) क्रिया (पंच महब्भूया) कर्ता। (इह) अधिकरणशक्तिप्रधान अव्यय (एगेसिं) कर्तृपष्ठ्यन्त (आहिया) महाभूतका विशेषण। शेप सव महाभूतके विशेषण (वा) अव्यय।

अन्वयार्थ—(इह) इस लोकमें (पंच) पांच (महब्भूया) महाभूत (संति) हैं (एगेसिं) किन्हीने (आहिया) कहा है। (पुढवी) पृथिवी (आउ) जल (तेऊवा) और तेज (वाउ) वायु (आगासपंचमा) और पाँचवाँ आकाश।

भावार्थ—पञ्च महाभूतवादियोंका कथन है कि इस लोकमें पृथिवी, जल, तेज, वायु और पाँचवाँ काकाश ये पाँच महाभूत हैं।

टीका—साम्प्रतं विशेपेण सूत्रकार एव चार्वाकमतमाश्रित्याह—

'संति' विद्यन्ते महान्ति च तानि भूतानि च महाभूतानि, सर्वलोकव्यापित्वान्महत्वविशेपणम् अनेन च भूताभाववादिनिराकरणं द्रष्टव्यम् 'इह' अस्मिन् लोके 'एकेपां' भूतवादिनाम् 'आख्यातानि' प्रति-

टीकार्थ—अव सूत्रकार ही विशेप रूपसे चार्वाकमतका आश्रय लेकर कहते हैं—

जो महान् भूत हैं उनको 'महाभूत' कहते हैं। ये महाभूत सर्वलोकव्यापी हैं इसलिए इनमें महत्व विशेपण दिया है। इन महाभूतों का अस्तित्व कहनेसे भूतोंका अभाव वतानेवाले दार्शनिकोंका मत खण्डित समझना चाहिए। इस लोकमें भूतवादी तथा उनके तीर्थंकर अथवा भूतवादी उन वृहस्पतिमतानुयायी

पादितानि तत्तीर्थकृता तै र्वा भूतवादिभि र्बार्हस्पत्यमतानुसारिभि राख्यातानि स्वयमङ्गीकृतान्यन्येषाञ्च प्रतिपादितानि। तानि चामूनि, तद्यथा—पृथिवी कठिनरूपा, आपो द्रवलक्षणाः, तेजउष्णरूपं, वायुश्चलनलक्षणः, आकाशं सुषिरलक्षणमिति, तच्च पञ्चमं येषां तानि तथा, एतानि साङ्गोपाङ्गानि प्रसिद्धत्वात् प्रत्यक्षप्रमाणावसेयत्वाच्च न कैश्चिदपन्होतुं शक्यानि। ननु च सांख्यादिभिरपि भूतान्यभ्युपगतान्येव, तथाहि सांख्यास्तावदेव मूचुः—सत्वरजस्तमोरूपात्, प्रधानान्महान् बुद्धिरित्यर्थः महतोऽहङ्कारः—अहमिति प्रत्ययः, तस्मादप्यहङ्कारात् षोडशको गण उत्पद्यते, स चायं—पञ्च स्पर्शनादीनि बुद्धीन्द्रियाणि, वाक्पाणिपादपायूपस्थरूपाणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, एकादशं मनः, पञ्च तन्मात्राणि, तद्यथा—गन्धरसरूप स्पर्शशब्दतन्मात्राख्यानि। तत्र गन्धतन्मात्रात्पृथिवी, गन्धरसरूपस्पर्शवती। रसतन्मात्रादापो रसरूपस्पर्शवत्यः। रूपतन्मात्रात्तेजो रूपस्पर्शवत्। स्पर्शतन्मत्राद्वायुः स्पर्शवान्, शब्दतन्मात्रादाकाशं गन्ध-

---

पुरुषोंने पाँच महाभूतोंको स्वयं अङ्गीकार किया है और दूसरोंको भी उपदेश किया है। वे महाभूत ये हैं—(१) पृथिवी कठिन स्वरूपवाली है। (२) जल द्रवस्वरूप है। (३) तेज उष्णरूप है। (४) वायु चलनस्वभाव है। (५) आकाश, छिद्रस्वरूप है। इन भूतोंमें आकाश पांचवाँ भूत है। ये पाँचो भूत साङ्गोपाङ्ग प्रसिद्ध हैं और प्रत्यक्ष प्रमाणसे निश्चय करने योग्य हैं इसलिए ये, किसीके द्वारा मिथ्या नहीं कहे जा सकते हैं। (शंका) सांख्य आदि दर्शनोंने भी भूतोंको स्वीकार किया ही है क्योंकि सांख्यवादी इस प्रकार कहते हैं कि—सत्व रज और तमोरूप प्रकृतिसे 'महान्' यानी बुद्धितत्त्व उत्पन्न होता है और बुद्धितत्त्वसे—"मैं" यह ज्ञानरूप अहङ्कार उत्पन्न होता है तथा उस अहङ्कारसे सोलह पदार्थोंका गण उत्पन्न होता है। वह गण यह है—स्पर्शन आदि पांच ज्ञानेन्द्रिय, तथा वाणी हाथ, पैर, गुदा, और उपस्थ ये पाँच कर्मेन्द्रिय, एग्यारहवाँ मन, और पांच तन्मात्रायें। पांच तन्मात्रायें ये हैं—गंधतन्मात्रा, रसतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा और शब्दतन्मात्रा। इनमें गन्धतन्मात्रासे पृथिवी उत्पन्न हुई हैं। वह पृथिवी गन्ध, रस, रूप और स्पर्श गुणवाली है। रसतन्मात्रासे जल उत्पन्न हुआ है। वह रस, रूप, और स्पर्शगुण वाला है। रूपतन्मात्रासे तेजकी उत्पत्ति हुई है। वह, रूप, और स्पर्श गुणवाला है। स्पर्श तन्मान्त्रासे वायु उत्पन्न हुआ है, उसका स्पर्श गुण है। शब्द तन्मात्रासे आकाश उत्पन्न हुआ है। वह, गंध रस रूप, और स्पर्शसे वर्जित

रसरूपस्पर्शवर्जित मुत्पद्यत इति । तथा वैशेषिका अपि भूतान्यभिहितवन्तः, तद्यथा—पृथिवीत्वयोगात्पृथिवी, सा च परमाणुलक्षणा नित्या, द्व्यणुकादिप्रक्रमनिष्पन्नकार्य्यरूपतयात्वनित्या । चतुर्दशभिर्गुणै रूपरसगंध स्पर्शसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वगुरुत्वद्रवत्ववेगाख्यैरु - पेता । तथाऽप्त्वयोगादापः, ताश्च रूपरसस्पर्शसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वगुरुत्वस्वाभाविकद्रवत्वस्नेहवेगवत्यः । तासु च रूपं शुक्लमेव, रसो मधुर एव स्पर्शः शीत एवेति । तेजस्त्वाभिसम्बन्धात्तेजः, तच्च रूपस्पर्शसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वनैमित्तिकद्रवत्ववेगाख्यैरेकादशभिर्गुणैर्गुणवत्। तत्र रूपं शुक्लं भास्वरं च, स्पर्श उष्ण एवेति। वायुत्वयोगाद् वायुः, स चानुष्णशीतस्पर्शसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्ववेगाख्यैर्नवभिर्गुणैर्गुणवान्, हृत्कम्पशब्दानुष्णशीतस्पर्शलिङ्गः। आकाशमिति पारिभाषिकी संज्ञा, एकत्वात्तस्य, तच्च संख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागशब्दाख्यैः षड्भिर्गुणैर्गुणवत्, शब्दलिङ्गञ्चेति । एव

है। इसी तरह वैशेषिकोंने भी भूतोंका कथन किया है। जैसे कि पृथिवीत्वरूप धर्मके सम्बन्धसे पृथिवी होती है। परमाणुरूप वह पृथिवी नित्य है और द्व्यणुकादि क्रमसे उत्पन्न होनेवाली कार्य्यरूपा वह पृथिवी अनित्य है। वह पृथिवी रूप, रस, गंध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व और वेग नामक चौदह गुणोंसे युक्त है। तथा जलत्व रूप धर्मके सम्बन्धसे जल होता है। वह भी रूप, रस, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्क्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, स्वाभाविकद्रवत्व, स्नेह और वेगनामक गुणोंसे युक्त है। उस जलका रूप शुक्ल ही है, स्पर्श शीत ही है। तेजस्त्वरूप धर्म के सम्बन्धसे तेज होता है। वह रूप, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, नैमित्तिक द्रवत्व और वेग नामक एग्यारह गुणोंसे युक्त है। उसका रूप शुक्ल और भास्वर (चमकीला) है तथा स्पर्श उष्ण ही है। वायुत्वरूप धर्मके सम्बन्धसे वायु होता है। वह, अनुष्णाशीतस्पर्श, (नगरम न ठंढा) संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व और वेग नामक नव गुणोंसे युक्त है। हृदयका कम्पन, शब्द, और अनुष्णशीतस्पर्श, उसके लिङ्ग (बोधक) हैं। आकाश, यह पारिभाषिक नाम है क्योंकि आकाश एक है। वह, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, और शब्द नामक छः गुणोंसे युक्त है और शब्द उसका लिङ्ग

मन्यैरपि वादिभिर्भूतसद्भावाश्रयणे किमिति लोकायतिकमतापेक्षया भूतपञ्चकोपन्यास इति ? उच्यते—सांख्यादिभि र्हि प्रधानात् साहङ्कारिकं तथा कालदिगात्मादिकं चान्यदपि वस्तुजातमभ्युपेयते, लोकायतिकैस्तु भूतपञ्चकव्यतिरिक्तं नात्मादिकं किञ्चिदभ्युपगम्यत इत्यतस्तन्मताश्रयणे नैव सूत्रार्थो व्याख्यायत इति ॥७॥

(बोधक) है। इसी तरह दूसरे वादियोंने भी भूतोंका अस्तित्व स्वीकार किया है ऐसी दशामें लोकायतिक मतकी अपेक्षासे ही पांच भूतोंका कथन क्यों किया गया ? (समाधान) कहते हैं कि सांख्य आदि दार्शनिक प्रकृतिसे अहंकारके साथ दूसरे पदार्थोंकी उत्पत्ति तथा काल दिशा और आत्मा आदि दूसरे पदार्थ भी मानते हैं परन्तु लोकायतिक लोग पांच महाभूतोंसे भिन्न आत्मा आदि पदार्थ नहीं मानते हैं इसीलिए लोकायतिक मतकी अपेक्षासे ही सूत्रार्थकी व्याख्या की जाती है ॥७॥
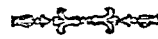
एए पंच महब्भूया, तेब्भो एगोत्ति आहिया।
अह तेसिं विणासेणं, विणासो होइ देहिणो ॥८॥

छाया—एतानि पञ्च महाभूतानि, तेभ्य एक इत्याख्यातवन्तः।
अथ तेषां विनाशेन विनाशो भवति देहिनः ॥

व्या०—(एए) महाभूतका विशेषण सर्वनाम। (पंच) महाभूतका विशेषण। (महब्भूया) कर्ता। (तेब्भो) सर्वनाम अपादानकारक (एगो) सर्वनाम चेतनका बोधक (आहिया) चार्वाकका विशेषण। (अह) अव्यय (तेसिं) विनाशका कर्ता (विणासेणं) हेत्वर्थक तृतीयान्त (विणासो) होइ क्रियाका कर्ता। (होइ) क्रिया (देहिणो) विनाशका कर्ता।

अन्वयार्थ—(एए) ये (पंच) पाँच (महब्भूया) महाभूत हैं। (तेब्भो) इनसे (एगोत्ति) एक-आत्मा उत्पन्न होता है यह (आहिया) वे, कहते हैं। (अह) इसके पश्चात् (तेसिं) उन भूतोंके (विणासेणं) नाशसे (देहिणो) आत्माका (विणासो) नाश (होइ) होता है।

भावार्थ—पूर्व गाथामें कहे हुए पृथिवी आदि पाँच महाभूत हैं। इन पाँच महाभूतोंसे एक आत्मा उत्पन्न होता है ऐसा लोकायतिक कहते हैं। इन महाभूतोंके नाश होनेसे उस आत्माका भी नाश हो जाता है यह वे मानते हैं।

टीका—यथा चैतत् तथा दर्शयितुमाह—एए पंच मब्भूया इत्यादि। 'एतानि' अनन्तरोक्तानि पृथिव्यादीनि पञ्च महाभूतानि यानि, तेभ्यः कायाकारपरिणतेभ्य एकः कश्चिच्चिद्रूपो भूताव्यतिरिक्त आत्मा भवति। न भूतेभ्यो व्यतिरिक्तोऽपरः कश्चित् परपरिकल्पितः परलोकानुयायी सुखदुःखभोक्ता जीवाख्यः पदार्थोऽस्तीत्येवमाख्यातवन्तस्ते। तथा (ते) हि एवं प्रमाणयंति—न पृथिव्यादिव्यतिरिक्त आत्माऽस्ति तद्ग्राहकप्रमाणाभावात् प्रमाणञ्चात्र प्रत्यक्षमेव, नानुमानादिकं, तत्रेन्द्रियेण साक्षादर्थस्य सम्बन्धाभावाद् व्यभिचारसंभवः। सति च व्यभिचारसंभवे सदृशे च बाधासंभवे तल्लक्षणमेव दूषितं स्यादिति सर्वत्रानाश्वासः। तथाचोक्तम्—"हस्तस्पर्शादिवान्धेन विषमे पथि धावता। अनुमानप्रधानेन विनिपातो न दुर्लभः" १। अनुमानञ्चात्रोपलक्षण मागमादीनामपि, साक्षादर्थसंबंधाभावाद्धस्तस्पर्शनेनेव प्रवृत्तिरिति।

टीकार्थ—जिस प्रकार यह लोकायतिक मत है वैसा दिखानेके लिए सूत्रकार कहते हैं—"एए पंच मब्भूया इत्यादि"।

पूर्वोक्त पृथिवी आदि, जो पाँच महाभूत हैं इनके शरीर रूपमें परिणत होनेपर भूतोंसे अभिन्न ज्ञानस्वरूप एक आत्मा उत्पन्न होता है। अतः दूसरे वादियों द्वारा कल्पित, पाँच भूतोंसे भिन्न, परलोकमें जानेवाला, सुख दुःख भोगनेवाला, जीव नामक कोई दूसरा पदार्थ नहीं है यह लोकायतिक लोग कहते हैं। वे लोग इसको इस प्रकार प्रमाणित करते हैं—"पृथिवी आदिसे भिन्न 'आत्मा' नामका कोई पदार्थ नहीं है क्योंकि उसका बोधक कोई प्रमाण नहीं मिलता है। प्रमाण भी एकमात्र प्रत्यक्ष ही है। अनुमान आदि प्रमाण नहीं है क्योंकि अनुमान आदिमें पदार्थका इन्द्रियके साथ साक्षात् सम्बन्ध नहीं होता है इसलिए उनका मिथ्या होना संभव है। जब कि अनुमान आदि मिथ्या भी हो सकते हैं तथा उनमें बाध और असंभव दोष भी हो सकते हैं तो उनमें प्रमाणका लक्षण नहीं घटता है और प्रमाणका लक्षण न घटनेसे किसी भी अनुमान आदिमें विश्वास नहीं किया जा सकता है। कहा भी है—(हस्तस्पर्शादिव) जैसे विषममार्गमें, हाथके स्पर्शसे दौड़ता हुआ अंधा मनुष्यका गिरना दुर्लभ नहीं है इसी तरह अनुमानके बलसे पदार्थकी सिद्धि करनेवाले पुरुषसे भूल होना कोई कठिन नहीं है। यहाँ 'अनुमान' आगम आदिका भी उपलक्षण है। आगम आदिमें भी पदार्थका इन्द्रियके साथ साक्षात् सम्बंध न होनेके कारण हाथके स्पर्शसे अंधा मनुष्यके समान ही प्रवृत्ति

तस्मात् प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणं तेन च भूतव्यतिरिक्तस्यात्मनो न ग्रहणं, यत्तु चैतन्यं तेषूपलभ्यते, तद्भूतेष्वेव कायाकारपरिणतेष्वभिव्यज्यते, मद्याङ्गेषु समुदितेषु मदशक्तिवदिति। तथा न भूतव्यतिरिक्तं चैतन्यं तत्कार्य्यत्वाद्, घटादिवदिति। तदेवं भूतव्यतिरिक्तस्याऽऽत्मनोऽभावाद्भूतानामेव चैतन्याभिव्यक्तिः जलस्य बुद्बुदाभिव्यक्तिवदिति। केषाञ्चिल्लोकायतिकानामाकाशस्याऽपि भूतत्वेनाभ्युपगमाद्भूतपञ्चकोपन्यासो न दोषायेति। ननु च यदि भूतव्यतिरिक्तोऽपरः कश्चिदात्माख्यः पदार्थो न विद्यते कथं तर्हि मृत इति व्यपदेश इत्याशङ्क्याह—अथैषां कायाकारपरिणतौ चैतन्याभिव्यक्तौ सत्यां तदूर्ध्वं तेषामन्यतमस्य विनाशेऽपगमे वायोस्तेजसश्चोभयो र्वा देहिनो देवदत्ताख्यस्य विनाशोऽपगमो भवति, ततश्च मृत इति व्यपदेशः प्रवर्तते न पुनर्जीवापगम इति भूताव्यतिरिक्तचैतन्यवादिपूर्वपक्ष इति। अत्र प्रतिसमाधानार्थं निर्युक्तिकृदाह—

"पञ्चण्हं संजोए अण्णगुणाणं च चेयणाइगुणो।
पंचिंदियठाणाणं ण अण्णमुणियं मुणइ अण्णो" ॥३३॥

होती है। तस्मात् प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है। उस प्रत्यक्षके द्वारा भूतोंसे भिन्न आत्माका ग्रहण नहीं होता है। शरीरके रूपमें परिणत पंच महाभूतोंके समूहमें जो चैतन्य पाया जाता है वह, शरीरके रूपमें परिणत पंचमहाभूतोंसे ही प्रकट होता है, जैसे मद्यके अंगोंके मिलनेपर उनमें मदशक्ति प्रकट होती है। तथा चैतन्यशक्ति, पंचमहाभूतोंसे भिन्न नहीं है क्योंकि वह, पंचमहाभूतोंका ही कार्य्य है। जैसे पृथिवीसे उत्पन्न घटादि कार्य्य पृथिवीसे भिन्न नहीं है। इस प्रकार पञ्चमहाभूतोंसे भिन्न आत्मा न होनेके कारण पञ्चमहाभूतोंसे ही चैतन्य शक्ति प्रकट होती है, जैसे जलसे बुदबुद आदि प्रकट होते हैं। कोई लोकायतिक, आकाशको भी भूत मानते हैं इसलिए इस गाथामें पाँच भूतोंका कथन दोषके लिए नहीं है। (शङ्का) यदि पाँच भूतोंसे भिन्न कोई आत्मा नामका पदार्थ नहीं है तो "वह मर गया" यह व्यवहार कैसे हो सकता है ? (समाधान) शरीरके रूपमें परिणत पञ्चमहाभूतोंसे चैतन्य शक्ति प्रकट होनेके पश्चात् उन महाभूतोंमें से किसीके नाश होनेपर वायु अथवा तेज अथवा दोनोंके हट जानेपर देवदत्त नामक देहीका नाश होता है, इसी कारण "वह मर गया" यह व्यवहार होता है परन्तु कोई जीव नामक पदार्थ शरीरसे अलग चला जाता है यह नहीं है। यही भूतोंसे अभिन्न चैतन्यशक्ति माननेवाले लोकायतिकोंका पूर्वपक्ष है।

पञ्चानां पृथिव्यादीनां भूतानां संयोगे कायाकारपरिणामे चैतन्यादिक आदिशब्दात् भाषाचङ्क्रमणादिकश्च गुणो न भवतीति प्रतिज्ञा, अन्यादयस्त्वत्र हेतुत्वेनोपात्ताः, दृष्टान्तस्त्वभ्यूह्यः, सुलभत्वात्तस्य नोपादानम्।

तत्रेदं चार्वाकः प्रष्टव्यः—यदेतद्भूतानां संयोगे चैतन्य मभिव्यज्यते तत्किं तेषां संयोगेऽपि स्वातन्त्र्य एवाहोस्वित् परस्परापेक्षया पारतन्त्र्य इति ?। किंचातः ?। न तावत्स्वातन्त्र्ये, यत आह "अण्णगुणाणं चेति" चैतन्यादन्ये गुणा येषां तान्यन्यगुणानि तथाहि—आधारकाठिन्यगुणा पृथिवी द्रवगुणा आपः पक्तृगुणं तेजः, चलनगुणो वायुः, अवगाहदान गुणमाकाशमिति। यदिवा प्रागभिहिता गन्धादयः पृथिव्यादीनामेकैक

इस मतका समाधान देनेके लिए निर्युक्तिकार कहते हैं—(पञ्चण्हं) पृथिवी आदि पाँच महाभूतोंके परस्पर संयोग होनेपर अर्थात् शरीररूपमें परिणत होनेपर उनसे चैतन्यगुण तथा आदि शब्दसे बोलना चलना आदि गुण भी उत्पन्न नहीं हो सकते हैं, यह निर्युक्तिकार प्रतिज्ञा करते हैं। इस गाथामें कहे हुए 'अन्य' आदि, हेतुरूपसे कहे गए हैं। दृष्टान्त स्वयं जान लेना चाहिए, वह सुलभ होनेके कारण नहीं कहा गया है। ❀

इस विषयमें चार्वाकसे यह पूछना चाहिए कि—भूतोंका संयोग होनेपर जो यह चैतन्यशक्ति प्रकट होती है वह, क्या इन भूतोंके संयोग होनेपर भी स्वतन्त्रतासे ही प्रकट होती है अथवा परस्पर संयोगकी अपेक्षा परतन्त्रतासे प्रकट होती है ?। इससे क्या ?। समाधान यह है कि—पञ्चभूत, स्वतन्त्रतासे चैतन्यशक्तिको नहीं प्रकट कर सकते हैं, अतएव निर्युक्तिकार कहते हैं कि (अण्णगुणाणं च) अर्थात् जिनका गुण चैतन्यसे अन्य है वे 'अन्यगुण' कहलाते हैं। (पृथिवी आदि, अन्य गुणवाले हैं) क्योंकि आधार देना और काठिन्य, पृथिवीका गुण है। जलका गुण द्रवत्व है। तेजका गुण पाचन है वायुका गुण चलन है अवगाहदान—स्थान देना—आकाशका गुण है। अथवा पूर्वोक्त गन्ध आदि क्रमशः एक एकको छोड़कर पृथिवी

---

* पांच महाभूतोंके संयोगसे चैतन्य गुण नहीं उत्पन्न हो सकता है क्योंकि पांच महाभूतोंका चैतन्य गुण नहीं है। अन्य गुणवाले पदार्थोंके संयोगसे अन्य गुणवाले पदार्थकी उत्पत्ति नहीं होती है जैसे बालुकी ढेरसे तेल पैदा नहीं होता है। बालुमें स्निग्ध गुण न होनेके कारण जैसे उससे तेल पैदा नहीं होता है उसी तरह पांच महाभूतोंमें चैतन्य न होनेके कारण उनके संयोगसे चैतन्य गुण नहीं उत्पन्न हो सकता है यह निर्युक्तिकारका आशय है।

परिहान्याऽन्ये गुणाश्चैतन्यादिति, तदेवं पृथिव्यादीन्यन्यगुणानि। 'च' शब्दो द्वितीयविकल्पवक्तव्यतासूचनार्थः चैतन्यगुणे साध्ये पृथिव्यादीनामन्यगुणानां सतां चैतन्यगुणस्य पृथिव्यादीनामेकैकस्याप्यभावान्न तत्समुदायाच्चैतन्याख्यो गुणः सिद्ध्यतीति। प्रयोगस्त्वत्र—भूतसमुदायः स्वातन्त्र्ये सति धर्मित्वेनोपादीयते, न तस्य चैतन्याख्योगुणोऽस्तीति साध्यो धर्मः, पृथिव्यादीनामन्यगुणत्वात्, योयोऽन्यगुणानां समुदायस्तत्र तत्रा पूर्वगुणोत्पत्ति र्न भवतीति। यथा सिकतासमुदाये स्निग्धगुणस्य तैलस्य नोत्पत्तिरिति, घटपटसमुदाये वा न स्तम्भाद्याविर्भाव इति, दृश्यते च काये चैतन्यं तदात्मगुणो भविष्यति न भूतानामिति। अस्मिन्नेव साध्ये हेत्वन्तरमाह "पंचिंदियठाणाणं"त्ति, पञ्च च तानि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुः श्रोत्राख्यानीन्द्रियाणि तेषां स्थानानि—अवकाशास्तेषां चैतन्यगुणाभावान्नभूतसमुदाये चैतन्यम्—इदमत्र हृदयं—लोकायतिकानां हि अपरस्य द्रष्टुरनभ्युपगमादिन्द्रियाण्येव द्रष्टॄणि, तेषां च यानि स्थानानि उपादान-

---

आदिके गुण हैं। ये गुण चैतन्यसे भिन्न हैं। इस प्रकार पृथिवी आदि पदार्थ चैतन्यसे भिन्न गुणवाले हैं। इस गाथामें कहा हुआ 'च' शब्द, दूसरे विकल्पके वक्तव्यको सूचित करता है। चार्वाकको पृथिवी आदिसे चैतन्य गुणकी उत्पत्ति सिद्ध करनी है परन्तु पृथिवी आदि महाभूतोंका गुण चैतन्यसे भिन्न है। इस प्रकार इन भूतोंमें जब कि प्रत्येकका चैतन्य गुण नहीं है तब फिर इनके समुदायसे भी चैतन्य गुणकी सिद्धि नहीं हो सकती है। यहाँ अनुमानका प्रयोग इसप्रकार करना चाहिए। स्वतन्त्र भूतसमुदाय धर्मी—पक्ष-रूपसे ग्रहण किया जाता है और उस भूत समुदायका गुण चैतन्य नहीं है, यह साध्य धर्म है। पृथिवी आदिका गुण चैतन्यसे भिन्न है, (यह हेतु है) भिन्नगुणवाले पदार्थोंका जो जो समुदाय है उस-उस समुदायमें अपूर्वगुणकी उत्पत्ति नहीं होती है, जैसे वालुकी ढेरसे स्निग्धगुणवाले तेलकी उत्पत्ति नहीं होती है, अथवा घट-पटके समुदायसे खम्भा आदिकी उत्पत्ति नहीं होती है। शरीरमें चैतन्य देखा जाता है वह चैतन्य, आत्माका ही गुण हो सकता है भूतोंका नहीं। यही सिद्ध करनेके लिए निर्युक्तिकार दूसरा हेतु भी वतलाते हैं—(पंचिंदियठाणाणं) स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षुः और श्रोत्ररूप पांच इन्द्रियोंके जो उपादान कारण हैं उनका गुण चैतन्य न होनेसे भूतसमुदायका गुण चैतन्य नहीं हो सकता है। यहाँ कहनेका आशय यह है—लोकायतिक लोग, इन्द्रियोंसे भिन्न कोई द्रष्टा नहीं मानते हैं इसलिए उनके मतमें इन्द्रिय ही द्रष्टा हैं

कारणानि तेषामचिद्रूपत्वान्न भूतसमुदाये चैतन्यमिति। इन्द्रियाणाञ्चामूनि स्थानानि, तद्यथाश्रोत्रेन्द्रियस्याकाशं सुषिरात्मकत्वात्, घ्राणेन्द्रियस्य पृथिवी तदात्मकत्वात्, चक्षुरिन्द्रियस्य तेज स्तद्रूपत्वात्, एवं रसनेन्द्रियस्यापः स्पर्शनेन्द्रियस्य वायुरिति। प्रयोगश्चात्र नेन्द्रियाण्युपलब्धिमन्ति, तेषामचेतनगुणारब्धत्वात्, यद्यदचेतनगुणारब्धं तत्तदचेतनं यथा घटपटादीनि, एवमपि च भूतसमुदाये चैतन्याभाव एव साधितो भवति। पुनर्हेत्वन्तरमाह—"ण अण्णमुणियं मुणइ अण्णोत्ति" इहेन्द्रियाणि प्रत्येकभूतात्मकानि तान्येवापरस्य द्रष्टुरभावाद् द्रष्टॄणि, तेषाञ्च प्रत्येकं स्वविषयग्रहणादन्यविषये चाप्रवृत्तेर्नान्यदिन्द्रियज्ञातमन्यदिन्द्रियं जानातीति, अतो मया पञ्चाऽपि विषया ज्ञाता इत्येवमात्मकः संकलनाप्रत्ययो न प्राप्नोति, अनुभूयते चायं, तस्मादेकेनैव द्रष्ट्रा भवितव्यम्, तस्यैव च चैतन्यं न भूतसमुदायस्येति। प्रयोगः पुनरेवं—न भूतसमुदाये चैतन्यं

उन इन्द्रियोंके जो उपादान कारण हैं वे ज्ञानरूप नहीं हैं इसलिए भूतसमुदायका गुण चैतन्य नहीं हो सकता है। इन्द्रियोंके उपादान कारण ये हैं—श्रोत्रेन्द्रियका उपादान आकाश है क्योंकि श्रोत्रेन्द्रिय छिद्ररूप है। घ्रणेन्द्रियका उपादान पृथिवी है क्योंकि घ्राणेन्द्रिय पृथिवीस्वरूप है। चक्षुरिन्द्रियका उपादान तेज है क्योंकि चक्षुरिन्द्रिय तेजोरूप है। इसी तरह रसनेन्द्रियका जल और स्पर्शनेन्द्रियका वायु उपादान कारण है। यहाँ अनुमानका प्रयोग इस प्रकार करना चाहिए—इन्द्रियाँ चैतन्य गुणवाली नहीं हैं क्योंकि वे अचेतन गुणवाले पदार्थोंसे बनी हैं। अचेतन गुणवाले पदार्थोंसे जो जो बना होता है वह, सब अचेतन गुणवाला होता है जैसे घट:पट आदि। इस प्रकार भी भूतसमुदायमें चैतन्य गुणका अभाव सिद्ध होता है फिर निर्युक्तिकार दूसरा हेतु बतलाते हैं—(ण अण्णमुणियं मुणइअण्णो) इन्द्रियाँ प्रत्येक भूतस्वरूप हैं। चार्वाकके मतमें दूसरा द्रष्टा न होनेके कारण वे ही द्रष्टा है। वे इन्द्रियाँ, प्रत्येक अपने-अपने विषयको ही ग्रहण करती हैं। दूसरी इन्द्रियके विषयको दूसरी इन्द्रिय ग्रहण नहीं करती है इसलिए अन्य इन्द्रिय द्वारा ज्ञात अर्थको अन्य इन्द्रिय नहीं जान सकती है ऐसी दशामें "मैंने पांच ही विषय जाने" यह सम्मेलनात्मक ज्ञान चार्वाकके मतमें नहीं हो सकता है। परन्तु यह सम्मेलनात्मक ज्ञान अनुभव किया जाता है इसलिए इन्द्रियोंसे भिन्न कोई एक द्रष्टा अवश्य होना चाहिए। उस द्रष्टाका ही चैतन्य गुण है भूत समुदायका नहीं। यहाँ अनुमानका प्रयोग यह है—"भूत समुदायका चैतन्यगुण नहीं है, क्योंकि भूतोंसे

तादात्म्येन्द्रियाणां प्रत्येकविषयग्राहित्वे सति संकलनाप्रत्ययाभावात्, यदि पुनरन्यगृहीतमप्यन्यो गृह्णीयाद् देवदत्तगृहीतं यज्ञदत्तेनाऽपि गृह्येत, न चैतद् दृष्टमिष्टं वेति। ननु च स्वातन्त्र्यपक्षेऽयं दोषः, यदा पुनः परस्परसापेक्षाणां संयोगपारतन्त्र्याभ्युपगमेन भूतानामेव समुदितानां चैतन्याख्यो धर्मः संयोगवशादविर्भवति, यथा किण्वोदकादिषु मद्याङ्गेषु समुदितेषु प्रत्येक मविद्यमानाऽपि मदशक्तिरिति, तदा कुतोऽस्य दोषस्यावकाश इति? अत्रोत्तरं गाथोपात्तचशब्दाक्षिप्तमभिधीयते—यत्तावदुक्तं यथा 'भूतेभ्यः परस्परसव्यपेक्षसंयोगभाग्भ्यश्चैतन्यमुत्पद्यते, तत्र विकल्पयामः—किमसौ संयोगः संयोगिभ्यो भिन्नोऽभिन्नो वा? भिन्नश्चेत्षष्ठभूतप्रसङ्गो, नचान्यत् पञ्चभूतव्यतिरिक्तसंयोगाख्यभूतग्राहकं भवतां प्रमाणमस्ति प्रत्यक्षस्यैवैकस्याभ्युपगमात्, तेन च तस्याग्रहणात्,

---

बनी हुई इन्द्रियाँ, एक-एक विषयका ग्राहक होकर भी सब विषयोंके मेलनरूप ज्ञानको नहीं उत्पन्न कर सकती हैं। यदि दूसरे द्वारा जाने हुए अर्थको दूसरा भी जाने, तो देवदत्त द्वारा जाने हुए अर्थको यज्ञदत्त भी जानने लगेगा परन्तु यह देखा नहीं जाता है और इष्ट भी नहीं है।

शङ्का—"शरीर रूपमें परिणत महाभूत, स्वतन्त्ररूपसे चैतन्यगुण उत्पन्न करते हैं" इस पक्षमें यह दोष है परन्तु जब मिले हुए पञ्चमहाभूत परस्पर की अपेक्षासे अर्थात् परस्पर संयोगके कारण चैतन्यगुण उत्पन्न करते हैं, जैसे मिले हुए मद्यके अङ्ग किण्व और जल आदि, परस्पर संयोगके कारण प्रत्येकमें न रहनेवाली भी मदशक्तिको उत्पन्न करते हैं, यह पक्ष माना जाता है तब पूर्वोक्त दोषका कहाँ अवकाश है?।

समाधान—इसका उत्तर गाथामें आये हुए 'च' शब्दसे आक्षेप करके दिया जाता है—यह जो तुमने कहा है कि "मिले हुए पञ्च महाभूतोंसे परस्पर संयोगके कारण चैतन्य गुण उत्पन्न होता है" इसका समाधान हम विकल्पके द्वारा देते हैं। मिले हुए पञ्चमहाभूत, जिस संयोगके कारण चैतन्य गुण उत्पन्न करते हैं वह संयोग. उन पञ्च महाभूतोंसे भिन्न है अथवा अभिन्न है? यदि वह संयोग उन महाभूतोंसे भिन्न है तब तो छट्ठाभूत एक, संयोग भी होना चाहिए परन्तु तुम्हारे मतमें पांच महाभूतोंसे भिन्न संयोगनामक छट्ठे भूतको ग्रहण करानेवाला कोई प्रमाण नहीं है क्योंकि तुमने एकमात्र प्रत्यक्षको ही प्रमाण माना है और उस प्रत्यक्षसे संयोगका ग्रहण नहीं हो सकता है। यदि उस संयोगको ग्रहण करनेके

प्रमाणान्तराभ्युपगमे च तेनैव जीवस्याऽपि ग्रहणमस्तु । अथ अभिन्नो भूतेभ्यो संयोगः, तत्राप्येतच्चिन्तनीयम्—किं भूतानि प्रत्येकं चेतनावन्त्य चेतनावन्तिवा ? यदि चेतनावन्ति तदा एकेन्द्रियसिद्धिः, तथा (च) समुदायस्य पञ्चप्रकारचैतन्यापत्तिः । अथाचेतनानि, तत्र चोक्तोदोषो, नहि यद्यत्र प्रत्येकमविद्यमानं तत् तत्समुदाये भवदुपलभ्यते, सिकतासु तैलवदित्यादिना । यदप्यत्रोक्तं—यथा मद्याङ्गेष्वविद्यमानाऽपि प्रत्येकं मदशक्तिः समुदाये प्रादुर्भवतीति, तदप्ययुक्तं, यतस्तत्र किण्वादिषु या च यावती च शक्ति रुपलभ्यते, तथाहि—किण्वे बुभुक्षापनयनसामर्थ्यं भ्रमिजननसामर्थ्यञ्च, उदकस्य तृडपनयनसामर्थ्य मित्यादिनेति, भूतानाञ्च प्रत्येकं चैतन्यानभ्युपगमे दृष्टान्त दार्ष्टान्तिकयोरसाम्यम् । किञ्च—भूतचैतन्याभ्युपगमे मरणाभावो, मृतकायेऽपि पृथिव्यादीनां भूतानां सद्भावात् । नैतदस्ति तत्र मृतकाये

लिए तुम दूसरा प्रमाण अङ्गीकार करो तब तो उसी दूसरे प्रमाणसे जीवका भी ग्रहण समझो ।

यदि उस संयोगको भूतोंसे अभिन्न कहो तो भी यह सोचना चाहिए कि—प्रत्येक भूत, चेतन हैं अथवा अचेतन हैं ? यदि प्रत्येक भूतोंको चेतन कहो तब एक इन्द्रियकी सिद्धि होगी (भिन्न भिन्न विषयोंको ग्रहण करनेवाली पांच इन्द्रियोंकी सिद्धि न हो सकेगी) ऐसी दशामें पांच भूतोंके समुदायरूप शरीरका चैतन्य, पांच प्रकारका होगा ।

यदि प्रत्येक भूतोंको अचेतन मानो तो इस पक्षमें दोष "जो गुण प्रत्येकमें नहीं है वह उसके समुदासे भी नहीं उत्पन्न होता है जैसे बालुकी ढेरसे तेलकी उत्पत्ति नहीं होती है" इत्यादि ग्रन्थके द्वारा दे दिया गया हैं ।

तथा चार्वाकने जो यह कहा है कि—"मद्यके प्रत्येक अङ्गोंमें न रहनेवाली भी मदशक्ति समुदायसे प्रकट होती हैं" यह भी अयुक्त है क्योंकि किण्व आदि मद्यके अङ्गोंमें कुछ मदशक्ति अवश्य होती है । किण्वमें भूख दूर करनेकी भ्रमि (शिरमें चक्कर) उत्पन्न करनेकी शक्ति होती है । एवं जलमें भी प्यास बुझाने की शक्ति होती है । अतः प्रत्येक भूतोंको चेतन नहीं मानने पर दृष्टान्त और दार्ष्टान्तकी समता नहीं हो सकती है । यदि भूतोंको चेतन मानो तो मरण नहीं हो सकता है क्योंकि मरे हुए शरीरमें भी पञ्च महाभूत विद्यमान रहते हैं । यदि कहो कि "यह नही है क्योंकि मरे हुए शरीरमें वायु या तेज नहीं होते हैं

वायोस्तेजसो वाऽभावान्मरणसद्भाव इत्यशिक्षितस्योल्लापः, तथाहि— मृतकाये शोफोपलब्धेर्न वायोरभावः, कोथस्य च पक्तिस्वभावस्य दर्शनान्नाग्नेरिति। अथ सूक्ष्मः कश्चिद् वायुविशेषोऽग्निर्वा ततोऽपगत इति मतिरिति एवञ्च जीव एव नामान्तरेणाभ्युपगतो भवतीति, यत्किञ्चिदेतत्। तथा न भूतसमुदायमात्रेण चैतन्याविर्भावः, पृथिव्यादिष्वेकत्र व्यवस्थापितेष्वपि चैतन्यानुपलब्धेः। अथ कायाकारपरिणतौ सत्यां तदभिव्यक्तिरिष्यते, तदपि न, यतो लेप्यमयप्रतिमायां समस्तभूतसद्भावेऽपि जडत्वमेवोपलभ्यते। तदेव मन्वयव्यतिरेकाभ्यामालोच्यमानो नायं चैतन्याख्यो गुणो भूतानां भवितु मर्हति। समुपलभ्यते चायं शरीरेषु, तस्मात् पारिशेष्यात् जीवस्यैवायमिति स्वदर्शनपक्षपातं विहायाङ्गीक्रियतामिति। यच्चोक्तं प्राक्—'न पृथिव्यादिव्यतिरिक्त आत्माऽस्ति, तद्ग्राहकप्रमाणाभावात्, प्रमाणश्चात्र प्रत्यक्षमेवैकमित्यादि, तत्र प्रतिविधीयते—यत्तावदुक्तं 'प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणं नानुमानादिक' मित्येतदनुपासितगुरोर्वचः,

---

इस लिए मरण होता है" तो यह अशिक्षित पुरुषका प्रलाप है क्योंकि मरे हुए शरीरमें सूजन पाई जाती है इसलिए उसमें वायुका अभाव नहीं है। तथा पाचनस्वरूप कोथ (मावाद उत्पन्न होना) तेजका कार्य्य है इसलिए उसमें अग्निका भी अभाव नहीं है। यदि कहो कि "उस शरीरसे कोई सुक्ष्म वायु अथवा सूक्ष्म तेज निकल जाता है इसलिए मरण होता है" तो इस प्रकार तुम दूसरे नामसे जीवको ही स्वीकार करते हो इसलिए यह कोई दूसरी वात नहीं है?

तथा भूतोंके समुदायमात्रसे चैतन्यगुणकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है क्योंकि पृथिवी आदि भूतोंको एकत्र कर देनेपर उनसे चैतन्यगुण नहीं उत्पन्न होता है। यदि कहो कि "शरीररूपमें परिणत होनेपर पञ्चमहाभूतोंसे चैतन्यगुणकी उत्पत्ति होती है तो यह भी नहीं है क्योंकि दीवालपर लिपकर बनाई हुई लेप्यमयप्रतिमामें समस्त भूतोंके होनेपर भी जड़ता ही पाई जाती है (चैतन्य नहीं पाया जाता) अतः पूर्वोक्त रीतिसे अन्वयव्यतिरेकके द्वारा विचार करनेपर भूतोंका धर्म चैतन्यगुण नहीं हो सकता है परन्तु यह शरीरोंमें पाया जाता है अतः पारिशेष्यात् यह जीवका ही गुण है भूतोंका नहीं, अतः अपने दर्शनका पक्षपात छोड़कर तुमको यह स्वीकार करना चाहिए।

लोकायतिकने पहले जो यह कहा है कि—"पृथिवी आदि भूतोंसे भिन्न आत्मा नहीं है क्योंकि उस आत्माका बोधक कोई प्रमाण नहीं मिलता है और प्रमाण भी एकमात्र प्रत्यक्ष ही है इत्यादि" इसका समाधान दिया जाता है—यह जो कहा है

तथाहि—अर्थाविसंवादकं प्रमाण मित्युच्यते, प्रत्यक्षस्य च प्रामाण्यमेवं व्यवस्थाप्यते—काश्चित्प्रत्यक्षव्यक्तीर्धर्मित्वेनोपादाय प्रमाणयति—प्रमाणमेताः, अर्थाविसंवादकत्वाद्, अनुभूतप्रत्यक्षव्यक्तिवत्, न च ताभिरेव प्रत्यक्षव्यक्तिभिः स्वसंविदिताभिः परं व्यवहारयितुमयमीशः, तासां स्वसंविन्निष्ठत्वान्मूकत्वाच्च प्रत्यक्षस्य। तथा नानुमानं प्रमाण मित्यनुमाने नैवानुमाननिरासं कुर्वंश्चार्वाकः कथं नोन्मत्तः स्याद्? एवं ह्यसौ तदप्रमाण्यं

कि "एकमात्र प्रत्यक्ष ही प्रमाण है दूसरे अनुमान आदि प्रमाण नहीं हैं" यह गुरुकी उपासना नहीं किए हुए पुरुषका प्रलाप है। जो अर्थको ठीक ठीक बतलाता है उसे प्रमाण कहते हैं। प्रत्यक्ष, प्रमाण है यह भी इस प्रकार बताया जाता है—किन्हीं प्रत्यक्ष व्यक्तियोंको धर्मी (पक्ष) रूपसे लेकर उनकी प्रमाणता इस प्रकार सिद्ध की जाती है कि—"ये, प्रमाण हैं, क्योंकि ये प्रत्यक्ष व्यक्ति, अर्थको ठीक ठीक बतलाती हैं, जैसे अनुभव की हुई प्रत्यक्षव्यक्ति।" जो प्रत्यक्षव्यक्ति, अपने आत्मामें ज्ञात है उसके द्वारा वह प्रत्यक्षकर्ता दूसरेके प्रति व्यवहार नहीं कर सकता है क्योंकि वह प्रत्यक्षव्यक्ति, उस प्रत्यक्षकर्ताकी ही बुद्धिमें स्थित है और प्रत्यक्ष मूक* होता है। तथा "अनुमान प्रमाण नहीं है" यह भी अनुमानके द्वारा ही अनुमानका खण्डन करता हुआ चार्वाक कैसे उन्मत्त नही हो सकता है? चार्वाक, अनुमानको

---

* अपना प्रत्यक्ष, अपने ही अनुभवमें आता है, दूसरेकी बुद्धिमें नहीं आ सकता है और ऐसा कोई साधन भी नहीं है जिससे अपना प्रत्यक्ष दूसरेकी बुद्धिमें भी स्थापित किया जा सके। वाणी द्वारा समझा कर अपना प्रत्यक्ष दूसरेको बताया जाता है और उससे श्रोताको ज्ञान भी होता है परन्तु वह ज्ञान, प्रत्यक्ष नहीं है वह तो शब्द सुननेसे उसके अर्थका ज्ञान है, उसे शाब्दबोध कहते हैं। प्रत्यक्षज्ञान वह है जो अपनी इन्द्रियोंके द्वारा अपने अनुभवमें आता है। वह अनुभव अपनी ही बुद्धिमें रहता है, दूसरेकी बुद्धिमें नहीं रखा जा सकता है इसलिए प्रत्यक्षज्ञानको गूंगेकी तरह कहते हैं। वह प्रत्यक्ष, प्रमाण है यह बात प्रत्यक्ष कर्ता ही जानता है दूसरा पुरुष नहीं जानता है क्योंकि दूसरे पुरुषकी बुद्धिमें वह प्रत्यक्ष स्थित नहीं है, अतः दूसरे पुरुषके प्रति अपने प्रत्यक्षकी प्रमाणता वाणी द्वारा कहकर समझाई जाती है। वह वाणी अनुमानके अङ्गस्वरूप पञ्चावयवात्मक वाक्य है। जैसे कि—"मेरा यह प्रत्यक्ष, प्रमाण है क्योंकि यह अर्थको ठीक ठीक बतलाता है, जैसे मेरा अनुभव किया हुआ पटप्रत्यक्ष। मेरा अनुभव किया हुआ पटप्रत्यक्षने जैसे सत्य अर्थको बताया था इसी तरह यह घटप्रत्यक्ष भी सत्य अर्थको बताता है, अतः सत्य अर्थको बतानेके कारण यह घट प्रत्यक्ष भी प्रमाण है इस प्रकार अपने प्रत्यक्षकी प्रमाणता सिद्ध करनेके लिए अनुमानका आश्रय लेना ही पड़ता है, अतः अनुमानको प्रमाण न मानना अज्ञानका फल है।

प्रतिपादयेद् यथा—नानुमानं प्रमाणं विसंवादकत्वात्, अनुभूतानुमानव्यक्तिवदिति, एतच्चानुमानम्, अथ परप्रसिद्ध्यैतदुच्यते, तदप्ययुक्तं, यतस्तत्परप्रसिद्धमनुमानं भवतः प्रमाणमप्रमाणं वा ?, प्रमाणं चेत्कथमनुमानमप्रमाणमित्युच्यते, अथाप्रमाणं कथमप्रमाणेन सता तेन परः प्रत्याय्यते ?, परेण तस्य प्रामाण्येनाभ्युपगतत्वादिति चेत्, तदप्यसाम्प्रतं, यदि नाम परो मौढ्यादप्रमाणमेव प्रमाणमित्यध्यवस्यति, किं भवताऽतिनिपुणेनाऽपि तेनैवासौ प्रतिपाद्यते ?, योह्यज्ञो गुडमेव विषमिति मन्यते किं तस्य मारयितुकामेनाऽपि बुद्धिमता गुड एव दीयते ?, तदेवं प्रत्यक्षानुमानयोः प्रामाण्याप्रामाण्ये व्यवस्थापयतो भवतोऽनिच्छतोऽपि बलादायातमनुमानस्य प्रामाण्यम् । तथा स्वर्गापवर्गदेवतादेः प्रतिषेधं कुर्वन् भवान् केन प्रमाणेन करोति ?, न तावत्प्रत्यक्षेण प्रतिषेधः कर्त्तुं पार्य्यते, यतस्तत्प्रत्यक्षं प्रवर्तमानं वा तन्निषेधं विदध्यान्निवर्तमानं वा ?, न तावत्प्रवर्तमानं, तस्याभाव

इस प्रकार अप्रमाण कह सकता है, जैसे कि—"अनुमान प्रमाण नहीं है क्योंकि वह अर्थको ठीक ठीक नहीं बतलाता, जैसे अनुभव की हुई अनुमानव्यक्ति ।" परन्तु यह भी अनुमान ही है। यदि कहो कि दूसरे लोग अनुमानको प्रमाण मानते हैं इसलिए उनकी प्रसिद्धिसे हम भी अनुमानका आश्रय लेकर ही अनुमानका खण्डन करते हैं तो यह भी अयुक्त है क्योंकि परमतप्रसिद्ध अनुमान तुम्हारे मतमें प्रमाण है या नहीं ? यदि प्रमाण है तो तुम अनुमानको अप्रमाण कैसे कहते हो ? और यदि अनुमान प्रमाण नहीं है तो उसके द्वारा तुम दूसरेको क्यों समझाते हो ? यदि कहो कि "दूसरा अनुमानको प्रमाण मानता है इसलिए हम अनुमानके द्वारा ही उसे समझाते हैं" तो यह भी असङ्गत है क्योंकि दूसरा पुरुष मूर्खतावश यदि अप्रमाणको ही प्रमाण मानता है तो तुम अति निपुण होकर भी उसी अप्रमाणके द्वारा उसे क्यों समझाते हो ? यदि कोई मूर्ख गुड़को ही विष मानता है तो क्या बुद्धिमान पुरुष भी उसे मारनेके लिए गुड़ ही देता है ? अतः प्रत्यक्षकी प्रमाणता और अनुमानकी अप्रमाणता सिद्ध करते हुए तुम्हारे निकट, तुम्हारी इच्छा न होनेपर भी अनुमानकी प्रमाणता बलात् आ जाती है ।

तथा स्वर्ग और मोक्षका निषेध, तुम किस प्रमाणसे करते हो ? प्रत्यक्ष प्रमाणसे स्वर्ग और मोक्षका निषेध नहीं किया जा सकता है, क्योंकि वह प्रत्यक्ष, स्वर्ग और मोक्षमें प्रवृत्त होकर उनका निषेध करेगा अथवा उनसे निवृत्त होकर ? स्वर्ग और मोक्षमें प्रवृत्त होकर प्रत्यक्ष उनका निषेध नहीं कर सकता है क्योंकि प्रत्यक्षका अभावविषयकवस्तुके साथ विरोध होता है अर्थात् जो वस्तु नहीं है उसमें प्रत्यक्षकी

विषयत्वविरोधात्, नाऽपि निवर्तमानं, यतस्तच्च नाऽस्ति तेन च प्रतिपत्तिरित्यसंङ्गतं, तथाहि—व्यापकविनिवृत्तौ व्याप्यस्याऽपि (वि) निवृत्तिरिष्यते, न चार्वाग्दर्शिप्रत्यक्षेण समस्तवस्तुव्याप्तिः सम्भाव्यते तत्कथं प्रत्यक्षविनिवृत्तौ पदार्थव्यावृत्तिरिति ? तदेवं स्वर्गादेः प्रतिषेधं कुर्वता चार्वाकेणाऽवश्यं प्रमाणान्तरमभ्युगतम्। तथाऽन्याभिप्रायविज्ञानाभ्युपगमादत्र स्पष्टमेव प्रमाणान्तर मभ्युपगतम्, अन्यथा कथं परावबोधाय शास्त्रप्रणयनमकारि चार्वाकेणेत्यलमतिप्रसङ्गेन। तदेवं प्रत्यक्षादन्यदपि प्रमाण मस्ति, तेनाऽऽत्मा सेत्स्यति, किं पुनस्तदितिचेद्, उच्यते, अस्त्यात्मा, असाधारणतद्गुणोपलब्धेः, चक्षुरिन्द्रियवत्, चक्षुरिन्द्रियं हि न साक्षादुपलभ्यते, स्पर्शनादीन्द्रियासाधारणरूपविज्ञानोत्पादनशक्त्यात्वनुमीयते, तथाऽऽत्माऽपि पृथिव्याद्यसाधारणचैतन्यगुणोपलब्धेरस्तीत्यनुमीयते, चैतन्यं च तस्यासाधा-

---

प्रवृत्ति नहीं होती है तुम्हारे मतमें स्वर्ग और मोक्ष आदि जबकि हैं ही नहीं तो उनमें प्रत्यक्षकी प्रवृत्ति कैसे हो सकती है और स्वर्ग तथा मोक्षमें जब कि प्रत्यक्षकी प्रवृत्ति ही नहीं है तो प्रत्यक्ष, प्रवृत्त होकर स्वर्ग और मोक्ष आदिका निषेध कैसे कर सकता है ? प्रत्यक्ष, निवृत्त होकर स्वर्ग और मोक्ष आदिका निषेध करता है यह भी नहीं हो सकता है क्योंकि स्वर्ग आदिका जब प्रत्यक्ष नहीं है तब प्रत्यक्षसे उनका निश्चय हो यह नहीं हो सकता है। बात यह है कि—व्यापक पदार्थकी निवृत्ति होनेपर व्याप्य पदार्थ की भी निवृत्ति मानी जाती है परन्तु सामनेके पदार्थको बतानेवाला प्रत्यक्ष प्रमाण, समस्त वस्तुओंका व्यापक नहीं है अर्थात् वह समस्त पदार्थोंका ज्ञान करानेवाला नहीं है अतः प्रत्यक्षकी निवृत्ति होनेपर पदार्थकी निवृत्ति हो जाय अर्थात् जिसका प्रत्यक्ष नहीं वह वस्तु न हो यह कैसे हो सकता है ? अतः स्वर्ग आदिका प्रतिषेध करता हुआ चार्वाकने अवश्य ही दूसरा प्रमाण भी स्वीकार कर लिया। तथा दूसरेके अभिप्रायका ज्ञान माननेके कारण चार्वाकने स्पष्ट ही दूसरा प्रमाण मान लिया। अन्यथा चार्वाकने दूसरेको समझानेके लिए शास्त्रकी रचना क्यों की है ? अतः इस विषयमें विस्तारकी आवश्यकता नहीं है।

इस प्रकार प्रत्यक्षसे भिन्न दूसरा प्रमाण भी सिद्ध होता है। अतः उस प्रमाणसे आत्मा भी सिद्ध होगा। वह कौनसा प्रमाण है ? कहते हैं—आत्माका अस्तित्व है, क्योंकि उसका असाधारण गुण पाया जाता है, जैसे चक्षुरिन्द्रिय। चक्षुरिन्द्रिय, अति सूक्ष्म होनेके कारण साक्षात् ज्ञात नहीं होती है परन्तु जैसे स्पर्शन आदि इन्द्रियोंसे न होने योग्य रूप विज्ञानको उत्पन्न करनेकी शक्तिसे वह अनुमान की जाती है इसी तरह आत्मा भी पृथिवी आदिमें न होनेवाले चैतन्य गुणको देखकर अनुमान

रणगुणइत्येतत् पृथिव्यादिभूतसमुदाये चैतन्यस्य निराकृतत्वादवसेयम्। तथाऽस्त्यात्मा, समस्तेन्द्रियोपलब्धार्थसङ्कलनाप्रत्ययसद्भावात्, पञ्चगवाक्षाऽन्याऽन्योपलब्धार्थसंकलनाविधाय्येकदेवदत्तवत्। तथाऽऽत्मा, अर्थद्रष्टा नेन्द्रियाणि, तद्विगमेऽपि तदुपलब्धार्थस्मरणात्, गवाक्षोपरमेऽपि तद्द्वारोपलब्धार्थस्मर्तृदेवदत्तवत्। तथा अर्थापत्त्याऽप्यात्माऽस्तीत्यवसीयते। तथाहि—सत्यपि पृथिव्यादिभूत समुदाये

किया जाता है। चैतन्य एकमात्र आत्माका ही गुण है, यह पृथिवी आदि भूत समुदायमें चैतन्य गुणका निराकरण करनेसे जानना चाहिए। तथा आत्मा अवश्य है क्योंकि समस्त इन्द्रियोंके द्वारा जाने हुए अर्थोंका सम्मेलनात्मक* ज्ञान देखा जाता है, जैसे पांच गवाक्षों (खिड़कियों) के द्वारा जाने हुए अर्थोंको मिलानेवाला एक देवदत्त होता है। तथा पदार्थोंका साक्षात्कार करनेवाला आत्मा है, इन्द्रिय नहीं हैं, क्योंकि इन्द्रियके नाश होने पर भी उसके द्वारा जाने हुए अर्थका स्मरण होता है, जैसे गवाक्ष (खिडकी) नष्ट होने पर भी उसके द्वारा जाने हुए अर्थको देवदत्त स्मरण † करता है।

इसी तरह अर्थापत्ति प्रमाणसे भी आत्माका अस्तित्व सिद्ध होता है। जैसेकि—

---

* "मैंने पांच ही विषयोंको जाना" यह ज्ञान, सम्मेलनात्मक ज्ञान है। यह ज्ञान, सब विषयोंको जाननेवाला एक आत्मा माने विना नहीं हो सकता है क्योंकि प्रत्येक इन्द्रिय अपने अपने विषयको ही प्रत्यक्ष करती है। आँख, रूप ही देखती है स्पर्श आदि नहीं जानती तथा स्पर्शनेन्द्रिय स्पर्शको ही प्रत्यक्ष करती है रूप आदिको नहीं जानती, ऐसी दशामें उक्त सम्मेलनात्मक ज्ञान, इन्द्रियोंका नहीं कहा जा सकता है, अतः इन्द्रियोंके द्वारा सब अर्थोंको प्रत्यक्ष करनेवाला एक आत्मा अवश्य मानना चाहिए। वह आत्मा ही सब विषयोंको प्रत्यक्ष करता है और पांच खिड़कियोंके समान पांच इन्द्रियाँ उसके प्रत्यक्षके साधन हैं।

† जो पुरुष, किसी पदार्थको देखता है वही दूसरे समयमें उस पदार्थको स्मरण करता है परन्तु जो देखता नहीं है वह स्मरण नहीं कर सकता है। देवदत्तने जो देखा है उसे वही स्मरण कर सकता है, यज्ञदत्त उसे नहीं स्मरण कर सकता है। देवदत्तने नेत्रद्वारा जिस पदार्थको कभी देखा है उसको वह, नेत्र नष्ट होनेपर भी स्मरण करता है, यह अनुभव सिद्ध है। यदि नेत्र द्वारा पदार्थको देखनेवाला नेत्रसे भिन्न आत्मा नहीं है तो नेत्र नष्ट होनेपर नेत्रके द्वारा देखे हुए अर्थको देवदत्त कैसे स्मरण कर सकता? इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि नेत्र आदि इन्द्रियोंके द्वारा वस्तुका साक्षात्कार करनेवाला इन्द्रियोंसे भिन्न एक आत्मा अवश्य है। जैसे पांच खिड़कियोंके द्वारा देवदत्त वस्तुको प्रत्यक्ष करता है, उसी तरह यह आत्मा पांच इन्द्रियोंके द्वारा रूप आदि विषयोंको प्रत्यक्ष करता है।

लेप्यकर्मादौ न सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नादिक्रियाणां सद्भाव इति, अतः सामर्थ्यादवसीयते—अस्ति भूतातिरिक्तः कश्चित्सुखदुःखेच्छादीनां क्रियाणां समवायिकारणं पदार्थः, सचाऽऽत्मेति, तदेवं प्रत्यक्षानुमानादि पूर्विकाऽन्याऽप्यर्थापत्तिरभ्यूह्या, तस्यास्त्विदं लक्षणम्—

प्रमाणषट्कविज्ञातो, यत्राऽर्थो नान्यथा भवन् ।
अदृष्टं कल्पयेदन्यं, सार्थापत्तिरुदाहृता ॥१॥

तथाऽऽगमादप्यस्तित्वमवसेयं, सचायमागमः "अत्थिमे आया उववाइए" इत्यादि । यदिवा किमत्रापरप्रमाणचिन्तया ? सकल प्रमाण ज्येष्ठेन प्रत्यक्षेणैवात्माऽस्तीत्यवसीयते, तद्गुणस्य ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वात्, ज्ञानगुणस्य च गुणिनोऽनन्यत्वात् प्रत्यक्षएवात्मा, रूपादिगुणप्रत्यक्षत्वेन

लेप्यकर्म आदिमें, पृथिवी आदि भूतसमुदाय होते हुए भी सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न आदि क्रियायें नहीं होती हैं इससे निश्चित होता है कि—सुख दुःख और इच्छा आदि क्रियाओंका समवायीकारण, भूतोंसे भिन्न कोई दूसरा पदार्थ है। वह पदार्थ आत्मा है। इस प्रकार प्रत्यक्ष और अनुमानादिमूलक अर्थापत्ति प्रमाणसे भी आत्माकी सिद्धि समझनी चाहिए।

उस अर्थापत्ति प्रमाणका लक्षण यह है (प्रमाणषट्क) अर्थात् "जिस पदार्थका अन्य पदार्थके विना न होना छः ही प्रमाणोंसे निश्चित है, वह पदार्थ अपनी सिद्धिके लिए जो अन्य अदृष्ट पदार्थकी कल्पना करता है उसे अर्थापत्ति, * कहते हैं" तथा आगमसे भी आत्मा का अस्तित्व जानना चाहिए। वह आगम यह है— (अत्थिमे) अर्थात् "परलोकमें जानेवाला मेरा आत्मा है" इत्यादि। अथवा आत्माका साधन करनेके लिए दूसरा प्रमाण ढूँढनेकी क्या आवश्यकता है ? सब प्रमाणोंमें श्रेष्ठ प्रत्यक्ष प्रमाणसे ही आत्माका अस्तित्व सिद्ध होता है क्योंकि आत्माका ज्ञान गुण, प्रत्यक्ष है और वह ज्ञान गुण, अपना गुणी आत्मा से अभिन्न है। इसलिए आत्मा प्रत्यक्ष ही है, जैसे रूप आदि गुणोंके प्रत्यक्ष होनेसे

---

* "पीनोऽयं देवदत्तः दिवा न भुङ्क्ते" अर्थात् यह मोटा देवदत्त दिनमें नहीं खाता है। बिना खाए कोई मोटा नहीं हो सकता है, यह सभी प्रमाणोंसे निश्चित है। परन्तु यहाँ देवदत्तका दिनमें खाना निषेध किया है और साथ ही उसे मोटा भी कहा है। परन्तु खाए बिना वह मोटा नहीं हो सकता है इसलिए जाना जाता है कि वह रातमें भोजन करता है। यहाँ रातमें देवदत्तका भोजन करना कहा नहीं है तो भी वह अर्थापत्ति प्रमाणसे जाना जाता है। यही अर्थापत्तिका उदाहरण है।

पटादिप्रत्यक्षवत्, तथाहि—अहं सुख्यहं दुःख्येवमाद्यहंप्रत्यक्षग्राह्यश्चात्मा प्रत्यक्षः, अहं प्रत्यक्षस्य स्वसंविद्रूपत्वादिति । ममेदं शरीरं पुराणं कर्मेति च शरीराद् भेदेन निर्दिश्यमानत्वाद् इत्यादीन्यन्यान्यपि प्रमाणानि जीव-सिद्धावभ्यूह्यानीति । तथा यदुक्तं 'न भूतव्यतिरिक्तं चैतन्यं तत्कार्य्यत्वात् घटादिवदि'ति, एतदप्यसमीचीनं, हेतो रसिद्धत्वात्, तथाहि—न भूतानां चैतन्यं कार्य्यं तेषामतद्गुणत्वात्, भूतकार्य्यचैतन्ये संकलनाप्रत्यया संभवाच्च, इत्यादिनोक्तप्रायम्, अतोऽस्त्यात्मा भूतव्यतिरिक्तो ज्ञानाधार इति स्थितम् । ननु च किं ज्ञानाधारभूतेनात्मना ज्ञानाद्भिन्नेनाश्रितेन, यावता ज्ञानादेव सर्वसंकलनाप्रत्ययादिकं सेत्स्यति, किमात्मनान्तर्गडु-कल्पेनेति, तथाहि—ज्ञानस्यैव चिद्रूपत्वाद् भूतै रचेतनैः कायाकार-परिणतैः सह सम्बन्धे सति सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नक्रियाः प्रादुष्ष्यंति, तथा संकलनाप्रत्ययो भवान्तरगमनं चेति तदेवं व्यवस्थिते किमात्मना

पर पट आदिका प्रत्यक्ष होता है। आशय यह है कि—"मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ" इत्यादि "मैं" इस ज्ञानसे ग्रहण किया जाने वाला आत्मा प्रत्यक्ष है क्योंकि "मैं" यह ज्ञान, आत्माका ही ज्ञानरूप है। तथा "मेरा यह शरीर है, मेरा पुराना कर्म है" इत्यादि व्यवहारोंसे आत्मा शरीरसे पृथक् वतलाया जाता है। इसी तरह आत्माकी सिद्धिके लिए दूसरे प्रमाण भी स्वयं जान लेने चाहिए।

तथा चार्वाकोंने जो यह कहा है कि—"चैतन्य पांच महाभूतोंसे भिन्न नहीं है क्योंकि वह महाभूतोंका कार्य्य है जैसे घट आदि" यह भी असङ्गत है क्योंकि इसमें हेतु असिद्ध है। जैसे कि—भूतोंका कार्य्य चैतन्य नहीं है, क्योंकि भूतोंका चैतन्य गुण नहीं है, यह पहले ही "भूतोंका कार्य्य चैतन्य मानने पर 'मैं पाच ही विषयोंको जानता हूँ' यह सम्मेलनात्मक ज्ञान नहीं हो सकता है, इत्यादि ग्रन्थके द्वारा वता दिया गया है। अतः भूतोंसे भिन्न, ज्ञानका आधार आत्मा अवश्य है यह सिद्ध हुआ।

शङ्का—ज्ञानोंका आधारभूत और ज्ञानसे भिन्न आत्मा माननेकी क्या आवश्य-कता है? क्योंकि ज्ञानसे ही सभी सन्मेलनात्मक ज्ञान आदि भी सिद्ध हो सकते हैं अतः शरीरकी मेदग्रन्थिकी तरह एक व्यर्थ आत्मा माननेकी क्या आवश्यकता है?। ज्ञानसे ही सभी व्यवहार हो सकता है यह इसप्रकार समझना चाहिए—ज्ञान ही चैतन्यरूप है उसका, शरीर रूपमें परिणत अचेतन भूतोंके साथ सम्बन्ध होने पर सुख दुःख इच्छा द्वेष और प्रयत्न आदि क्रिया उत्पन्न होती हैं तथा उसीको सन्मेल-

कल्पितेनेति ? अत्रोच्यते, न ह्यात्मान मेक माधारभूत मन्तरेण संकलना प्रत्ययो घटते । तथाहि—प्रत्येक मिन्द्रियैः स्वविषयग्रहणे सति परविषये चा प्रवृत्ते रेकस्य च परिच्छेतुरभावान्मया पञ्चाऽपि विषयाः परिच्छिन्ना इत्यात्मकस्य संकलनाप्रत्ययस्याभाव इति । आलयविज्ञानमेक मस्तीति चे देवं सत्यात्मन एव नामान्तरं भवता कृतं स्यात् । न च ज्ञानाख्यो गुणो गुणिन मन्तरेण भवती त्यवश्यमात्मना गुणिना भाव्यमिति । सच न सर्वव्यापी तद्गुणस्य सर्वत्रानुपलभ्यमानत्वात् घटवत् । नाऽपि श्यामाक तन्दुलमात्रोऽङ्गुष्ठपर्वमात्रो वा, तावन्मात्रस्योपात्तशरीराव्यापित्वात् । त्वक्पर्य्यंतशरीरव्यापित्वेन चोपलभ्यमानगुणत्वात् । तस्मात्स्थितमिदम्—उपात्तशरीरत्वक्पर्य्यन्तव्याप्यात्मेति । तस्य चानादिकर्मसम्बद्धस्य कदाचिदपि सांसारिकस्यात्मनः स्वरूपेऽनवस्थानात् सत्यप्यमूर्त्तत्वे मूर्त्तेन कर्मणा सम्बन्धो न विरुध्यते । कर्मसम्बन्धाच्च सूक्ष्मवादरै

नात्मक ज्ञान होता है और वही ज्ञान दूसरे भवमें भी जाता है। इसप्रकार सब विषयोंकी व्यवस्था हो जाने पर आत्माकी कल्पनाकी क्या आवश्यकता है ?

समाधान—इसका समाधान बताया जाता है। ज्ञानका आधारभूत, ज्ञानसे भिन्न आत्मा माने बिना अनेक वस्तुओंका सम्मेलनात्मक ज्ञान नहीं हो सकता है। जैसे कि—प्रत्येक इन्द्रियाँ अपने विषयको ही ग्रहण करती हैं दूसरी इन्द्रियके विषयको दूसरी इन्द्रिय ग्रहण नहीं करती है ऐसी दशामें सब विषयोंको जानने वाला किसी एक आत्माके न होनेसे "मैने पाँच ही विषय जाने" यह सम्मेलनरूप ज्ञान नहीं हो सकता है। यदि कहो कि एक आलय विज्ञान भी है अतः उससे सम्मेलनात्मक ज्ञान भी होगा तो तुमने आत्माका ही एक दूसरा नाम आलयविज्ञान रखा है। ज्ञान गुण है, वह गुणीके विना नहीं हो सकता है इसलिए ज्ञान गुणका गुणी आत्मा अवश्य होना चाहिये। वह आत्मा सर्वव्यापी नहीं है क्योंकि उसका गुण स्वरूप ज्ञान, सब जगह नहीं पाया जाता है जैसे घटका गुण सर्वत्र नहीं पाया जाता है। तथा वह आत्मा श्यामाक (धान्य विशेष) के दानेके बराबर अथवा अंगूठेके पर्वके समान भी नहीं है क्योंकि इतना छोटा आत्मा, ग्रहण किए हुए शरीरको व्याप्त नहीं सकता है। उस आत्माका, चर्मपर्य्यन्त समस्त शरीरमें व्याप्त होना पाया जाता है अतः सिद्ध होता है कि वह आत्मा चर्मपर्य्यन्त समस्तशरीरव्यापी है। संसारी आत्मा अनादिकालसे कर्ममें बँधा हुआ है। वह कभी भी अपने स्वरूपमें स्थित नहीं है इसलिए अमूर्त्त होनेपर भी उस आत्माका मूर्त कर्मके साथ संबंध

केन्द्रियद्वित्रिचतुष्पञ्चेन्द्रियपर्य्याप्तापर्य्याप्ताद्यवस्था बहुविधाः प्रादुर्भवन्ति। तस्य चैकान्तेन क्षणिकत्वे ध्यानाध्ययनश्रमप्रत्यभिज्ञानाद्यभावः। एकान्त-नित्यत्वे च नारकतिर्यङ्मनुष्यामरगतिपरिणामाभावः स्यात्, तस्मात्स्याद नित्यः स्यान्नित्य आत्मेत्यलमतिप्रसंगेन ॥८॥

होनेमें कोई विरोध नहीं आता है। कर्मके साथ सम्बन्ध होनेके कारण उस आत्माकी सूक्ष्म, वादर, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय, पर्य्याप्त और अपर्याप्त आदि अनेक प्रकारकी अवस्थायें होती हैं। वह आत्मा यदि एकान्त क्षणिक हो तो ध्यान, अध्ययन, श्रम, और प्रत्यभिज्ञा (पहिचानना) आदि नहीं हो सकते हैं और एकान्त नित्य होनेपर नारक, तिर्यक्, मनुष्य और अमरगतिरूप उसका परिणाम नहीं हो सकता है तस्मात् वह आत्मा कथञ्चित् नित्य और कथञ्चित् अनित्य है। अतः इसविषयमें अधिक विस्तारकी आवश्यकता नहीं है ॥८॥

जहा य पुढवीथूभे, एगे नाणाहि दीसइ।
एवं भो! कसिणे लोए, विन्नू नाणाहि दीसइ ॥९॥

छाया—यथा च पृथिवीस्तूप एको नाना हि दृश्यते।
एवं भोः! कृत्स्नो लोकः विद्वान् नाना हि दृश्यते ॥

व्याकरण—(जहाय) अव्यय (पुढवीथूभे) प्रथमान्त दीसइ क्रियाका कर्म (एगे) पुढवीथूभेका विशेषण। (नाणाहि) अव्यय (दीसइ) क्रिया, कर्मवाच्य। (एवं) अव्यय (भोः) सम्बोधनार्थ अव्यय (कसिणे लोए) विन्नूका विशेषण (विन्नू) दीसइ क्रियाका कर्म। (नाणाहि) अव्यय (दीसइ) कर्मवाच्य क्रिया।

अन्वयार्थ—(जहा) जैसे (एगेय) एक ही (पुढवीथूभे) पृथिवीसमूह (नाणाहि) नानारूपोंमें (दीसइ) देखा जाता है। (भो) हे जीवों! (एवं) इसी तरह (विन्नू) आत्मस्वरूप (कसिणे) समस्त (लोए) लोक (नाणाहि) नानारूपोंमें (दीसइ) देखा जाता है।

भावार्थ—जैसे एक ही पृथिवीसमूह, नानारूपोंमें देखा जाता है उसी तरह एक आत्मस्वरूप यह समस्त जगत् नाना रूपोंमें देखा जाता है।

टीका—साम्प्रतमेकात्माद्वैतवादमुद्देशार्थाधिकारप्रदर्शितं पूर्वपक्षयितुमाह—दृष्टान्तबलेनैवार्थस्वरूपावगतेः पूर्वं दृष्टान्तोपन्यासः, यथेत्युपदर्शने, चशब्दोऽपिशब्दार्थे, स च भिन्नक्रम एके इत्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः, पृथिव्येव स्तूपः पृथिव्या वा स्तूपः पृथिवीसंघाताख्योऽवयवी, स चैकोऽपि यथा नानारूपः—सरित्समुद्रपर्वतनगरसन्निवेशाद्याधारतया विचित्रो दृश्यते निम्नोन्नतमृदुकठिनरक्तपीतादिभेदेन वा दृश्यते, न च तस्य पृथिवीतत्त्वस्यैतावता भेदेन भेदो भवति, 'एवम्' उक्तरीत्या 'भो' इति परामन्त्रणे, कृत्स्नोऽपि लोकः—चेतनाचेतनरूप एको विद्वान् वर्त्तते इदमत्र हृदयम्—एक एव ह्यात्मा विद्वान् ज्ञानपिण्डः पृथिव्यादिभूताद्याकारतया नाना दृश्यते, न च तस्यात्मन एतावताऽऽत्मतत्त्वभेदो भवति, तथा चोक्तम् "एक एव हि भूतात्मा, भूते भूते व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव, दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥१॥" तथा 'पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यं उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति, यदेजति यन्नेजति

टीकार्थ—अब सूत्रकार, प्रथम उद्देशकके अर्थाधिकारमें कहे हुए एकात्माद्वैतवादको पूर्वपक्षमें रखते हुए कहते हैं—

दृष्टान्तके बलसे ही पदार्थका स्वरूप जाना जाता है इसलिए सूत्रमें पहले दृष्टान्तका कथन किया है। गाथामें 'यथा' शब्द दृष्टान्तका द्योतक है। 'च' शब्द अपि शब्दके अर्थमें आया है उसका क्रम भिन्न है। इसलिए 'च' शब्दको 'एके' पदके पश्चात् समझना चाहिए। पृथिवीरूप जो समूह है अथवा पृथिवीका समूह रूप जो अवयवी है, वह एक होनेपर भी जैसे नदी, समुद्र, पर्वत, और नगर की स्थितिके आधार आदि रूपसे विचित्र देखा जाता है अथवा नीचा, ऊँचा, मृदु कठिन रक्त और पीत भेदसे नाना प्रकारका देखा जाता है फिर भी इस भेदके कारण उस पृथिवी तत्वका भेद नहीं होता है इसी प्रकार हे शिष्यों! चेतन और अचेतन रूप यह समस्त लोक एक आत्मा ही है। कहनेका आशय यह है कि—एक ही ज्ञानपिण्ड आत्मा, पृथिवी आदि भूतोंके आकारमें नाना प्रकारका देखा जाता है परन्तु इस भेदके कारण उस आत्माके स्वरूपमें कोई भेद नहीं होता है। जैसाकि कहा है—(एक एव हि) एकही आत्मा सभी भूतोंमें स्थित है। वह एक होकर भी जलमें प्रतिम्बित चन्द्रमाके समान नानारूपमें दीखाई देता है। तथा (पुरुष०) इस जगतमें जो हो चुका है और जो आगे होनेवाला है वह सब पुरुष (आत्मा) ही है। वही आत्मा देवत्वका अधिष्ठाता है और वही प्राणियोंके

यद् दूरे यदु अन्तिके यदन्तरस्य सर्वस्य यत्सर्वस्यास्य वाह्यतः' इत्यात्मा द्वैतवादः ॥९॥

भोगके लिए कारणावस्थाको छोड़कर जगत् रूपको धारण करता है ।

'वह गतिशील है और गतिरहित भी है वह दूर है और निकट भी है। वह सबके अन्दर है और वाहर भी है। यह आत्माद्वैतवाद समाप्त हुआ ॥ ९ ॥
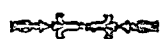
एवमेगेत्ति जप्पंति, मन्दा आरम्भणिस्सिआ ।
एगे किच्चा सयं पावं, तिव्वं दुक्खं नियच्छइ ॥१०॥

छाया—एवमेक इति जल्पन्ति मन्दा आरम्भनिःश्रिताः ।
एके कृत्वा स्वयं पापं, तीव्रं दुःखं नियच्छन्ति ।

व्याकरण—(एवं) अव्यय । (एगे) कर्ता । (त्ति) अव्यय । (जप्पंति) क्रिया । (मन्दा आरम्भणिस्सिआ) कर्ताके विशेषण । (एगे) कर्ता । (सयं) अव्यय । (किच्चा) पूर्वकालिक-क्रिया (पावं) कर्म (तिव्वं) दुःखका विशेषण । (दुक्खं) कर्म (नियच्छइ) क्रिया ।

अन्वयार्थ—(एगे) कोई (मन्दा) अज्ञानी पुरुष (त्ति) एकही आत्मा है यह (जप्पंति) वतलाते हैं। परन्तु (आरंभणिस्सिआ) आरम्भमें आसक्त (एगे) कोई पुरुषही (पावं) पाप (किच्चा) करके (सयं) स्वयं (तिव्वं) तीव्र (दुक्खं) दुःखको (नियच्छइ) प्राप्त करते हैं ।

भावार्थ—कोई अज्ञानी पुरुष, एकही आत्मा है ऐसा कहते हैं लेकिन आरम्भमें आसक्त रहनेवाले जीव ही पाप कर्म करके स्वयं दुःख भोगते हैं दूसरे नहीं ।

टीका—अस्योत्तरदानायाह ।

'एव'मिति अनन्तरोक्तात्माद्वैतवादोपप्रदर्शनम् 'एके' केचन पुरुष-कारणवादिनो 'जल्पन्ति' प्रतिपादयन्ति, किम्भूतास्ते इत्याह—'मन्दा' जडाः सम्यक्परिज्ञानविकलाः, मन्दत्वं च तेषां युक्तिविकलात्माद्वैत-पक्षसमाश्रयणात्, तथाहि—यद्येक एवात्मा स्यान्नात्मबहुत्वं ततो ये सत्त्वाः—प्राणिनः कृषीवलादयः 'एके' केचन आरम्भे-प्राण्युपमर्दनकारिणि

टीकार्थ—इस आत्माऽद्वैतवादका उत्तर देनेके लिए निर्युक्तिकार कहते हैं—

इस गाथामें 'एवं' शब्द, पूर्वोक्त आत्माद्वैतवादको प्रदर्शित करनेके लिये आया है। पुरुष (ब्रह्म) को जगत्का कारण वतानेवाले कोई, इसप्रकार कहते हैं। वे, कैसे हैं, यह सूत्रकार वतलाते हैं—वे मन्द-जड़-अर्थात् सम्यक् विवेकसे रहित हैं। उनकी मूर्खता यह है कि—वे युक्तिरहित एकात्मवादको मानते हैं। एकात्मवाद इसप्रकार युक्तिरहित है—यदि आत्मा एकही है, बहुत

व्यापारे निःश्रिता आसक्ताः सम्बद्धा अध्युपपन्नाः ते च संरम्भसमारम्भारम्भैः कृत्वा उपादाय स्वयमात्मना पापमशुभप्रकृतिरूपमसातोदयफलं तीव्रं दुःखं तदनुभवस्थानं वा नरकादिकं नियच्छतीति । आर्षत्वाद्बहुवचनार्थे एकवचनमकारि ततश्चायमर्थो—निश्चयेन यच्छन्त्यवश्यन्तया गच्छन्ति—प्राप्नुवन्ति तएवारम्भासक्ता नान्य इति, एतन्नस्याद्, अपित्वेकेनापि अशुभे कर्मणि कृते सर्वेषां शुभानुष्ठायिनामपि तीव्रदुःखाभिसम्बन्धः स्याद्, एकत्वादात्मन इति, न चैतदेवं दृश्यते । तथाहि—य एव कश्चिदसमञ्जसकारी स एव लोके तदनुरूपा विडम्बनाः समनुभवन्नुपलभ्यते नान्य इति, तथा सर्वगतत्वे आत्मनो बन्धमोक्षाद्यभावः, तथा प्रतिपाद्यप्रतिपादकविवेकाभावाच्छास्त्रप्रणयनाभावश्च स्यादिति । एतदर्थसंवादित्वात्प्राक्तन्येव निर्युक्तिकृद्गाथाऽत्र व्याख्यायते, तद्यथा—पञ्चानां पृथिव्यादीनां भूताना

नहीं है तो प्राणियोंके विनाश रूप व्यापारमें आसक्त जो किसान आदि प्राणी हैं, वे संरम्भ,* समारम्भ† और आरम्भ‡के द्वारा स्वयं पाप उपार्जन करके अशुभ प्रकृतिरूप असाताका उदयरूप तीव्र दुःखको अथवा तीव्र दुःखके अनुभवस्थान नरक आदिको प्राप्त करते हैं । यहाँ बहुवचनके अर्थमें आर्ष होनेके कारण एकवचन किया है इसलिए इसका यह अर्थ है कि—जो, आरम्भ में आसक्त हैं वे ही नरक आदि स्थानोंको अवश्य प्राप्त करते हैं दूसरे नहीं करते हैं, यह नहीं हो सकता है किन्तु एकके अशुभ कर्म करने पर शुभकर्म करनेवाले सभी पुण्यात्माओं को भी तीव्र दुःख होना चाहिए, क्योंकि सबका आत्मा एक है परन्तु यह नहीं देखा जाता है किन्तु जो पुरुष, निन्दित कर्म करता है वही इस लोकमें उस कर्मके अनुसार फल भोगता हुआ पाया जाता है दूसरा नहीं ।

तथा आत्माको सर्वव्यापी माननेपर बन्ध और मोक्षका अभाव होगा । एवं जिसको शास्त्रका उपदेश किया जाता है और जो शास्त्रका उपदेश करता है उन दोनोंका भेद न रहनेके कारण शास्त्रकी रचना भी नहीं हो सकती है । इस विषयसे मिलनेवाली होनेके कारण पूर्वोक्त निर्युक्तिगाथाका ही यहाँ भी व्याख्यान किया जाता है । जैसेकि—शरीर रूपमें परिणत पृथिवी आदि पांच भूतोंमें चैतन्य पाया जाता है परन्तु यदि एकही

---

* प्राणियोंके विनाशका विचार करना 'संरम्भ' है ।

† जिससे प्राणियोंका विनाश होता है वह व्यापार करना समारम्भ है ।

‡ सावद्य अनुष्ठान करना आरम्भ है ।

मेकत्र कायाकारपरिणतानां चैतन्य मुपलभ्यते, यदि पुनरेक एवात्मा व्यापी स्यात्तदा घटादिष्वपि चैतन्योपलब्धिः स्यात्, न चैवं, तस्मान्नैक आत्मा। भूतानाञ्चान्यान्यगुणत्वं न स्यादेकस्माद्दात्मनोऽभिन्नत्वात्। तथा पञ्चेन्द्रियस्थानानां—पञ्चेन्द्रियाश्रितानां ज्ञानानां प्रवृत्तौ सत्या मन्येन ज्ञात्वा विदित मन्यो न जानातीत्येतदपि न स्याद् यद्येक एवात्मा स्यादिति ॥१०॥

व्यापक आत्मा है तो घट आदिमें भी चैतन्य पाया जाना चाहिए। परन्तु घट आदिमें चैतन्य नहीं पाया जाता है इसलिए आत्मा एक नहीं है। तथा एक आत्मा होनेपर पृथिवी आदि भूतोंका भिन्न भिन्न गुण नहीं हो सकता है क्योंकि वे, एक आत्मासे भिन्न नहीं हैं। तथा यदि एकही आत्मा हो तो पांच इन्द्रियोंके द्वारा ज्ञात होनेवाले रूपादि विषयोंमें दूसरे पुरुषके द्वारा जाने हुए विषयको दूसरा पुरुष नहीं जानता है यह भी नहीं हो सकता* है ॥१०॥
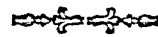
पत्तेअं कसिणे आया, जे बाला जे अ पंडिआ।
संति पिच्चा न ते संति, नत्थि सत्तोववाइया ॥११॥

छाया—प्रत्येकं कृत्स्ना आत्मनः ये बाला ये च पण्डिताः।
सन्ति प्रेत्य न ते सन्ति, न सन्ति सत्त्वा औपपातिकाः॥

व्याकरण—(पत्तेअं) अव्यय। (कसिणे) आत्माका विशेषण (आया) संति क्रियाका कर्ता (जे बाला जे पंडिआ) 'जे' सर्वनाम 'बाला' 'पंडिआ' आत्माके विशेषण हैं। (संति) क्रिया (पिच्चा) पूर्वकालिकक्रिया। (न) अव्यय (ते) सर्वनाम, आत्माका बोधक है।

---

* सब प्राणियोंका एक आत्मा है यह सिद्धान्त ठीक नहीं है क्योंकि जो पुरुष पाप कर्म करता है वही दुःख भोगता है दूसरा नहीं भोगता है। परन्तु सबका आत्मा एक होने पर जो पापी नहीं है उस आत्माको भी दुःख होना चाहिए क्योंकि पापीका आत्माके साथ उसके आत्माका कोई भेद नहीं है। तथा आत्माको सर्वव्यापक मानना भी ठीक नहीं है क्योंकि शरीररूपमें परिणत पांच भूतोंमें ही चैतन्य पाया जाता है घट पट आदि पदार्थोंमें नहीं। अतः आत्मा सर्वव्यापक नहीं है तथा देवदत्तके ज्ञानको यज्ञदत्त नहीं जानता है यह निर्विवाद है। यदि सबका आत्मा एक है तो देवदत्तका ज्ञान यज्ञदत्तको भी होना चाहिए परन्तु नहीं होता है, अतः सबका एक आत्मा मानना अयुक्त है। यही यहाँके मूल और टीकाका आशय है।

(सत्तोववाइया) 'उववाइया' सत्वका विशेषण। 'सत्ताः' कर्ता (न) अव्यय (अत्थि) क्रिया।

अन्वयार्थ—(जे बाला) जो अज्ञानी हैं (जे य पंडिआ) और जो पण्डित हैं (पत्तेअं) प्रत्येक (आया) आत्मा, (कसिणे) समस्त यानी पथक् पथक् (संति) हैं। (ते) वे, (पिच्चा) मरनेके पश्चात् (न संति) नहीं रहते हैं (उववाइया) परलोकमें जानेवाले (सत्ता) प्राणी, (नत्थि) नहीं हैं।

भावार्थ—जो अज्ञानी हैं और जो ज्ञानी हैं उन सबका आत्मा भिन्न-भिन्न है एक नहीं है। मरनेके पश्चात् आत्मा नहीं रहता है अतः परलोकमें जानेवाला कोई नित्य पदार्थ नहीं है।

टीका—साम्प्रतं तज्जीवतच्छरीरवादिमतं पूर्वपक्षयितुमाह—

तज्जीवतच्छरीरवादिनामयमभ्युपगमः—यथा पञ्चभ्यो भूतेभ्यः कायाकारपरिणतेभ्यश्चैतन्यमुत्पद्यते अभिव्यज्यते वा, तेनैकैकं शरीरं प्रति प्रत्येक मात्मानः 'कृत्स्नाः' सर्वेऽप्यात्मान एवमवस्थिताः, ये 'बाला' अज्ञा ये च 'पण्डिताः' सदसद्विवेकज्ञास्ते सर्वे पृथग्व्यवस्थिताः, नह्येक एवात्मा सर्वव्यापित्वेनाऽभ्युपगन्तव्यो, बालपण्डिताद्यविभागप्रसङ्गात्। ननु प्रत्येकशरीराश्रयत्वेनात्मबहुत्वमार्हतानामपीष्टमेवेत्याशङ्क्याह—'सन्ति'

अब सूत्रकार, तज्जीवतच्छरीरवादीके मतको पूर्वपक्षमें रखनेके लिए कहते हैं—

तज्जीवतच्छ*रीरवादियोंका यह मन्तव्य है—शरीररूपमें परिणत पांच महाभूतोंसे चैतन्य शक्ति उत्पन्न होती है अथवा प्रकट होती है। अतः प्रत्येक शरीरमें प्रत्येक आत्मा जूदा जूदा है। सभी आत्मा, इसी तरह स्थित हैं। अज्ञानी और सत् तथा असत्का भेद जाननेवाले ज्ञानी, सभी भिन्न भिन्न हैं। सर्वव्यापी एक ही आत्मा नहीं मानना चाहिए क्योंकि ऐसा मानने पर ज्ञानी और अज्ञानीका विभाग नहीं होसकता है। कहते हैं कि "आर्हतोंको भी प्रत्येक शरीमें पृथक् पृथक् स्थित बहुत आत्मा मानना अभीष्ट ही है फिर तुम उक्तमतवादी का ही यह सिद्धान्त क्यों कहते हो ?" यह शङ्का करके सूत्रकार कहते हैं कि "संति" अर्थात् जबतक

---

* "स एव जीव स्तदेव शरीरमिति वदितुं शीलमस्येति तज्जीवतच्छरीरवादी" अर्थात् वही जीव है और वही शरीर है, जो यह बतलाता है उसे 'तज्जीवतच्छरीरवादी' कहते हैं। यद्यपि पूर्वोक्त भूतवादी भी शरीरको ही आत्मा कहता है तथापि उसके मतमें पांच भूत ही शरीर रूपमें परिणत होकर सब क्रियाएँ करते हैं परन्तु तज्जीवतच्छरीरवादीके मतमें यह नहीं है। वह शरीररूपमें परिणत पांच भूतोंसे चैतन्य शक्तिकी उत्पत्ति मानता है यही इसका भूतवादीसे भेद है।

विद्यन्ते यावच्छरीरं विद्यन्ते तदभावे तु न विद्यन्ते, तथाहि—कायाकार-परिणतेषु भूतेषु चैतन्याविर्भावो भवति, भूतसमुदायविघटने च चैतन्या-पगमो, न पुनरन्यत्र गच्छच्चैतन्यमुपलभ्यते, इत्येतदेव दर्शयति—'पिच्चा न ते संतीति' 'प्रेत्य' परलोके न ते आत्मानः 'सन्ति' विद्यन्ते, परलोका-नुयायी शरीराद्भिन्नः स्वकर्मफलभोक्ता न कश्चिदात्माख्यः पदार्थोऽस्तीति भावः। किमित्येवमतआह—'नत्थि सत्तोववाइया' 'अस्ति' शब्दस्तिङन्तप्रतिरूपको निपातो बहुवचने द्रष्टव्यः। तदयमर्थः—'न सन्ति' न विद्यन्ते 'सत्त्वाः' प्राणिन उपपातेन निर्वृत्ता औपपातिका—भवाद्भवान्तर-गामिनो न भवन्तीति तात्पर्य्यार्थः। तथाहि तदागमः—"विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञाऽस्तीति"। ननु प्रागुपन्यस्तभूतवादिनोऽस्य च तज्जीवतच्छरीरवादिनः को विशेष

शरीर विद्यमान रहता है तबतकही आत्मा भी स्थित रहता है परन्तु शरीरका अभाव होनेपर आत्माका भी अभाव हो जाता है क्योंकि शरीररूपमें परिणत पञ्चमहाभूतोंसे चैतन्य प्रकट होता है और उनके अलग अलग होने पर वह चैतन्य नष्ट हो जाता है क्योंकि शरीरसे निकलकर अन्यत्र जाता हुआ चैतन्य नहीं देखा जाता है, यह तज्जीवतच्छरीरवादियोंका मत है। यही दिखानेके लिए सूत्रकार कहते हैं कि "पिच्चा न ते संति"। अर्थात् अपने कर्मोंका फल भोगने वाला परलोकगामी शरीरसे भिन्न कोई आत्मा नामका पदार्थ नहीं है, यह तज्जीव-तच्छरीरवादियोंका आशय है। ऐसा क्यों है ? इसलिए कहते हैं कि—'नत्थि सत्तोववाइया'। इस वाक्यमें 'अस्ति' शब्द तिङन्तप्रतिरूपक निपात है। उसे बहुवचनार्थक समझना चाहिए। अतः इसका अर्थ यह है—औपपातिक*—अर्थात् एक भवसे दूसरे भवमें जानेवाले प्राणी नहीं हैं। यह तज्जीवतच्छरीरवादीका तात्पर्य्य है। जैसाकि उनका यह आगम है—(विज्ञान घन एव) अर्थात् विज्ञानका पिण्ड यह आत्मा, इन भूतोंसे उठकर (उत्पन्न होकर) इनके नाशके पश्चात् नष्ट हो जाता है अतः मरण के पश्चात् ज्ञान नहीं रहता है।

शङ्का—पूर्वोक्त भूतवादीके मतसे तज्जीवतच्छरीरवादीके मतकी क्या विशेषता है ?

समाधान—"शरीररूपमें परिणत पांच महाभूत ही दौड़ना बोलना आदि क्रिया करते हैं" यह पूर्वोक्त भूतवादीका मत है परन्तु तज्जीवतच्छरीरवादी, शरीररूपमें

---

* एक भवसे दूसरे भवमें जाना 'उपपात' कहलाता है और जो एक भवसे दूसरे भवमें जाता है उसे 'औपपातिक' कहते हैं।

इति ? अत्रोच्यते, भूतवादिनो भूतान्येव कायाकारपरिणतानि धावन-वल्गनादिकां क्रियां कुर्वन्ति, अस्य तु कायाकारपरिणतेभ्यो भूतेभ्यश्चैतन्याख्य आत्मोत्पद्यतेऽभिव्यज्यते वा, तेभ्यश्चाभिन्न इत्ययं विशेषः ॥११॥

परिणत पांच महाभूतोंसे चैतन्यशक्तिरूप आत्माकी उत्पत्ति अथवा अभिव्यक्ति मानता है तथा उन भूतोंसे इस चैतन्यको अभिन्न कहता है यही इसका पूर्वोक्त भूतवादीसे भेद है ॥११॥
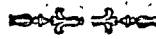
नत्थि पुराणे व पावे वा, नत्थि लोए इतो वरे ।
सरीरस्स विणासेणं, विणासो होइ दोहिणो ॥१२॥

छाया—नास्ति पुण्यं वा पापं वा, नास्ति लोक इतः परः ।
शरीरस्य विनाशेन, विनाशो भवति देहिनः ॥

व्याकरण—(नत्थि) क्रिया (पुण्णे पावे) कर्ता (वा) अव्यय । (इतो) अपादान (वरे) लोकका विशेषण । (लोए) कर्ता (नत्थि) क्रिया (सरीरस्स) कर्तृषष्ठयन्त (विणासेण) हेतुतृतीयान्त (देहिणो) कर्तृषष्ठ्यन्त (विणासो) कर्ता (होइ) क्रिया ।

अन्वयार्थ—(पुण्णे व) पुण्य (पावे वा) अथवा पाप (नत्थि) नहीं हैं । (इतो) इस लोकसे (वरे) दूसरा (लोए) लोक (नत्थि) नहीं है । (सरीरस्स) शरीरके (विणासेणं) नाशसे (देहिणो) आत्माका (विणासो) नाश (होइ) होता है ।

भावार्थ—पुण्य और पाप नहीं हैं । इस लोकसे भिन्न दूसरा लोक भी नहीं है शरीरके नाशसे आत्माका भी नाश होता है ।

टीका—एवं च धर्मिणोऽभावाद्धर्मस्याप्यभाव इति दर्शयितुमाह—
पुण्यमभ्युदयप्राप्तिलक्षणं तद्विपरीतं पापमेतदुभयमपि न विद्यते, आत्मनो धर्मिणोऽभावात् तदभावाच्च नास्ति अतः अस्माल्लोकात्

टीकार्थ—तज्जीवतच्छरीरवादीके मतमें पूर्वोक्त प्रकारसे धर्मीरूप आत्माके न होनेसे उसके धर्मका भी अभाव है यह दिखानेके लिए सूत्रकार कहते हैं—

जिससे जीव, उन्नति प्राप्त करता है उसे 'पुण्य' कहते हैं, उस पुण्यसे जो विपरीत है यानी जिससे जीव अवनति प्राप्त करता है उसे 'पाप' कहते हैं । पुण्य और पाप ये दोनों ही नहीं हैं क्योंकि इनका धर्मीरूप आत्मा ही नहीं है, और आत्माके अभाव होनेसे इस लोकसे भिन्न

'परः' अन्यो लोको यत्र पुण्यपापानुभव इति। अत्रचार्थे सूत्रकारः कारण माह—'शरीरस्य' कायस्य विनाशेन भूतविघटनेन 'विनाशः' अभावः देहिन आत्मनोऽप्यभावो भवति यतः, न पुनः शरीरे विनष्टे तस्मादात्मा परलोकं गत्वा पुण्यं पापं वाऽनुभवतीति। अतो धर्मिण आत्मनोऽभावात्तद्धर्मयोः पुण्यपापयोरप्यभाव इति। अस्मिंश्चार्थे बहवो दृष्टान्ताः सन्ति, तद्यथा—यथा जलबुद्बुदो जलातिरेकेण नापरः कश्चिद्विद्यते तथा भूतव्यतिरेकेण नाऽपरः कश्चिदात्मेति। तथा यथा कदलीस्तम्भस्य बहिस्त्वगपनयने क्रियमाणे त्वङ्मात्रमेव सर्वं नान्तः कश्चित्सारोऽस्ति, एवं भूत समुदाये विघटति सति तावन्मात्रं विहाय नान्तः सारभूतः कश्चिदात्माख्यः पदार्थ उपलभ्यते, यथा वाऽलातं भ्राम्यमाणमतद्रूपमपि चक्रबुद्धि मुत्पादयति, एवं भूतसमुदायोऽपि विशिष्टक्रियोपेतो जीवभ्रान्तिमुत्पादयतीति। यथा च स्वप्ने बहिर्मुखाकारतया विज्ञानमनुभूयतेऽन्तरेणैव बाह्यमर्थम्, एवमात्मानमन्तरेण तद्विज्ञानं भूतसमुदाये प्रादुर्भवतीति। तथा

दूसरा लोक भी नहीं है जहाँ पुण्य पापका फल भोगा जाता है (यह तज्जीव तच्छरीरवादी कहते हैं) इस विषयमें कारण बतानेके लिए सूत्रकार कहते हैं— 'सरीरस्स' अर्थात् शरीरके रूपमें स्थित पाँच महाभूतों के नाश होनेसे अर्थात् उनके अलग अलग हो जानेसे आत्माका भी नाश हो जाता है, अतः शरीर नष्ट होनेपर उससे निकलकर आत्मा परलोकमें जाकर पुण्य पापका फल अनुभव करता है यह बात नहीं है। अतः धर्मीरूप आत्मा न होनेके कारण उसके धर्मरूप पुण्य पापका भी अस्तित्व नहीं है (यह तज्जीवतच्छरीरवादीका मत है) इस विषयमें बहुतसे दृष्टान्त वे देते हैं। जैसेकि—जलका बुद्बुद् जैसे जलसे भिन्न वस्तु नहीं है उसी तरह पांच भूतोंसे भिन्न कोई आत्मा नहीं है। तथा जैसे केलेके खम्भेके बाहरी छिलकोंको उतारते जानेपर सब छिलकेही छिलके रह जाते हैं, उनसे भिन्न साररूप पदार्थ केलेके अन्दर नहीं होता है इसी तरह शरीरसम्बन्धी पाँचभूतोंके अलग अलग होनेपर उनसे भिन्न कोई साररूप आत्मा नहीं पाया जाता है। तथा जिस तरह आगका गोला, घूमानेपर चक्रबुद्धि उत्पन्न करता है इसी तरह भूतसमुदाय, बोलना, चलना आदि विशिष्ट क्रिया करता हुआ 'जीव' होनेका भ्रम उत्पन्न करता है। तथा जिसतरह स्वप्नमें घट पट आदि बाहरी पदार्थोंके बिना भी बाहरी पदार्थोंके रूपमें उनका ज्ञान अनुभव किया जाता है इसी तरह आत्माके बिना भी भूतसमुदायमें आत्माका ज्ञान उत्पन्न होता है। तथा जिस

यथाऽऽदर्शे स्वच्छत्वात्प्रतिबिम्बितो बहिः स्थितोऽप्यर्थोऽन्तर्गतो लक्ष्यते, न चासौ तथा, यथा च ग्रीष्मे भौमेनोष्मणा परिस्पन्दमाना मरीचयो जलाकारं विज्ञानमुत्पादयन्ति, एव मन्येऽपि गन्धर्वनगरादयः स्वस्वरूपेणातथा भूता अपि तथा प्रतिभासन्ते, तथाऽऽत्माऽपि भूतसमुदायस्य कायाकारपरिणतौ सत्यां पृथगसन्नेव तथाभ्रान्तिं समुत्पादयतीति । अमीषाञ्च दृष्टान्तानां प्रतिपादकानि केचित्सूत्राणि व्याचक्षते, अस्माभिस्तु सूत्रादर्शेषु चिरन्तनटीकायां चादृष्टत्वान्नोल्लिङ्गितानीति । ननु च यदि भूतव्यतिरिक्तः कश्चिदात्मा न विद्यते, तत्कृते च पुण्यापुण्ये न स्तः तत्कथमेतज्जगद्वैचित्र्यं घटते ? तद्यथा कश्चिदीश्वरोऽपरो दरिद्रोऽन्यः सुभगोऽपरोदुर्भगः सुखी दुःखी सुरूपो मन्दरूपो व्याधितो नीरोगीति, एवं प्रकारा च विचित्रता किं निबन्धनेति ? अत्रोच्यते, स्वभावात्, तथाहि—कुत्रचिच्छिलाशकले प्रतिमारूपं निष्पाद्यते, तच्च कुङ्कुमागरुचन्दनादिविलेपनानुभोग मनुभवति

प्रकार अति निर्मल होनेके कारण दर्पणमें प्रतिबिम्ब रूपसे दिखता हुआ बाहरका पदार्थ भी दर्पणके अन्दर रहा हुआ सा प्रतीत होता है परन्तु वह दर्पणके अन्दर नहीं है, तथा जिस तरह ग्रीष्म ऋतुमें पृथिवीकी गर्मीसे हिलती हुई सूर्य्यकी किरणें जलरूप विज्ञान उत्पन्न करती हैं, एवं दूसरे गन्धर्व नगर आदि, जैसे उस आकारका न होकर भी वैसा प्रतीत होते हैं, इसी तरह भूतसमुदायके शरीररूपमें परिणत होनेपर उनसे भिन्न न होता हुआ भी आत्मा उनसे भिन्न होनेका भ्रम उत्पन्न करता है ।

कोई टीकाकार, इन दृष्टान्तोंको बतानेवाले कतिपय सूत्रोंकी व्याख्या करते हैं परंतु हमने सूत्रादर्शोंमें और पुरानी टीकाओंमें उन सूत्रोंको नहीं देखा है इसलिए उन्हें नहीं लिखा है ।

(शङ्का) यदि पाँच भूतोंसे भिन्न कोई आत्मा नामका अलग पदार्थ नहीं है और उसके किए हुए पुण्य पाप भी नहीं हैं तो यह विचित्र जगत् किस तरह हो सकता है ? । इस जगत्में कोई धनवान्, कोई दरिद्र, कोई सुन्दर, कोई कुरूप, कोई सुखी, कोई दुःखी, कोई सुरूप, कोई मन्दरूप, कोई रोगी, कोई नीरोग इस प्रकार जगत्की विचित्रता क्यों होती है ?

(समाधान) कहते हैं कि यह सब स्वभावसे होता है । जैसे कि—किसी पत्थरके टुकड़ेकी देवमूर्ति बनाई जाती है और वह मूर्त्ति, कुंकुम, अगर, चन्दन आदि विलेपनोंको भोगती है और धूप आदिके सुगन्धको भी अनुभव करती है,

धूपाद्यामोदश्च, अन्यस्मिंस्तु पाषाणखण्डे पादक्षालनादि क्रियते, न च तयोः पाषाणखण्डयोः शुभाशुभेऽस्तः यदुदयात्स तादृग्विधावस्थाविशेष इत्येवं स्वभावाज्जगद्वैचित्र्यं, तथा चोक्तम्—"कण्टकस्य च तीक्ष्णत्वं, मयूरस्य विचित्रता। वर्णाश्च ताम्रचूडानां, स्वभावेन भवन्ति हि" इति तज्जीव तच्छरीरवादिमतं गतम् ॥१२॥

तथा दूसरे पत्थरके टुकड़ेपर पैर धोना आदि कार्य्य किए जाते हैं, परंतु उन पत्थरोंके टुकड़ोंका कोई पुण्य पाप नहीं है जिसके उदयसे उनकी वैसी अवस्थायें होती हैं, अतः सिद्ध होता है कि स्वभावसे ही जगत्‌की विचित्रता होती है। कहा भी है—कण्टककी तीक्ष्णता, मोरकी विचित्रता और मुर्गाका रंग, यह सब स्वभावसे ही होते हैं। यह तज्जीवतच्छरीरवादीका मत कहा गया ॥१२॥

कुव्वं च कारयं चेव, सव्वं कुव्वं न विज्जई।
एवं अकारओ अप्पा, एवं ते उ पगब्भिआ ॥१३॥

छाया—कुर्वंश्च कारयँश्चैव, सर्वां कुर्वन्न विद्यते।
एवमकारक आत्मा, एवं ते तु प्रगल्भिताः ॥

व्याकरण—(कुव्वं) आत्माका विशेषण प्रथमान्तपद है। (कारयं) यह भी कर्त्ताका विशेषण प्रथमान्त है। (सव्वं) कर्म द्वितीयान्त है। (चेव) अव्यय है। (विज्जई) क्रिया है। (न, एवं) अव्यय। (अकारओ) आत्माका विशेषण। (अप्पा) कर्ता। (एवं) अव्यय (ते) अकारकवादियोंका परामर्शक सर्वनाम (पगब्भिआ०) अकारकवादियोंका विशेषण।

अन्वयार्थ—(कुव्वं) क्रियाकरनेवाला। (कारयं चेव) और दूसरे द्वारा क्रिया करानेवाला तथा (सव्वं) सब क्रियाओंको (कुव्वं) करनेवाला (अप्पा) आत्मा (न विज्जई) नहीं है। (एवं) इस प्रकार (अकारओ) आत्मा अकारक यानी क्रियाका कर्ता नहीं है (तेउ) वे अकारकवादी (एवं) इस प्रकार कहनेकी (पगब्भिआ) धृष्टता करते हैं।

भावार्थ—आत्मा स्वयं कोई क्रिया नहीं करता है और दूसरे द्वारा भी नहीं कराता है तथा वह सब क्रियायें नहीं करता है। इस प्रकार वह आत्मा 'अकारक' यानी क्रियाका कर्ता नहीं है, ऐसा, अकारकवादी सांख्य आदि कहते हैं।

टीका—इदानीमकारकवादिमताभिधित्सयाऽऽह—

'कुर्वन्निति स्वतन्त्रः कर्ताऽभिधीयते, आत्मनश्चामूर्तत्त्वान्नित्यत्वात् सर्वव्यापित्वाच्च कर्तृत्त्वानुपपत्तिः, अत एव हेतोः कारयितृत्वमप्यात्मनोऽनुपपन्नमिति, पूर्वश्चशब्दोऽतीतानागतकर्तृत्वनिषेधको द्वितीयः समुच्चयार्थः, ततश्चात्मा न स्वयं क्रियायां प्रवर्तते, नाप्यन्यं प्रवर्तयति, यद्यपि च स्थितिक्रियां मुद्राप्रतिबिम्बोदयन्यायेन [जपास्फटिकन्यायेन च] भुजिक्रियां करोति तथाऽपि समस्तक्रियाकर्तृत्वं तस्य नास्तीत्येतद्दर्शयति—'सव्वं कुव्वं ण विज्जई' त्ति 'सर्वां' परिस्पन्दादिकां देशाद्देशान्तरप्राप्तिलक्षणां क्रियां कुर्वन्नात्मा न विद्यते, सर्वव्यापित्वेनामूर्तत्वेन चाकाशस्येवात्मनो निष्क्रियत्वमिति, तथा चोक्तम्—"अकर्ता निर्गुणो भोक्ता,

---

टीकार्थ—अब सूत्रकार अकारकवादियोंका मत बतानेके लिए कहते हैं—

यहां 'कुर्वन्' पदके द्वारा स्वतंत्र कर्ताका कथन किया है। आत्मा, अमूर्त्त, नित्य, और सर्वव्यापी है इसलिए वह, कर्ता नहीं हो सकता है और इसी कारण वह, दूसरे द्वारा क्रिया करानेवाला भी नहीं हो सकता है। इस गाथामें पहला 'च' शब्द आत्माके भूत और भविष्यत् कर्तृत्वका निषेधक है और दूसरा 'च' शब्द समुच्चयार्थक है। इसप्रकार इस गाथाका अर्थ यह है कि आत्मा स्वयं किसी क्रियामें प्रवृत्त नहीं होता है और दूसरेको भी किसी क्रियामें प्रवृत्त नहीं करता है आत्मा, मुद्राप्रतिबिम्बोदय* न्याय और जपास्फटिक † न्यायसे यद्यपि स्थिति क्रिया और भोगक्रिया करता है तथापि वह समस्तक्रियाका कर्ता नहीं है यह सूत्रकार दिखलाते हैं—"सव्वं कुव्वं न विज्जई" अर्थात् वह आत्मा, एक देशसे अन्य देशमें जाना आदि सभी क्रियाओंको नहीं करता है क्योंकि सर्वव्यापी और अमूर्त्त होनेके कारण आकाशकी तरह वह निष्क्रिय है। कहाभी है—(अकर्ता निर्गुणो)

---

* किसी दर्पणमें प्रतिबिम्बित मूर्त्ति अपनी स्थितिके लिए प्रयत्न नहीं करती है किन्तु प्रयत्नके विना ही वह उस चित्रमें स्थित रहती है इसी तरह आत्मा अपनी स्थितिके लिए प्रयत्न किए विना ही स्थित रहता है। यही मुद्राप्रतिबिम्बोदय न्यायका अर्थ है।

† स्फटिकमणिके पास लाल फूल रख देनेपर वह लाल सा प्रतीत होता है। वस्तुतः वह लाल नहीं किन्तु शुक्ल ही रहता है तथापि लाल फूलकी छाया पड़नेसे वह लाल हुआ सा जान पड़ता है इसी तरह सांख्यमतमें आत्मा भोगरहित है तथापि बुद्धिके संसर्गसे बुद्धिका भोग आत्मामें प्रतीत होता है इसी कारण आत्माका भोग मानाजाता है। यही जपास्फटिक न्यायका अर्थ है।

आत्मा साङ्ख्यनिदर्शने" इति। 'एवम्' अनेन प्रकारेणात्माऽकारक इति, 'ते' साङ्ख्याः, तु शब्दः पूर्वेभ्यो व्यतिरेकमाह, ते पुनः साङ्ख्या एवं 'प्रगल्भिताः' प्रगल्भवन्तो धाष्र्यवन्तः सन्तो भूयोभूयस्तत्र तत्र प्रतिपादयन्ति, यथा "प्रकृतिः करोति, पुरुष उपभुङ्क्ते, तथा बुद्ध्यध्यवसितमर्थं पुरुषश्चेतयते" इत्याद्यकारकवादिमतमिति ॥ १३ ॥

अर्थात् सांख्यवादियोंके मतमें आत्मा अकर्ता निर्गुण और कर्मफलका भोक्ता है। इस प्रकार आत्मा अकर्ता है। इस गाथामें 'तु' शब्द पूर्वोक्त मतवादियोंसे सांख्यवादियोंका भेद बतलानेके लिए है। वे सांख्यवादी पूर्वोक्त रीतिसे आत्माको अकर्ता कहनेकी धृष्टता करते हुए भिन्न भिन्न स्थलों पर बार बार यह कहते हैं कि—प्रकृति, क्रिया करती है और पुरुष (आत्मा) उस क्रियाका फल भोगता है, तथा बुद्धिसे ज्ञात अर्थको आत्मा अनुभव करता है। यह अकारकवादीका मत कहा गया।
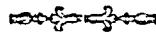
जे ते उ वाइणो एवं, लोए तेसिं कओ सिया ?।
तमाओ ते तमं जंति मंदा आरंभनिस्सिया ॥१४॥

छाया—ये ते तु वादिन एवं, लोकस्तेषां कुतः स्यात् ?
तमसस्ते तमो यान्ति, मन्दा आरम्भनिःश्रिताः ॥

व्याकरण—(जे ते) सर्वनाम, (वाइणो) कर्ता (लोए) कर्ता (तेसिं) सम्बन्धषष्ठ्यन्त, सर्वनाम, वादियोंका परामर्शक। (कओ) अव्यय। (सिया) क्रिया (ते मंदा आरंभनिस्सिया) वादीका विशेषण (तमाओ) अपादान (तमो) कर्म (जंति) क्रिया।

अन्वयार्थ—(जे ते उ) जो वे, (वाइणो) वादी (एवं) इसप्रकार कहते हैं (तेसिं) उनके मतमें (लोए) यह लोक, (कओ) कैसे (सिया) हो सकता है। (मंदा) मूर्ख (आरंभनिस्सिया) आरम्भमें आसक्त (ते) वे वादी (तमाओ) एक अज्ञानसे निकलकर (तमं) दूसरे अज्ञानको (जंति) प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—जो लोग आत्मा को अकर्ता कहते हैं उन वादियोंके मतमें यह चतुर्गतिक संसार कैसे हो सकता है ? वस्तुतः वे, मूर्ख तथा आरम्भमें आसक्त हैं अतः वे एक अज्ञानसे निकल कर दूसरे अज्ञानको प्राप्त करते हैं।

टीका—साम्प्रतं तज्जीवतच्छरीराकारकवादिनोर्मतं निराचिकीर्षुराह—

अब सूत्रकार, तज्जीव तच्छरीरवादी तथा अकारकवादीके मतको खण्डन करनेके लिए कहते हैं—

तत्र ये तावच्छरीराव्यतिरिक्तात्मवादिनः 'एव' मिति पूर्वोक्तया नीत्या भूताव्यतिरिक्तमात्मानमभ्युपगतवन्तस्ते निराक्रियन्ते—तत्र यत्तैस्तावदुक्तम्—'यथा न शरीराद्भिन्नोऽस्त्यात्मे'ति, तदसङ्गतं, यतस्तत्प्रसाधकं प्रमाणमस्ति, तच्चेदम्—विद्यमानकर्तृकमिदं शरीरम्, आदिमत्प्रतिनियताकारत्वात्, इह यद्यदादिमत्प्रतिनियताकारं तत्तद्विद्यमानकर्तृकं दृष्टं, यथा घटः, यच्चाऽविद्यमानकर्तृकं तदादिमत्प्रतिनियताकारमपि न भवति, यथाऽऽकाशम्, आदिमत्प्रतिनियताकारस्य च सकर्तृत्वेन व्याप्तेः, व्यापकनिवृत्तौ व्याप्यस्य विनिवृत्तिरिति सर्वत्र योजनीयम्। तथा विद्यमानाधिष्ठातृकानीन्द्रियाणि, करणत्वात्, यद्यदिह करणं तत्तद्विद्यमानाधिष्ठातृकं दृष्टं, यथा दण्डादिकमिति, अधिष्ठातारमन्तरेण करणत्वाऽनुपपत्तिः यथाऽऽकाशस्य, हृषीकाणां चाधिष्ठाताऽऽत्मा, स च तेभ्योऽन्य

टीकार्थ—तज्जीवतच्छरीरवादी और अकारकवादी इन दोनोंमेंसे पहले, शरीरसे अभिन्न आत्मा माननेवाले जो लोग, पूर्वोक्त रीतिसे आत्माको भूतोंसे अभिन्न मानते हैं उनका मत तिरस्कृत किया जाता है। इस विषयमें उनने जो यह कहा है कि—"शरीरसे भिन्न आत्मा नहीं है" यह असंगत है, क्योंकि आत्मा शरीरसे भिन्न है इस बातको सिद्ध करनेवाला प्रमाण पाया जाता है। वह प्रमाण, यह है—यह शरीर, किसी कर्ता द्वारा किया हुआ है क्योंकि यह आदिवाला और नियत आकारवाला है। इस जगत्‌में जो जो पदार्थ, आदिवाला, तथा नियत आकारवाला होता है वह किसी कर्ताका किया हुआ होता है जैसे घट। जो पदार्थ, किसी कर्ताका किया हुआ नहीं होता है वह, आदिवाला तथा नियत आकारवाला नहीं होता है, जैसे आकाश। अतः जो पदार्थ, आदिवाला तथा नियत आकारवाला होता है वह अवश्य किसी कर्ताका किया हुआ होता है यह व्याप्ति है। जहाँ व्यापक नहीं होता है वहाँ व्याप्य भी नहीं होता है (इसलिए यदि शरीर किसीका किया हुआ न होगा तो वह आदिवाला तथा नियत आकारवाला भी न हो सकेगा क्योंकि किसी कर्तासे किया जाना व्यापकधर्म है और आदिवाला तथा नियत आकारवाला होना व्याप्यधर्म है) यह, सर्वत्र योजना करनी चाहिए। तथा इन्द्रियोंका कोई अधिष्ठाता अवश्य है, क्योंकि इन्द्रियाँ करण (साधन) हैं। इस जगत्‌में जो जो करण (साधन) होता है उसका अधिष्ठाता कोई अवश्य होता है जैसे दण्ड आदि साधनोंका अधिष्ठाता कुम्हार होता है। जिसका कोई अधिष्ठाता नहीं है वह करण नहीं हो सकता है, जैसे आकाशका कोई अधिष्ठाता नहीं है

इति, तथा विद्यमानाऽऽदातृकमिदमिन्द्रियविषयकदम्बकम्, आदानादेयसद्भावात्, इह यत्र यत्राऽऽदानादेयसद्भावस्तत्र तत्र विद्यमान आदाता—ग्राहको दृष्टः, यथा संदंशकायस्पिण्डयोस्तद्भिन्नोऽयस्कार इति, यश्चात्रेन्द्रियैः करणै र्विषयाणामादाता ग्राहकः स तद्भिन्न आत्मेति, तथा विद्यमानभोक्तृकमिदं शरीरं, भोग्यत्वादोदनादिवत्, अत्र च कुलालादीनां मूर्तत्त्वानित्यत्वसंहतत्वदर्शनादात्मापि तथैव स्यादिति धर्मिविशेषविपरीतसाधनत्वेन विरुद्धाशङ्का न विधेया, संसारिण आत्मनः कर्मणा सहान्योऽन्यानुबन्धतः कथञ्चिन्मूर्त्तत्वाद्यभ्युपगमादिति, तथा यदुक्तम् 'नास्ति सत्त्वा औपपातिका' इति तदप्ययुक्तं, यतस्तदहर्जातबालकस्य यः स्तनाभिलाषः सोऽन्याभिलाषपूर्वकः, अभिलाषत्वात्, कुमाराभिलाषवत्, तथा वालविज्ञानमन्यविज्ञानपूर्वकं, विज्ञानत्वात्, कुमारविज्ञानवत्, तथाहि—तदहर्जातवालकोऽपि यावत्स एवायं स्तन इत्येवं नावधारयति तावन्नोपरतरुदितो मुखमर्पयति स्तने इति, अतोऽस्ति

इसलिए वह करण नहीं है। इन्द्रियाँ करण हैं इसलिए उनका अधिष्ठाता आत्मा है, वह आत्मा इन्द्रियोंसे भिन्न है। तथा इन्द्रिय और विषयसमूहको ग्रहण करनेवाला कोई अवश्य है क्योंकि इनका ग्राह्यग्राहकभाव देखा जाता है। जहाँ जहाँ ग्राह्य-ग्राहकभाव होता है, वहाँ वहाँ अवश्य कोई ग्रहण करनेवाला पदार्थ होता है जैसे सणसी और लोहपिण्डको ग्रहण करनेवाला उनसे भिन्न लोहार होता है। अतः इन्द्रियरूप साधनोंसे जो विषयोंको ग्रहण करता है वह इन्द्रिय और विषयोंसे भिन्न आत्मा है। तथा इस शरीरका भोग करनेवाला कोई अवश्य है क्योंकि यह शरीर भात आदिके समान भोग्य पदार्थ है। पूर्वोक्त दृष्टान्तमें कुम्हार आदि, मूर्त्त अनित्य तथा अवयवी हैं यह देखकर आत्मा भी मूर्त्त अनित्य और अवयवी क्यों नहीं ? ऐसी विरुद्ध शङ्का नहीं करनी चाहिए क्योंकि संसारी आत्मा, कर्मसे परस्पर मिलकर कथञ्चित् मूर्त्त आदि भी माना जाता है।

तथा यह जो कहा है कि—"परलोकमें जानेवाला कोई पदार्थ नहीं है" यह भी अयुक्त है क्योंकि उसी दिन जन्मे हुए बच्चेकी स्तन पीनेकी इच्छा देखी जाती है। वह इच्छा पहले पहल नहीं हुई है किन्तु वह, उसके पूर्वकी इच्छासे उत्पन्न हुई है क्योंकि वह इच्छा है। (जो जो इच्छा होती है वह दूसरी इच्छापूर्वक ही होती है) जैसे कुमार (५–७ वर्षके वालक) की इच्छा। तथा वालकका विज्ञान, अन्यविज्ञानपूर्वक है क्योंकि वह विज्ञान है। जो जो विज्ञान है वह अन्य विज्ञान-पूर्वक ही होता है जैसे कुमारका विज्ञान। आशय यह है कि—

बालके विज्ञानलेशः, सचान्यविज्ञानपूर्वकः, तच्चान्यद्विज्ञानं भवान्तरविज्ञानं, तस्मादस्ति सत्त्व औपपातिक इति। तथा यदभिहितं, 'विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यतीति, तत्राप्ययमर्थो— 'विज्ञानघनो' विज्ञानपिण्ड आत्मा 'भूतेभ्य उत्थाये'ति प्राक्तनकर्मवशात्तथाविधकायाकारपरिणते भूतसमुदाये तद्द्वारेण स्वकर्मफलमनुभूय पुनस्तद्विनाशे आत्मापि तदनु तेनाकारेण विनश्यापरपर्यायान्तरेणोत्पद्यते, न पुनस्तैरेव सह विनश्यतीति। तथा यदुक्तम्—'धर्मिणोऽभावात्तद्धर्मयोःपुण्यपापयोरभाव' इति, तदप्यसमीचीनं, यतो धर्मी तावदनन्तरोक्तिकदम्बकेन साधितः, तत्सिद्धौ च तद्धर्मयोः पुण्यपापयोरपि सिद्धिरवसेया जगद्वैचित्र्यदर्शनाच्च।

उसी दिनका जन्मा हुआ बच्चा जबतक "यह वही स्तन है" ऐसा निश्चय नहीं कर लेता है तबतक रोना छोड़कर वह स्तनमें मुख नहीं लगाता है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि बालकमें विज्ञानका लेश अवश्य है। वह विज्ञानलेश, अन्यविज्ञानपूर्वक है और वह अन्यविज्ञान, दूसरे भवका विज्ञान है अतः परलोकमें जानेवाला पदार्थ अवश्य है यह सिद्ध होता है।*

तथा तज्जीवतच्छरीरवादियोंने जो यह कहा है कि (विज्ञान घन एव) अर्थात् "विज्ञानपिण्ड आत्मा इन भूतोंसे उत्पन्न होकर इनके नाश होनेपर नष्ट हो जाता है इत्यादि" यह भी ठीक नहीं है क्योंकि इस श्रुतिका अर्थ यह है— "विज्ञानपिण्ड आत्मा, पूर्वभवके कर्मवश, शरीररूपमें परिणत पाँच महाभूतोंके द्वारा अपने कर्मका फल भोगकर उन भूतोंके नाश होनेपर उस रूपसे नष्ट होकर फिर दूसरे पर्य्यायमें उत्पन्न होता है" परंतु उन भूतोंके साथ ही नष्ट हो जाता है यह अर्थ नहीं है। तथा यह जो कहा है कि "धर्मीरूप आत्मा न होनेसे उसके धर्मरूप पाप पुण्य भी नहीं हैं" यह भी अयुक्त है क्योंकि पूर्वोक्त युक्तिसमूहके द्वारा धर्मीरूप आत्माका अस्तित्त्व सिद्ध कर दिया गया है और धर्मीरूप आत्मा सिद्ध होनेपर उसके धर्मरूप पाप-पुण्योंकी सिद्धि भी समझनी चाहिए। तथा जगत्की विचित्रता देखनेसे भी पुण्य पापकी सिद्धि होती है? तज्जीवतच्छरीर-

---

* जिस पदार्थका जिसने कभी उपभोग नहीं किया है उसकी इच्छा उसमें नहीं होती है। उसी दिनका जन्मा हुआ बालक माताके स्तन पीनेकी इच्छा करता है परन्तु उसने पहले कभी स्तन पान नहीं किया है फिर उस बालकको स्तन पीनेकी इच्छा क्यों हुई? इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस बालकने पूर्वजन्ममें माताका स्तन पान किया है इसीलिए उसको स्तन पानकी फिर इच्छा हुई है। अतः परलोकगामी आत्मा अवश्य है यह स्पष्ट सिद्ध है।

यत्तु स्वभावमाश्रित्योपलशकलं दृष्टान्तत्वेनोपन्यस्तं तदपि तद्भोक्तृकर्मवशादेव तथा तथा संवृत्तमिति दुर्निवारः पुण्यापुण्यसद्भाव इति। येऽपि वहवः कदलीस्तम्भादयो दृष्टान्ता आत्मनोऽभावसाधनायोपन्यस्ताः तेऽप्यभिहितनीत्याऽऽत्मनो भूतव्यतिरिक्तस्य परलोकयायिनः सारभूतस्य साधितत्वात् केवलं भवतो वाचालतां प्रख्यापयन्ति इत्यलमतिप्रसङ्गेन। शेषं सूत्रं विवियतेऽधुनेति। तदेवं 'तेषां' भूतव्यतिरिक्तात्मनिह्नववादिनां योऽयं 'लोकः' चतुर्गतिकसंसारो भवाद्भवान्तरगतिलक्षणः प्राक् प्रसाधितः सुभगदुर्भगसुरूपमन्दरूपेश्वरदारिद्र्यादिगतया जगद्वैचित्र्यलक्षणश्च स एवम्भूतो लोकस्तेषां 'कुतो भवेत्?' कयोपपत्त्या घटेत? आत्मनोऽनभ्युपगमात्, न कथञ्चिदित्यर्थः, 'ते च' नास्तिकाः परलोकयायिजीवाऽनभ्युपगमेन पुण्यपापयोश्चाऽभावमाश्रित्य यत्किञ्चनकारिणोऽज्ञानरूपात्तमसः सकाशादन्यत्तमो यान्ति, भूयोऽपि ज्ञानावरणादिरूपं महत्तरं तमः सञ्चिन्वन्तीत्युक्तं भवति, यदिवा—तम इव तमो—दुःखसमुद्घातेन सदसद्विवेकप्रध्वंसित्वा-

---

वादीने स्वभावसे जगत्की विचित्रता सिद्ध करनेके लिए जो पत्थरके टुकड़ोंका दृष्टान्त दिया है वह भी उन पत्थरोंको भोग करनेवाले उनके स्वामियोंके कर्मवश वैसा हुआ है इसलिए पुण्य पापका अस्तित्व नहीं हटाया जा सकता है। तथा आपने आत्माका अभाव सिद्ध करनेके लिए जो केलेके स्तम्भ आदि अनेक दृष्टान्त दिए हैं, वह भी आपकी वाचालतामात्र है क्योंकि पूर्वोक्त युक्तिसमूहके द्वारा परलोक जानेवाला, भूतोंसे भिन्न, साररूप आत्मा सिद्ध कर दिया गया है। अतः इस विषयमें अधिक विस्तारकी आवश्यकता नहीं है। अब शेष सूत्रकी व्याख्या की जाती है। एक भवसे दूसरे भवमें जानेवाला, चार प्रकारकी गतिवाला एवं कोई सुभग कोई दुर्भग कोई सुरूप कोई मन्दरूप कोई धनवान् कोई दरिद्र इत्यादि विचित्र रूपवाला यह लोक, भूतोंसे अतिरिक्त आत्मा न माननेवाले तज्जीवतच्छरीरवादियोंके मतमें किस प्रकार हो सकता है?। वे आत्मा नहीं मानते हैं इसलिए उनके मतमें पूर्वोक्त विचित्र जगत् किसी प्रकार भी नहीं हो सकता है। अतः वे नास्तिक, परलोक जानेवाला आत्मा न माननेके कारण पुण्य पापका भी अभाव मानकर इच्छानुसार कार्य्य करते हैं। इस कारण वे एक अज्ञानरूप अन्धकारसे निकलकर फिर दूसरे अन्धकारको प्राप्त करते हैं। आशय यह है कि वे, ऐसा करके फिर भी ज्ञानावरणादिरूप बड़ेसे बड़े अन्धकारका सञ्चय करते हैं। अथवा जो अन्धकारके समान है उसे यहाँ 'तम' कहा है। वह, नरकादि यातनास्थान है

यातनास्थानं तस्माद्—एवं भूतात्तमसः परतरं तमो यान्ति, सप्तमनरकपृथिव्यां रौरवमहारौरवकालमहाकालाप्रतिष्ठानाख्यं नरकावासं यान्तीत्यर्थः। किमिति ?, यतस्ते 'मन्दा' जडा मूर्खाः, सत्यपि युक्त्युपपन्ने आत्मन्यसदभिनिवेशात्तदभावमाश्रित्य प्राण्युपमर्दकारिणि विवेकिजननिन्दिते आरम्भे—व्यापारे निश्चयेन नितरां वा श्रिताः—सम्बद्धाः, पुण्यपापयोरभाव इत्याश्रित्य परलोकनिरपेक्षतयाऽऽरम्भनिश्रिता इति। तथा तज्जीवतच्छरीरवादिमतं निर्युक्तिकारोऽपि निराचिकीर्षुराह—'पंचण्ह' मित्यादिगाथा प्राग्वदत्रापि ॥२३॥ साम्प्रतमकारकवादिमतमाश्रित्यायमनन्तर (रोक्त) श्लोको भूयोऽपि व्याख्यायते—ये एते अकारकवादिन आत्मनोऽमूर्त्तत्वनित्यत्वसर्वव्यापित्वेभ्यो हेतुभ्यो निष्क्रियत्वमेवाभ्युपपन्नाः तेषां य एष 'लोको' जरामरणशोकाक्रन्दनहर्षादिलक्षणो नरकतिर्यङ्मनुष्यामरगतिरूपः सोऽयमेवम्भूतो निष्क्रिये सत्यात्मन्यप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावे 'कुतः' कस्माद्धेतोः स्यात् ?, न कथञ्चित्कुतश्चित्स्यादित्यर्थः, ततश्च दृष्टेष्टबाधारूपात्तमसोऽज्ञानरूपात्ते तमोऽन्तरं—निकृष्टं यातनास्थानं

क्योंकि दुःखके कारण उन स्थानोंमें सद् और असत्का विवेक नष्ट हो जाता है। उस नरकस्थानसे निकलकर वे, उससे बड़े दूसरे नरकमें जाते हैं। वे, सातवीं नरकभूमिमें रौरव, महारौरव, काल, महाकाल और अप्रतिष्ठाननामक नरकावासमें जाते हैं यह अर्थ है। वे, इन नरकोंमें क्यों जाते हैं ? कहते हैं कि वे मूर्ख हैं, इसलिए युक्तिसिद्ध आत्माको अपने मिथ्या आग्रहके कारण न मानकर वे, विचारशील पुरुषोंके द्वारा निन्दित प्राणिहिंसारूप व्यापारमें आसक्त रहते हैं। तथा वे पाप पुण्यका अभाव मानकर परलोककी परवाह न करते हुए आरम्भमें प्रवृत्त रहते हैं। इस तज्जीवतच्छरीरवादीके मतको खण्डन करनेके लिए निर्युक्तिकार "पञ्चण्हं" इत्यादि गाथा बतलाते हैं। यह गाथा पूर्ववत् यहाँ भी जाननी चाहिए ॥२३॥

अब अकारकवादीके मतको लेकर इस श्लोककी फिर व्याख्या की जाती है।

ये जो अकारकवादी, नित्य, अमूर्त्त और सर्वव्यापी होनेके कारण आत्माको निष्क्रिय मानते हैं उनके मतमें, जरा मरण, शोक, रोदन, और हर्षादिरूप तथा नरक तिर्य्यक् मनुष्य और अमरगतिरूप यह लोक कैसे हो सकता है ? अर्थात् उत्पत्ति विनाशरहित स्थिर एक स्वभाववाला आत्मा स्वीकार करने पर पूर्वोक्त रूप जगत् किसी प्रकार भी नहीं हो सकता है। अतः वे अकारकवादी, जो वस्तु देखी जाती है और जो इष्ट है उनके बाधरूप एक अज्ञानसे निकल कर उससे भी

यान्ति, किमिति ? यतो 'मन्दा' जडाः प्राण्यपकारकाऽऽरम्भनिश्रिताश्च ते इति ॥ अधुना निर्युक्तिकारोऽकारकवादिमतनिराकरणार्थमाह—

को वेएई अकयं ? कयनासो पंचहा गई नत्थि ।
देवमणुस्सगयागइ जाईसरणाइयाणं च ॥ ३४ ॥

आत्मनोऽकर्तृत्वात्कृतं नास्ति, ततश्चाकृतं को वेदयते ?, तथा निष्क्रियत्वे वेदनक्रियाऽपि न घटां प्राञ्चति, अथाकृतमप्यनुभूयेत तथा सत्यकृतागमकृतनाशापत्तिः स्यात्, ततश्च एककृतपातकेन सर्वः प्राणिगणो दुःखितः स्यात् पुण्येन च सुखी स्यादिति, न चैतद् दृष्टमिष्टं वा, तथा व्यापित्वान्नित्यत्वाच्चात्मनः 'पञ्चधा' पञ्चप्रकारा नारकतिर्यङ्मनुष्यामरमोक्षलक्षणा गतिर्न भवेत्, ततश्च भवतां सांख्यानां काषायचीवरधारणशिरस्तुण्डमुण्डनदण्डधारणभिक्षाभोजित्वपञ्चरात्रोपदेशानुसारयमनियमाद्यनुष्ठानं, तथा—

"पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो, यत्र तत्राश्रमे रतः ।
जटी मुण्डी शिखी वापि, मुच्यते नात्र संशयः ॥१॥" इत्यादि

निकृष्ट यातनास्थानको प्राप्त करते हैं। ऐसा क्यों होता है ? कहते हैं कि वे, मूर्ख सदा प्राणियोंके अपकाररूप आरम्भमें लगे रहते हैं। अब निर्युक्तिकार, अकारकवादीके मतको खण्डन करनेके लिए कहते हैं—"को वेएई" अर्थात् यदि कर्ता नहीं है तो उसका किया हुआ कर्म भी नहीं है और जब आत्माका किया हुआ कर्म नहीं है तो विना कर्म किए उसका फल वह कैसे भोग सकता है ? आत्माको कर्ता न माननेपर उसका सुख दुःख भोगना नहीं हो सकता है। यदि कर्म किए विना ही उसका फल सुख दुःख भोगाजाय तो "अकृतागम, और कृतनाश" दोष आते हैं। (कर्म किए विना ही उसका फल भोगना अकृतागम दोष है और किए हुए कर्मका फल न भोगना कृतनाश दोष कहलाता है) ऐसी दशामें एक प्राणीके द्वारा किए हुए पापसे सब प्राणीको दुःखी और एकके पुण्यसे सभी प्राणीको सुखी हो जाना चाहिए। परन्तु यह कहीं नहीं देखा जाता है और ऐसा मानना इष्ट भी नहीं है। तथा आत्मा, यदि व्यापक और नित्य है तो उसकी नारक, तिर्य्यक्, मनुष्य, अमर और मोक्षरूप पांच प्रकारकी गति भी नहीं हो सकती है, ऐसी दशामें सांख्यवादी जो कापायवस्त्रधारण शिरोमुण्डन, दण्डधारण, भिक्षान्न भोजन तथा पञ्चरात्र (ग्रन्थविशेष) के उपदेशानुसार यम नियम आदिका अनुष्ठान करते हैं यह सब व्यर्थ ही है। तथा "पचीस तत्त्वों को जानने

सर्वमपार्थकमाप्नोति तथा देवमनुष्यादिषु गत्यागती न स्यातां, सर्वव्यापित्वादात्मनः, तथा नित्यत्वाच्च विस्मरणाभावाज्जातिस्मरणादिका च क्रिया नोपपद्यते, तथा आदिग्रहणात् 'प्रकृतिःकरोति पुरुष उपभुङ्क्ते' इति भुजिक्रिया या समाश्रिता साऽपि न प्राप्नोति, तस्या अपि क्रियात्वादिति, अथ—'मुद्राप्रतिबिम्बोदयन्यायेन भोग' इति चेद्, एतत्तु निरन्तराः सुहृदः प्रत्येष्यन्ति, वाङ्मात्रत्वात्, प्रतिबिम्बोदयस्यापि च क्रियाविशेषत्वादेव, तथा नित्ये चाविकारिण्यात्मनि प्रतिबिम्बोदयस्याभावाद्यत्किञ्चिदेतदिति ॥ ३४ ॥ ननु च भुजिक्रियामात्रेण प्रतिबिम्बोदयमात्रेण च यद्यप्यात्मा सक्रियः तथापि न तावन्मात्रेणास्माभिः सक्रियत्वमिष्यते, किं तर्हि ?, समस्तक्रियावत्त्वे सतीत्येतदाशङ्क्य निर्युक्तिकृदाह—

ण हु अफलथोवणिच्छितकालफलत्तणमिहं अदुमहेऊ ।
णादुद्धथोवदुद्धत्तणे णगावित्तणे हेऊ ॥ ३५ ॥

वाला पुरुष चाहे किसी आश्रममें रहे और वह जटी हो, मुण्डी हो, अथवा शिखाधारी हो मुक्तिको प्राप्त करता है" यह कथन भी निरर्थक ही है। तथा सर्वव्यापी होनेके कारण देवता और मनुष्य आदि गतियोंमें आत्माका जाना आना भी नहीं हो सकता है, तथा नित्य होनेके कारण विस्मृति न होनेसे उस आत्मामें जातिस्मरण आदि क्रिया भी नहीं हो सकती है। तथा आदि ग्रहणसे वे जो "प्रकृति कर्म करती है और पुरुष उसका फल भोगता है" इस प्रकार आत्मामें भोग क्रिया मानते हैं वह भी नहीं हो सकता है क्योंकि भोगक्रिया भी क्रिया ही है और सांख्यवादी आत्माको निष्क्रिय मानते हैं अतः आत्मामें भोग होना सम्भव नहीं है। यदि कहो कि दर्पणमें प्रतिबिम्बित मूर्त्ति जैसे बाहर रह कर भी दर्पणमें दिखाई देती है उसी तरह आत्मामें न होता हुआ भी भोग आत्मामें प्रतीत होता है तो यह, तुम्हारे मूर्ख मित्र ही मानेंगे क्योंकि यह कथन युक्तिरहित होनेके कारण कथनमात्र है। तथा प्रतिबिम्बका उदय भी एक प्रकारकी क्रिया ही है वह विकाररहित नित्य आत्मामें हो कैसे सकती है ? इसलिए यह युक्ति भी निर्बल है। यदि कहो कि आत्मामें भोग क्रिया और प्रतिबिम्बकी उदयक्रिया होती है इसलिए वह इन क्रियाओंकी अपेक्षासे यद्यपि सक्रिय है तथापि इतने मात्रसे हम उसे सक्रिय नहीं मान सकते हैं किन्तु समस्त क्रिया करने पर उसे सक्रिय मान सकते हैं तो ऐसी आशंकापर निर्युक्तिकार कहते हैं—"णहु" अर्थात् फलवान् न होना, वृक्षके अभावका साधक नहीं है क्योंकि

'न हु' नैवाफलत्वं द्रुमाऽभावे साध्ये हेतुर्भवति, नहि यदैव फलवां स्तदैव द्रुमः अन्यदात्वद्रुम इति भावः, एवमात्मनोऽपि सुप्ताद्यवस्थायां यद्यपि कथञ्चिन्निष्क्रियत्वं तथापि नैतावतात्वसौ निष्क्रिय इति व्यपदेश-मर्हति, तथा स्तोकफलत्वमपि न वृक्षाऽभावसाधनायालं, स्वल्पफलोऽपि हि पनसादिर्वृक्षव्यपदेशभाग्भवति, एवमात्माऽपि स्वल्पक्रियोऽपि क्रिया-वानेव, कदाचिदेषा मति र्भवतो भवेत्—स्तोकक्रियो निष्क्रिय एव, यथैक कार्षापणधनो न धनित्व (व्यपदेश) मास्कन्दति, एवमात्माऽपि स्वल्प-क्रियत्वादक्रिय इति, एतदप्यचारु, यतोऽयं दृष्टान्तः प्रतिनियतपुरुषा-पेक्षया चो (ऽत्रो) पगम्यते समस्तपुरुषापेक्षया वा ? तत्र यद्याद्यः पक्षः तदा सिद्धसाध्यता, यतः—सहस्रादिधनवदपेक्षया निर्धन एवासौ, अथ समस्तपुरुषापेक्षया तदसाधु, यतोऽन्यान् जरच्चीवरधारिणोऽपेक्ष्य कार्षा-पणधनोऽपि धनवानेव, तथाऽऽत्मापि यदि विशिष्टसामर्थ्योपेतपुरुषक्रिया-

---

जब वृक्ष, फलयुक्त हो तब वृक्ष कहलाये और जब फल युक्त न हो तब वृक्ष न कहलाये ऐसा नहीं होता है इसी तरह सुप्त आदि अवस्थाओं में यद्यपि आत्मा कथञ्चित् निष्क्रिय होता है तथापि इतने मात्रसे वह निष्क्रिय कहलाये, ऐसा नहीं हो सकता है। तथा थोड़े फलोंसे युक्त होना वृक्षके अभावका साधक नहीं है क्योंकि थोड़े फलवाले कटहल आदि भी वृक्ष ही कहलाते हैं इसी तरह थोड़ी क्रिया वाला भी आत्मा क्रियावान् ही है निष्क्रिय नहीं है कदाचित् आप यह समझते हैं कि "थोड़ी क्रिया करने वाला निष्क्रिय ही है जैसे एक पैसावाला पुरुष, धनवान् नहीं कहलाता इसी तरह थोड़ी क्रियावाला होनेके कारण आत्मा भी क्रियावान् नहीं कहला सकता किन्तु वह निष्क्रिय ही है" तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि—आपने यह दृष्टान्त किसी खास पुरुषकी अपेक्षासे दिया है अथवा समस्त पुरुषोंकी अपेक्षासे दिया है ?। यदि आपने किसी खास पुरुषकी अपेक्षासे अर्थात् जिसके पास हजारों रुपये हैं उसकी अपेक्षासे यदि एक पैसावालेको निर्धन कहा है तो यह सर्वमान्य अर्थको ही अपने सिद्ध किया है क्योंकि हजारों रुपयेवाले पुरुषकी अपेक्षासे वह एक पैसावाला निर्धन है यह सभी मानते हैं लेकिन यदि आप समस्त पुरुषोंकी अपेक्षासे एक पैसेवालेको निर्धन कहते हैं तो यह ठीक नहीं है क्योंकि जिसके पास एक पैसा भी नहीं है ऐसे जो लोग फटे पुराने चीथड़े पहन कर अपना जीवन व्यतीत करते हैं उनकी अपेक्षासे वह एक पैसा वाला भी धनवान् ही है। इसी तरह विशिष्ट शक्तिवाले पुरुषकी क्रियाके

पेक्षया निष्क्रियोऽभ्युपगम्यते न काचित्क्षतिः सामान्यापेक्षया तु क्रियावानेव, इत्यलमतिप्रसङ्गेन, एवमनिश्चिताकालफलत्वाख्यहेतुद्वयमपि न वृक्षाऽभावसाधकम् इत्यादि योज्यम्, एवमदुग्धत्वस्तोकदुग्धत्वरूपावपि हेतू न गोत्वाऽभावं साधयतः, उक्तन्यायेनैव दार्ष्टान्तिकयोजनाकार्येति ॥ ३५ ॥१४॥

हिसाबसे यदि आप आत्माको क्रिया रहित कहते हैं तब तो कोई क्षति नहीं है परन्तु यदि आप सामान्यकी अपेक्षासे आत्माको क्रियारहित कहते हैं तब तो यह बात असङ्गत है क्योंकि सामान्यकी अपेक्षासे आत्मा क्रियावान् ही है। अतः इस विषयमें अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं है। इसी तरह जो वृक्ष निश्चित रूपसे फल नहीं देता है तथा समय पर फल नहीं देता है वह भी वृक्षसे भिन्न नहीं हो जाता है किन्तु वह वृक्ष ही है, इत्यादि दृष्टान्त भी यहाँ समझना चाहिए। तथा जो गाय, दूध नहीं देती है अथवा जो थोड़ा दूध देती है वह गायसे भिन्न नहीं हो जाती है इत्यादि दृष्टान्त देकर भी पूर्वोक्त रीतिसे दार्ष्टान्तकी योजना कर लेनी चाहिए।* ॥३५॥ ॥१४॥

संति पंच महब्भूया, इहमेगेसि आहिया।
आयछट्ठो पुणो आहु, आया लोगे य सासए ॥१५॥

छाया—संति पञ्च महाभूतानि, इहैकेषामाख्यातानि।
आत्मषष्ठानि पुनराहु, रात्मा लोकश्च शाश्वतः ॥

* यहां की निर्युक्ति गाथा तथा उसकी टीका देखनेसे यह भ्रम हो सकता है कि यहां की निर्युक्ति और टीका, प्रस्तुत विषयसे अनमेल अर्थको बता रहे हैं क्योंकि यहां प्रस्तुत विषय यह है "अल्प क्रियावाला भी क्रियावान् है" इसके लिए दृष्टान्त यही होना चाहिए कि अल्प फलवाला वृक्ष भी जैसे फलवाला ही कहलाता है तथा अल्प दूध वाली भी गाय जैसे दूधवाली ही कहलाती है उसी तरह अल्पक्रियावाला भी आत्मा क्रियावाला ही है निष्क्रिय नहीं है। परन्तु ऐसा न कहकर इन लोगोंने जो यह कहा है कि—अल्प फलवाला वृक्ष भी वृक्ष ही है अवृक्ष नहीं है" यह देखकर संशय हो सकता है कि यह दृष्टान्त, दार्ष्टान्तसे नहीं मिलता है, क्योंकि दार्ष्टान्तमें अल्प क्रियावान् होनेसे आत्माका अभाव नहीं बताया है किन्तु उसका निष्क्रिय होना कहा है इसलिए दृष्टान्तमें भी वृक्षका अभाव न कहकर उसको अल्प फलवाला होनेसे फल रहित न होना ही बताना चाहिए। तथापि निर्युक्ति और टीकाकारका आशय कथञ्चित् यही समझना चाहिए इसलिए कोई दोष नहीं है।

व्याकरण—(संति) क्रिया (पंच) महाभूतका विशेषण। (महब्भूया) संति क्रियाका कर्ता। (इह) अव्यय (एगेसिं) कर्ता (आहिया) महाभूतका विशेषण। (आयछट्ठो) महाभूतका विशेषण। (पुणो) अव्यय। (आहु) क्रिया (आया लोगे) कर्ता (य) अव्यय (सासए) आत्मा और लोकका विशेषण।

अन्वयार्थ—(महब्भूया) महाभूत (पंच संति) पाँच हैं (आयछट्ठो) और आत्मा छट्ठा है (एगेसिं) किन्हींका (आहिया) यह कथन है। (पुणो) फिर (आह) वे कहते हैं कि—(इह) इस जगत्में (आया) आत्मा (लोगे य) और लोक (सासए) नित्य हैं।

भावार्थ—कोई कहते हैं कि इस लोकमें महाभूत पाँच और छट्ठा आत्मा है। फिर वे कहते हैं कि आत्मा और लोक नित्य हैं।

टीका—साम्प्रतमात्मषष्ठवादिमतं पूर्वपक्षयितुमाह—

'संति' विद्यन्ते 'पञ्च महाभूतानि' पृथिव्यादीनि 'इह' अस्मिन् संसारे 'एकेषां' वेदवादिनां सांख्यानां शैवाधिकारिणाञ्च, एतद् आख्यातम् आख्यातानि वा भूतानि, ते च वादिन एवमाहुः—एवमाख्यातवन्तः, यथा 'आत्मषष्ठानि' आत्मा षष्ठो येषां तानि आत्मषष्ठानि भूतानि विद्यन्ते इति, एतानि चात्मषष्ठानि भूतानि यथाऽन्येषां वादिनामनित्यानि तथा नामीषामिति दर्शयति—आत्मा 'लोकश्च' पृथिव्यादिरूपः 'शाश्वतः' अविनाशी, तत्रात्मनः सर्वव्यापित्वादमूर्त्तत्वाच्चाकाशस्येव शाश्वतत्वं पृथिव्यादीनां च तद्रूपाप्रच्युतेरविनश्वरत्वमिति ॥१५॥

टीकार्थ—शास्त्रकार अकारकवादीका मत पूर्वपक्ष रूपसे बतानेके लिए कहते हैं। वेदवादी सांख्य और वैशेषिक कहते हैं कि "इस जगत्में पृथिवी आदि पाँच महाभूत हैं और छट्ठा आत्मा है" दूसरे वादियोंके मतमें जैसे ये, अनित्य हैं वैसे इनके मतमें अनित्य नहीं है यह दिखलाते हैं—पृथिवी आदि लोक तथा आत्मा शाश्वत यानी अविनाशी हैं। इनमें आत्मा आकाशकी तरह सर्वव्यापक और अमूर्त्त होनेके कारण नित्य है और अपने स्वरूपसे नष्ट न होनेके कारण पृथिवी आदि अविनाशी हैं ॥१५॥
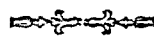
दुहओ ण विणस्संति, नो य उप्पज्जए असं।
सव्वेऽवि सव्वहा भावा नियत्तीभावमागया ॥१६॥

छाया—द्विधाऽपि न विनश्यंति, नचोत्पद्यतेऽसन्।
सर्वेऽपि सर्वथा भावाः नियतीभावमागताः ॥

व्याकरण—(दुहओ) अव्यय । (ण) अव्यय (विणस्संति) क्रिया (नो य) अव्यय (उप्पज्जए) क्रिया (असं) कर्म (सव्वे) भावका विशेषण (सव्वहा) अव्यय । (नियत्तीभावं) आगयाका कर्म (आगया) भावका विशेषण । (भावा) कर्ता ।

अन्वयार्थ—(दुहओ) दोनों प्रकारसे, वे पूर्वोक्त छः ही पदार्थ (ण विणस्संति) नष्ट नहीं होते हैं । (असं) तथा अविद्यमान पदार्थ (नो य उप्पजए) उत्पन्न नहीं होता है । (सव्वे वि) सभी (भावा) पदार्थ (सव्वहा) सर्वथा (नियत्तीभावं) नित्यताको (आगया) प्राप्त हैं ।

भावार्थ—पृथिवी आदि पाँच महाभूत तथा छट्ठा आत्मा, कारण वश या विना कारण दोनों ही प्रकारसे नष्ट नहीं होते हैं । तथा असत् वस्तुकी उत्पत्ति नहीं होती है । सभी पदार्थ सर्वथा नित्य हैं ।

टीका—शाश्वतत्वमेव भूयः प्रतिपादयितुमाह—

'ते' आत्मषष्ठाः पृथिव्यादयः पदार्था 'उभयत' इति निर्हेतुकसहेतुकविनाशद्वयेन न विनश्यन्ति, यथा बौद्धानां स्वत एव निर्हेतुकोविनाशः, तथा च ते ऊचुः—

'जातिरेव हि भावानां, विनाशे हेतुरिष्यते ।
यो जातश्च न च ध्वस्तो, नश्येत् पश्चात्स केन च ? ॥१॥'

यथा च वैशेषिकाणां लकुटादिकारणसान्निध्ये विनाशः सहेतुकः, तेनोभयरूपेणापि विनाशेन लोकात्मनो न विनाश इति तात्पर्यार्थः, यदिवा—'दुहओ' त्ति द्विरूपादात्मनः स्वभावाच्चेतनाचेतनरूपान्न विनश्यन्तीति, तथाहि–पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशानि स्वरूपापरित्यागतया नित्यानि,

---

टीकार्थ—पृथिवी आदि नित्य हैं यह बतानेके लिए फिर सूत्रकार कहते हैं—

पृथिवी आदि पाँच महाभूत और छट्ठा आत्मा, विना कारण विनाश अथवा कारणसे विनाश, इन दोनों ही प्रकारके विनाशोंसे नष्ट नहीं होते हैं । बौद्ध लोग विना कारण ही अपने आप पदार्थोंका विनाश मानते हैं । जैसा कि वे कहते हैं "जाति रेव हि" अर्थात् पदार्थोंकी उत्पत्ति ही उनके नाशका कारण है । जो पदार्थ उत्पन्न होते ही नष्ट न हुआ वह पीछे किस कारणसे नष्ट हो सकता है । तथा वैशेषिक लोग लाठी आदिके प्रहारसे पदार्थोंका नाश मानते हैं इसलिए इनके मतमें नाश सहेतुक होता है । इन दोनों प्रकारके नाशोंसे आत्मा और लोकका नाश नहीं होता है यह आत्मषष्ठवादियोंका आशय है । अथवा पृथिवी आदि पांच महाभूत, अपने अचेतनस्वभावसे तथा आत्मा अपने चेतनस्वभावसे कभी नष्ट नहीं होता है इसलिए ये कभी नष्ट नहीं होते हैं । पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश अपने स्वरूपको कभी नहीं छोड़ते हैं इसलिए ये नित्य हैं तथा यह जगत् कभी भी

'न कदाचिदनीदृशं जगदि'ति कृत्वा, आत्माऽपि नित्य एव, अकृतकत्वादिभ्यो हेतुभ्यः, तथा चोक्तम्—

"नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुतः ॥१॥
अच्छेद्योऽयमभेद्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥२॥"

एवं च कृत्वा नासदुत्पद्यते, सर्वस्य सर्वत्र सद्भावाद् असति च कारकव्यापाराभावात् सत्कार्यवादः, यदि च असदुत्पद्येत खरविषाणादेरप्युत्पत्तिःस्यादिति तथा चोक्तम्—

और तरहका नहीं होता है इसलिए नित्य है। तथा आत्मा किसीका किया हुआ नहीं है इत्यादि कारणसे वह भी नित्य है। जैसा कि कहा है—"नैनं छिन्दन्ति" अर्थात् इस आत्माको शस्त्र नहीं काट सकते, आग नहीं जला सकती, पानी नहीं भींगा सकता, वायु, शोषण नहीं कर सकता। यह आत्मा छिद नहीं सकता, यह भेद न नहीं किया जा सकता है यह विकार रहित, नित्य, सर्वगत, स्थिर, अचल और सनातन कहा जाता है। पृथिवी आदि पांच महाभूत तथा छट्ठा आत्मा नित्य हैं इसलिए असत् वस्तुकी उत्पत्ति नहीं होती है सभी पदार्थ सर्वत्र विद्यमान रहते हैं। जो पदार्थ असत् है उसमें कर्ता करण आदि कारकोंका व्यापार नहीं हो सकता है इसलिए सत् पदार्थकी ही उत्पत्ति होती है यह सिद्धान्त मानना चाहिए। यदि असत् पदार्थकी भी उत्पत्ति हो, तो खर विषाण (गदहेकी सींग) आदिकी भी उत्पत्ति होनी चाहिए। अतएव कहा है कि "असदकरणात्" अर्थात् जो वस्तु नहीं होती वह नहीं की जा सकती है, जैसे गदहे की सींग नहीं की जा सकती है इससे सिद्ध होता है कि जो वस्तु होती है वही की जाती है असत् वस्तु नहीं की जा सकती है। "उपादानग्रहणात्" कर्ता, किसी वस्तुको बनानेके लिए उसके उपादानको ही ग्रहण करता है। यदि असत्की भी उत्पत्ति हो तो उपादानके ग्रहणकी क्या आवश्यकता है? किसी भी वस्तुसे कोई भी वस्तु की जानी चाहिए। इस प्रकार तेल निकालनेके लिए तिल ग्रहण करनेकी क्या आवश्यकता है? मिट्टीसे भी तेल निकाल लेना चाहिए। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि उपादानमें विद्यमान वस्तु की ही उत्पत्ति होती है असत्की उत्पत्ति नहीं होती है। "सर्वसम्भवाभावात्" यदि असत् पदार्थकी भी उत्पत्ति हो तो वृक्षकी लकड़ीसे पुतली ही क्यों बनाई जाती है, गेहूँ, चना, कपड़ा घट आदि भी क्यों नहीं बना लिए जाते हैं? अतः

"असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाऽभावात् ।
शक्तस्य शक्यकरणात्, कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥१॥"

एवं च कृत्वा मृत्पिण्डेऽपि घटोऽस्ति, तदर्थिनां मृत्पिण्डोपादानात्, यदि चासदुत्पद्येत ततो यतः कुतश्चिदेवस्यात्, नावश्यमेतदर्थिना मृत्पिण्डोपादानमेव क्रियेत इति, अतः सदेव कारणे कार्यमुत्पद्यत इति एवं च कृत्वा सर्वेऽपि भावाः—पृथिव्यादय आत्मषष्ठाः 'नियतिभावं' नित्यत्वमागता नाभावरूपतामभूत्वा च भावरूपतां प्रतिपद्यन्ते, आविर्भावतिरोभावमात्रत्वादुत्पत्तिविनाशयोरिति, तथा चाभिहितम्—"नासतो जायते भावो, नाभावो जायते सतः" इत्यादि, अस्योत्तरं निर्युक्तिकृदाह—'को वेएई'त्यादि प्राक्तन्येव गाथा, सर्वपदार्थनित्यत्वाऽभ्युपगमे कर्तृत्वपरि-

---

कारणमें दूसरे रूपसे स्थित पदार्थ ही किया जाता है असत् पदार्थ नहीं किया जा सकता यह सिद्ध है। "शक्तस्य शक्यकरणात्" मनुष्यकी शक्तिसे जो साध्य होता है उसीको वह करता है। जो उसकी शक्तिसे साध्य नहीं होता उसे वह नहीं करता है। यदि असत्की भी उत्पत्ति हो तो अशक्य पदार्थको भी कर्ता क्यों नहीं कर देता है ? अतः असत्की उत्पत्ति नहीं होती यह सिद्ध है। "कारण भावाच्च सत्कार्य्यम्" पीपलके वीजसे पीपल ही उत्पन्न होता है आमका अङ्कुर उत्पन्न नहीं होता है। यदि कारणमें न रहने वाला भी कार्य्य उत्पन्न हो तो पीपलके बीजसे आमका अङ्कुर क्यों नहीं उत्पन्न हो जाता है ? अतः सिद्ध होता है कि कारणमें स्थित पदार्थकी ही उत्पत्ति होती है असत्की उत्पत्ति नहीं होती है। इसप्रकार मृत्पिण्डमें भी घट विद्यमान रहता है क्योंकि घट बनानेके लिए मृत्पिण्डको ही ग्रहण करते हैं। यदि असत्की भी उत्पत्ति होती तो वह घट जिस किसी पदार्थसे भी वना लिया जाता, उसके लिए खासकर मृत्पिण्ड लेनेकी ही आवश्यकता न होती। अतः कारणमें विद्यमान कार्य्य ही उत्पन्न होता है यह निश्चित है। इस प्रकार पृथिवी आदि पाँच महाभूत और छट्ठा आत्मा ये सभी पदार्थ, नित्य हैं। ये अभाव रूपमें होकर भाव रूपमें नहीं आते हैं। जगत् में जो उत्पत्ति और विनाश व्यवहार होता है वह भी वस्तुकी प्रकटता और अप्रकटताको लेकर ही होता है। अत एव कहा है कि—"नासतो" असत् पदार्थका भाव नहीं हैं अर्थात् जो वस्तु नहीं है वह होती नहीं है और सत् पदार्थका कभी अभाव नहीं होता है। इसका उत्तर देनेके लिए निर्युक्तिकार, पूर्वोक्त "को वेएई" इत्यादि पूर्वोक्त गाथा ही कहते हैं—यदि सभी पदार्थोंको नित्य मानाजाय तो कर्तृत्वपरिणाम नहीं हो सकता है और

णामो न स्यात्, ततश्चात्मनोऽकर्तृत्वे कर्मबन्धाभावस्तदभावाच्च को वेदयति ?, न कश्चित्सुखदुःखादिकमनुभवतीत्यर्थः, एवं च सति कृतनाशः स्यात्, तथा असतश्चोत्पादाऽभावे येयमात्मनः पूर्वभवपरित्यागेनापरभवोत्पत्तिलक्षणा पञ्चधा गतिरुच्यते सा न स्यात्, ततश्च मोक्षगतेरभावाद्दीक्षादिक्रियाऽनुष्ठानमनर्थकमापद्येत, तथाऽप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावत्वे चात्मनो देवमनुष्यगत्यागती तथा विस्मृतेरभावात् जातिस्मरणादिकं च न प्राप्नोति, यच्चोक्तं 'सदेवोत्पद्यते' तदप्यसत्, यतो यदि सर्वथा सदेव कथमुत्पादः ?' उत्पादश्चेत् न तर्हि सर्वथा सदिति, तथा चोक्तम्—

"कर्मगुणव्यपदेशाः प्रागुत्पत्ते र्न सन्ति यत्तस्मात् ।
कार्यमसद्विज्ञेयं क्रियाप्रवृत्तेश्च कर्तृणाम् ॥१॥"

आत्माका कर्तृत्त्व परिणाम न होनेपर उसको कर्मबन्ध नहीं हो सकता है और कर्मबन्ध न होनेपर कौन सुख दुःख भोग सकता है अर्थात् कोई भी सुख दुःख नहीं भोग सकता है। परंतु ऐसा मानने पर कृतनाश दोष आता है अर्थात् किए हुए कर्मका फल भोगना पड़ता है यह सर्वसम्मत सिद्धान्त नष्ट होता है। तथा असत् की उत्पत्ति न माननेपर पूर्व भवको छोड़कर दूसरे भावोंमें उत्पत्ति रूप इस आत्माकी जो पाँच प्रकारकी गति बताई जाती है वह नहीं हो सकती है ऐसी दशामें मोक्षगति न होनेके कारण दीक्षा आदि क्रियाका अनुष्ठान करना निरर्थक ही ठहरता है। तथा इस आत्माको उत्पत्तिविनाशरहित स्थिर एकस्वभाववाला माननेपर इसका देव मनुष्य आदि भवोंमें जाना आना नहीं हो सकता है तथा विस्मृति न होनेसे जातिस्मरण आदि ज्ञान नहीं हो सकता है अतः आत्माको एकान्त नित्य कहना मिथ्या है। तथा सत् ही उत्पन्न होता है यह भी ठीक नहीं है क्योंकि यदि वह सर्वथा सत् है तो उसकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है और यदि उत्पत्ति होती है तो वह सर्वथा सत् नहीं हो सकता है। अतएव कहा है कि "कर्मगुणव्यपदेशाः" अर्थात् जबतक घट आदि पदार्थोंकी उत्पत्ति नहीं होती है तब तक उनके द्वारा जलाहरण आदि कार्य्य नहीं किये जा सकते हैं तथा उनके गुण भी नहीं पाए जाते हैं एवं उनका घट आदि नाम भी नहीं होता है (मृत्पिण्डसे जल नहीं लाया जा सकता है और वह घटके गुणोंसे युक्त भी नहीं होता है तथा वह घट नामसे नहीं कहा जाता है) तथा घट बनानेवालेकी क्रियामें प्रवृत्ति भी घट न होने पर ही होती है घट बन जाने पर नहीं होती है इसलिए उत्पत्तिके पूर्व कार्य्यको असत् समझना चाहिए। अतः सभी पदार्थोंको कथञ्चित् नित्य और कथञ्चित

तस्मात्सर्वपदार्थानां कथञ्चिन्नित्यत्वं कथञ्चिदनित्यत्वं सदसत्कार्यवादश्चे-त्यवधार्यं, तथा चाभिहितम्—"सर्वव्यक्तिषु नियतं क्षणे क्षणेऽन्यत्वमथ च न विशेषः। सत्योश्चित्यपचित्यो राकृतिजातिव्यवस्थानात् ॥ १ ॥" इति, तथा "नान्वयः स हि भेदत्वान्न भेदोऽन्वयवृत्तितः। मृद्भेदद्वयसं-सर्गवृत्तिर्जात्यन्तरं घटः ॥२॥" ॥१६॥

अनित्य मानना चाहिए और "सदसत्कार्य्यवाद" सिद्धान्त मानना चाहिए। कहा है कि "सर्वव्यक्तिषु" अर्थात् सभी पदार्थ क्षण-क्षण बदलते रहते हैं तथापि उनमें भेद प्रतीत नहीं होता है। इसका कारण यह है कि पदार्थोंका अपचय और उपचय यद्यपि होता रहता है परन्तु उनकी आकृति और जाति सदा वही बनी रहती है। तथा "नान्वयः" कारणके साथ कार्य्यका एकान्त अभेद नहीं है क्योंकि उनमें भेद प्रतीत होता है तथा एकान्त भेद भी नहीं है क्योंकि कार्यमें कारण अनुगत रहता है अतः मृत्तिकाके साथ भेदाभेद सम्बन्ध रखनेवाला घट एक दूसरी जातिका पदार्थ है ॥१६॥
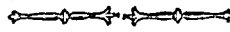
पंच खंधे वयंतेगे बाला उ खणजोइणो।
अरणो अणरणो रोवाहु हेउयं च अहेउयं ॥१७॥

छाया—पंच स्कन्धान् वदन्त्येके बालास्तु क्षणयोगिनः।
अन्य मनन्यं नैवाहु र्हेतुकञ्चाहेतुकम्।

व्याकरण—(पंच) खंधका विशेषण। (खंधे) वयन्ति क्रियाका कर्म। (वयंति) क्रिया। (एगे) बालका विशेषण। (बाला) कर्ता (उ) अव्यय। (खणजोइणो) खंधका विशेषण। (अण्णो, अणण्णो, हेउयं अहेउयं,) कर्म, आत्माके विशेषण। (णेव) अव्यय। (आहु) क्रिया।

अन्वयार्थ—(एगे उ बाला) कोई अज्ञानी (खणजोइणो) क्षणमात्र रहनेवाले (पंच) पांच (खंधे) स्कन्ध (वयंति) बताते हैं। (अण्णं) भूतों से भिन्न (अणण्णं) तथा अभिन्न (हेउयंच) कारणसे उत्पन्न तथा (अहेउयं) विना कारण उत्पन्न आत्मा (णेवाहु) नहीं कहते हैं।

भावार्थ—कोई अज्ञानी क्षणमात्र स्थित रहनेवाले पांच स्कन्धोंको बतलाते हैं। भूतों से भिन्न अथवा अभिन्न, कारणसे उत्पन्न अथवा विना कारण उत्पन्न आत्मा, वे नहीं मानते हैं।

टीका—साम्प्रतं बौद्धमतं पूर्वपक्षयन्निर्युक्तिकारोपन्यस्तमफलवादाधिकारमाविर्भावयन्नाह—

'एके' केचन वादिनो बौद्धाः 'पञ्च स्कन्धान् वदन्ति' रूपवेदनाविज्ञान संज्ञासंस्काराख्याः पञ्चैव स्कन्धा विद्यन्ते नापरः कश्चिदात्माख्यः स्कन्धोऽस्तीत्येवं प्रतिपादयन्ति, तत्र रूपस्कन्धः पृथिवीधात्वादयो रूपादयश्च १ सुखा दुःखा अदुःखसुखा चेति वेदना वेदनास्कन्धः २ रूपविज्ञानं रसविज्ञानमित्यादिविज्ञानं विज्ञानस्कन्धः ३ संज्ञास्कन्धः संज्ञानिमित्तोद्ग्राहणात्मकः प्रत्ययः ४ संस्कारस्कन्धः पुण्यापुण्यादिधर्मसमुदाय इति ५। न चैतेभ्यो व्यतिरिक्तः कश्चिदात्माख्यः पदार्थोऽध्यक्षेणाध्यवसीयते, तदव्यभिचारिलिङ्गग्रहणाऽभावान् नाप्यनुमानेन, न च प्रत्यक्षानुमानव्यतिरिक्तमर्थाविसंवादि प्रमाणान्तरमस्तीत्येवं बाला इव बाला—यथाऽवस्थितार्थापरिज्ञानात् बौद्धाः प्रतिपादयन्ति, तथा ते स्कन्धाः 'क्षणयोगिनः'

टीकार्थः—अब सूत्रकार, बौद्ध मतको पूर्वपक्षरूपसे कहते हुए निर्युक्तिकार द्वारा कहे हुए अफलवादको प्रकट करनेके लिए कहते हैं—

कोई वादी—बौद्ध, पाँच स्कन्ध बतलाते हैं। वे कहते हैं कि इस जगत्में रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा और संस्कारनामक पाँच ही स्कन्ध हैं, इनसे भिन्न कोई आत्मानामका स्कन्ध नहीं है। पृथिवी और धातु आदि तथा रूप आदिको 'रूप स्कन्ध' कहते हैं तथा सुख, दुःख और असुख अदुःखके अनुभवको 'वेदना स्कन्ध' कहते हैं। एवं रूपविज्ञान रसविज्ञान आदि विज्ञानको 'विज्ञानस्कन्ध' कहते हैं। तथा संज्ञाके कारण वस्तुविशेषके बोधक शब्दको 'संज्ञा स्कन्ध' कहते हैं। तथा पाप पुण्य आदि धर्मसमूहको 'संस्कारस्कन्ध' कहते हैं। इन पाँच स्कन्धोंसे भिन्न कोई आत्मानामका पदार्थ प्रत्यक्ष अनुभव नहीं किया जाता है तथा उस आत्माके साथ नियत सम्बन्ध रखनेवाला कोई लिङ्ग भी गृहीत नहीं होता है इसलिए अनुमान द्वारा भी वह आत्मा नहीं जाना जा सकता है। प्रत्यक्ष और अनुमानको छोड़कर पदार्थको सत्य सत्य बतानेवाला कोई तीसरा प्रमाण भी नही है (अतः पाँच स्कन्धोंसे भिन्न आत्मा नहीं है) इसप्रकार बालकके समान पदार्थज्ञानरहित बौद्धगण कहते हैं। तथा बौद्धोंके माने हुए वे पूर्वोक्त पाँचस्कन्ध' क्षणयोगी हैं। परमसूक्ष्म कालको 'क्षण' कहते हैं उस क्षणके साथ सम्बन्धको 'क्षणयोग' कहते हैं जो पदार्थ उस क्षणके साथ सम्बन्ध रखता है उसको 'क्षणयोगी' कहते हैं। जो पदार्थ क्षणमात्रस्थित रहता है वह क्षणयोगी कहलाता है

परमनिरुद्धः कालः क्षणः क्षणेन योगः—सम्बन्धः क्षणयोगः स विद्यते येषां ते क्षणयोगिनः, क्षणमात्रावस्थायिन इत्यर्थः, तथा च तेऽभिदधति स्वकारणेभ्यः पदार्थ उत्पद्यमानः किं विनश्वरस्वभाव उत्पद्यतेऽविनश्वर स्वभावो वा ?, यद्यविनश्वरस्ततस्तद्व्यापिन्याः क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाया

यह अर्थ है। पदार्थ क्षणमात्र स्थित रहते हैं इस विषयको सिद्ध करनेके लिए, बौद्धगण यह कहते हैं—अपने कारणोंसे उत्पन्न होता हुआ पदार्थ. क्या नश्वर स्वभाव उत्पन्न होता है अथवा अनश्वरस्वभाव उत्पन्न होता है ? यदि अनश्वर स्वभाव उत्पन्न होता है तो पदार्थ में व्यापक होकर रहनेवाली अर्थक्रिया, क्रमशः या एक साथ उस पदार्थमें नहीं हो सकती है इसलिए व्यापक रूप उस * अर्थ क्रियाके अभाव होनेसे व्याप्यरूप उस पदार्थका भी अभाव होगा क्यों कि जो पदार्थ, वस्तु की क्रिया करता है वही वस्तुतः सत् है इसलिए वह नित्य † (अविनश्वर स्वभाववाला) पदार्थ क्रिया करनेमें एकसाथ प्रवृत्त होता है ? अथवा क्रमशः प्रवृत्त

* वस्तुकी क्रियाको अर्थक्रिया कहते हैं। जैसे आगकी क्रिया है जलाना, पानीकी क्रिया है प्यास बुझाना, इत्यादि। जो जलानारूप क्रिया करती है वह आग है और जो प्यास बुझानेकी क्रिया करता है वह पानी है। जो जलाना रूप क्रिया नहीं करती है वह आग नहीं है और जो प्यास बुझानेकी क्रिया नहीं करता है वह पानी नहीं है। आशय यह है कि जो वस्तुकी क्रिया करता है वही वस्तु है परन्तु जो वस्तुकी क्रिया नहीं करता है वह वस्तु नहीं है। इससे यह सिद्ध होता है कि क्रिया करना ही वस्तुका लक्षण है इसलिए जो क्रिया करता है वही वस्तु है और जो क्रिया नहीं करता वह वस्तु नहीं है। अपने कारणोंसे उत्पन्न होता हुआ पदार्थ यदि अविनश्वर स्वभाव उत्पन्न हो तो वह न तो क्रमशः क्रिया कर सकता है और न एक साथ ही सब क्रिया कर सकता है क्योंकि उसका स्वभाव बदलता नहीं है और स्वभाव बदले विना वह भिन्न-भिन्न क्रियाओंको कर नहीं सकता है, अतः अविनश्वर स्वभाववाले पदार्थ द्वारा क्रिया न हो सकनेसे वह कोई वस्तु ही नहीं हो सकता है यह यहाँकी टीकाका आशय है। अविनश्वर स्वभाववाला पदार्थ एक साथ या क्रमशः कोई क्रिया नहीं कर सकता है, यह टीकाकार स्वयं इसके आगे बता रहे हैं।

† जिसका स्वभाव न बदले वह पदार्थ नित्य कहा जाता है। यदि पदार्थ नित्य है तो उससे कोई भी क्रिया नहीं हो सकती है क्योंकि पदार्थका स्वभाव परिवर्तन हुए विना उससे कोई भी कार्य्य नहीं हो सकता है। पृथिवी और जलके संयोगसे यदि बीजके स्वभावका परिवर्तन न हो तो उससे अङ्कुर कदापि उत्पन्न नहीं हो सकता है इससे सिद्ध होता है कि सहकारी कारणके संयोगसे कारण द्रव्यका स्वभाव अवश्य परिवर्तित होता है। जिसका स्वभाव परिवर्तित होता है उसीको अनित्य कहते हैं इस जगत्‌का पदार्थमात्र ही परिवर्तनशील हैं अतः उनकी अनित्यता स्पष्ट है।

अभावात् पदार्थस्यापि व्याप्यस्याऽभावः प्रसजति, तथाहि—यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थतः सदिति, स च नित्योऽर्थक्रियायां प्रवर्तमानः क्रमेण वा प्रवर्तेत यौगपद्येन वा ? न तावत् क्रमेण, यतो ह्येकस्या अर्थक्रियायाः काले तस्यापरार्थक्रियाकरणस्वभावो विद्यते वा न वा ?, यदि विद्यते किमिति क्रमकरणम् ?, सहकार्यपेक्षयेति चेत् तेन सहकारिणा तस्य कश्चिदतिशयः क्रियते न वा ? यदि क्रियते किं पूर्वस्वभावपरित्यागेना परित्यागेन वा ?, यदि परित्यागेन ततोऽतादवस्थ्यापत्तेरनित्यत्वम्, अथ पूर्वस्वभावापरित्यागेन ततोऽतिशयाऽभावात् किं सहकार्यपेक्षया ?, अथ अकिञ्चित्करोऽपि विशिष्टकार्यार्थमपेक्षते, तदयुक्तम्, यतः

"अपेक्षेत परं कश्चिद्यदि कुर्वीत किञ्चन।
यदकिञ्चित्करं वस्तु, किं केनचिदपेक्ष्यते ? ॥१॥"

अथ तस्यैकार्थक्रियाकरणकालेऽपरार्थक्रियाकरणस्वभावो न विद्यते,

होता है यदि कहो कि वह क्रमशः क्रिया करनेमें प्रवृत्त होता है तो यह ठीक नहीं है क्योंकि वह जिस समय एक क्रिया करनेके लिए प्रवृत्त होता है उस समय उसमें दूसरी क्रिया करनेका स्वभाव है या नहीं है ? यदि है तो वह एक ही साथ दूसरी क्रियाओंको भी क्यों नहीं करदेता है ? क्रमशः क्यों करता है ? यदि कहो कि उस पदार्थका दूसरी क्रिया करनेका स्वभाव तो उस समय भी अवश्य है परन्तु सहकारी कारणकी अपेक्षासे वह क्रमशः क्रियाओंको करता है एक साथ नहीं करता है तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि वह सहकारी कारण उस पदार्थ में कुछ विशेषता उत्पन्न करता है या नहीं ? यदि विशेषता उत्पन्न करता है, तो वह विशेषता उस पदार्थके पहले स्वभावको हटाकर उत्पन्न होती है या हटाए विना ही उत्पन्न होती है ? यदि उसके पहले स्वभावको हटाकर उसमें विशेषता उत्पन्न होती है तो वह पदार्थ, पहला स्वभाव न होनेके कारण अनित्य सिद्ध होता है नित्य नहीं हो सकता है। यदि कहो कि उस पदार्थके पहले स्वभावका परित्याग नहीं होता है तो सहकारी कारणके द्वारा उसमें कोई विशेषता उत्पन्न नहीं की जाती है, यह सिद्ध होता है ऐसी दशामें सहकारीकी अपेक्षा करनेकी क्या आवश्यकता है ?। यदि कहो कि "सहकारी कारण कुछ भी उपकार नहीं करता है फिर भी विशिष्ट कार्य्यके लिए उसकी अपेक्षा की जाती है" तो यह भी अयुक्त है क्योंकि (अपेक्षेत परं) जो पदार्थ कुछ उपकार करता है उसीकी अपेक्षा की जाती है परन्तु जो कुछ उपकार नहीं करता है उसकी अपेक्षा कोई क्यों करेगा ? यदि कहो कि उस पदार्थका एक क्रिया करते समय दूसरी क्रिया करनेका स्वभाव नहीं

तथा च सति स्पष्टैव नित्यताहानिः। अथाऽसौ नित्यो यौगपद्येनार्थक्रियां कुर्य्यात् तथा सति प्रथमक्षण एवाशेषार्थक्रियाणां करणात् द्वितीयक्षणेऽकर्तृत्वमायातं, तथा च सैवानित्यता। अथ तस्य तत्स्वभावत्वात्ता एवार्थक्रिया भूयो भूयो द्वितीयादिक्षणेष्वपि कुर्य्यात्, तदसाम्प्रतम्, कृतस्य करणाभावादिति। किञ्च द्वितीयादिक्षणसाध्या अप्यर्थाः प्रथमक्षण एव प्राप्नुवन्ति, तस्य तत्स्वभावत्वात्, अतत्स्वभावत्वे च तस्यानित्यत्वापत्तिरिति। तदेवं नित्यस्य क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरहान्न स्वकारणेभ्यो नित्यस्योत्पाद इति। अथानित्यस्वभावः समुत्पद्यते, तथा च सति विघ्नाभावादायातमस्मदुक्तमशेषपदार्थजातस्य क्षणिकत्वम्, तथाचोक्तम्—"जातिरेव हि भावानां विनाशे हेतुरिष्यते। यो जातश्च न च ध्वस्तो नश्येत् पश्चात्स केन च" ॥१॥ ननु सत्यप्यनित्यत्वे यस्य यदा विनाशहेतुसद्भावस्तस्य तदा

होता है इसलिए वह एक क्रिया करनेके समय दूसरी क्रिया नहीं करता है तब तो स्पष्ट ही उस पदार्थकी नित्यता नष्ट हो जाती है (क्योंकि स्वभाव भेद ही अनित्यता का लक्षण है) यदि कहो कि "वह नित्य पदार्थ, एक साथ ही सब क्रियाओंको देता है" तब तो प्रथम क्षणमें ही सब क्रिया होजानेके करण द्वितीय आदि क्षणमें वह पदार्थ अकर्ता सिद्ध होता है। अतः प्रथमक्षणमें क्रियाका कर्ता होकर द्वितीयादि क्षणमें अकर्ता होनाही उस पदार्थकी अनित्यता है। यदि कहोकि उस पदार्थका स्वभाव वही रहता है इसलिए द्वितीयादि क्षणमें भी वह उन्हीं क्रियाओंको बारबार करता है तो यह भी अयुक्त है क्योंकि जो एकवार किया जा चुका है उसका फिर किया जाना नहीं होता है। तथा वह पदार्थ यदि एक ही साथ सब क्रियाओंको कर देता है तो द्वितीयादि क्षणमें होनेवाले पदार्थ भी प्रथमक्षणमें ही हो जाने चाहिए क्योंकि द्वितीयादि क्षणमें उत्पन्न होनेवाले पदार्थोंको उत्पन्न करनेका स्वभाव उस वस्तुमें प्रथम क्षणमें भी विद्यमान है। यदि प्रथम क्षणमें उस वस्तुका वह स्वभाव नहीं है तबतो उसकी अनित्यता स्पष्ट है। इस प्रकार क्रमशः या एक साथ अर्थक्रिया न करसकनेके कारण अपने कारणोंसे नित्य पदार्थकी उत्पत्ति नहीं होती है यह सिद्ध है। इस प्रकार जब कि अनित्य स्वभाव ही पदार्थ उत्पन्न होना सिद्ध होता है तब सभी पदार्थ, क्षणमात्र स्थित रहते हैं यह हमारा कथन निर्विघ्न सिद्ध होता है। कहा भी है—(जातिरेव) पदार्थोंकी उत्पत्ति ही उनके नाशका कारण है। जो पदार्थ उत्पन्न होते ही नष्ट नहीं होता है वह पीछे कैसे नष्ट हो सकता है ?

शङ्का—यद्यपि पदार्थ अनित्य हैं तथापि जब जिसका नाशकारण उपस्थित

विनाशः, तथा च स्वविनाशकारणापेक्षाणामनित्यानामपि पदार्थानां न क्षणिकत्वमिति एतच्चानुपासितगुरोर्वचः, तथाहि तेन मुद्गरादिकेन विनाशहेतुना घटादेः किं क्रियते ? किमत्र प्रष्टव्यम् ? अभावः क्रियते, अत्र च प्रष्टव्यो देवानां प्रियः, अभाव इति किं पर्य्युदासप्रतिषेधोऽयमुत प्रसज्यप्रतिषेध इति ? तत्र यदि पर्य्युदासस्ततोऽयमर्थो भावादन्योऽभावो भावान्तरं घटात्पटादिः सोऽभाव इति, तत्र भावान्तरे यदि मुद्गरादि

होता है तब उसका नाश होता है अतः अपने-अपने नाशकारणकी अपेक्षासे नष्ट होने वाले भी अनित्य पदार्थ क्षणविनाशी नहीं हो सकते हैं ।

समाधान—यह, गुरुकी उपासना नहीं किए हुए पुरुषका वचन है क्योंकि घट आदिके नाशका कारण मुद्गर आदि, घट आदिका क्या करता है ? इसमें क्या पूछना है ? । मुद्गर आदि घटका अभाव करता है । ऐसा कहनेवाले मूर्खसे कहना चाहिए कि "अभाव"* शब्दमें 'नञ्' पर्य्युदास है अथवा प्रसज्य है ? यदि पर्य्युदास है तो इसका अर्थ यह होगा कि एक भावसे भिन्न दूसरा भाव (पदार्थ) अभाव है । जैसे घट से भिन्न पट आदि घटका अभाव है । उस पट आदि में यदि मुद्गरका व्यापार होता है तो वह मुद्गर घटका क्या करता है ? अर्थात् कुछ नहीं करता है ।

* "नञर्थौ द्वौ समाख्यातौ पर्य्युदासप्रसज्यकौ पर्य्युदासः सदृग्ग्राही प्रसज्यस्तु निषेध कृत्"—अर्थात् नञ् दो प्रकारके होते हैं एक पर्य्युदास और दूसरा प्रसज्य । इनमें पर्य्युदास सदृश पदार्थका बोधक होता है और प्रसज्य, क्रियाका निषेध करता है । जैसे "अब्राह्मण-मानय" अर्थात् अब्राह्मणको लावो । यहाँ अब्राह्मण पदसे ब्राह्मणभिन्न और ब्राह्मणके समान क्षत्रिय आदिका बोध होता है इसलिए कहनेवालेका आशय यह है कि ब्राह्मणके समान क्षत्रिय आदिको लावो । यहाँ नञ् पर्य्युदास है । प्रसज्यका उदाहरण यह है—"अश्राद्ध भोजी ब्राह्मणः असूर्य्यम्पश्याः राजदाराः" अर्थात् यह ब्राह्मण श्राद्धभोजन नहीं करता है तथा राजाकी स्त्रियाँ सूर्य्यको नहीं देखती हैं । यहाँ नञ् श्राद्धभोजन रूप क्रिया और सूर्य्यके दर्शनरूप क्रियाका प्रतिषेध करता है इसलिए यह नञ् प्रसज्यप्रतिषेध है । प्रस्तुत विषयमें जो अभाव शब्द है उसकी व्याख्या भी पर्य्युदास और प्रसज्य रूप दो प्रकारका नञर्थ होनेसे दो प्रकारकी हो सकती है । यदि पर्य्युदास मानें तो "विनाशहेतुरभावं करोति" इस वाक्यका यह अर्थ होगा कि विनाशका कारण दण्ड, घटरूपभावसे भिन्न दूसरे भाव पट आदि पदार्थको उत्पन्न करता है ऐसी दशामें वह घटका कुछ नहीं करता है, यह बात सिद्ध होती है, अतः मुद्गर आदिके द्वारा घटका नाश किया जाता है यह कथन असङ्गत है यह बौद्धोंका आशय है ।

यदि अभाव शब्दमें पर्य्युदास न मान कर प्रसज्य माने तब इसका अर्थ यह होगा कि "विनाशका कारण मुद्गर आदि घटरूपभावको उत्पन्न नहीं करता है क्योंकि प्रसज्य क्रियाका प्रतिषेधक होता है । ऐसी दशामें भी घटके साथ दण्ड आदिका कोई सम्बन्ध नहीं ठहरता है अतः दण्ड आदिसे घटका नाश कहना मिथ्या है यह बौद्धका आशय है ।

व्यापारो न तर्हि तेन किञ्चित् घटस्य कृतमिति। अथ प्रसज्यप्रतिषेधस्तदाऽयमर्थो–विनाशहेतुरभावं करोति, किमुक्तं भवति? भावं न करोतीति, ततश्च क्रियाप्रतिषेध एव कृतःस्यात्, न च घटादेः पदार्थस्य मुद्गरादिना करणं, तस्य स्वकारणैरेव कृतत्वात्, अथ भावाभावोऽभावस्तं करोतीति, तस्य तुच्छस्य नीरूपत्वात् कुतस्तत्रकारकाणां व्यापारः?, अथ तत्राऽपि कारकव्यापारो भवेत् खरशृङ्गादावपि व्याप्रियेरन् कारकाणीति। तदेवं विनाशहेतोरकिञ्चित्करत्वात् स्वहेतुत एवानित्यताक्रोडीकृतानां पदार्थानामुत्पत्तेर्विघ्नहेतोश्चाभावात् क्षणिकत्वमवस्थितमिति। 'तु' शब्दः पूर्ववादिभ्योऽस्य व्यतिरेकप्रदर्शकः, तमेव श्लोकपश्चार्धेन दर्शयति 'अण्णो अणण्णो' इति। ते हि बौद्धा यथाऽऽत्मषष्ठवादिनः सांख्यादयो भूतव्यतिरिक्तमात्मानमभ्युपगतवन्तो यथा च चार्वाका भूताव्यतिरिक्तं चैतन्याख्यमात्मानमिष्टवन्तस्तथा नैवाहु र्नैवोक्तवन्तः, तथा हेतुभ्यो जातो हेतुकः कायाकारपरिणतभूतनिष्पादित इति यावत्, तथाऽहेतुकोऽनाद्य पर्यवसितत्वान्नित्य इत्येवं तमात्मानं ते बौद्धाः नाभ्युपगतवन्त इति ॥१७॥

यदि अभाव पद का अर्थ पर्य्युदास न मानकर प्रसज्य प्रतिषेध अर्थ मानो तो यह अर्थ होगा कि "विनाशका कारण मुद्गर आदि भाव (वस्तु) को नहीं उत्पन्न करता है" इस प्रकार अभाव शब्दके द्वारा क्रिया का ही प्रतिषेध किया जाता है, परन्तु मुद्गर आदि पदार्थ घटादि पदार्थको उत्पन्न नहीं करता है क्योंकि घटादि पदार्थ अपने कारणोंसे ही उत्पन्न हुए हैं। यदि कहो कि भाव (पदार्थ) के अभावको 'अभाव' कहते हैं। वह अभाव मुद्गरके द्वारा किया जाता है तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि अभाव, अवस्तु तथा नीरूप है उसमें कारकोंका व्यापार कैसे हो सकता है? यदि अभावमें भी कारकोंका व्यापार हो तो गदहे की सींगमें भी कारकोंका व्यापार होना चाहिए। अतः विनाशका कारण मुद्गर आदि, कुछ नहीं करता है किन्तु पदार्थ अपने स्वभाव से ही अनित्य उत्पन्न होते हैं और उनके क्षणिक होनेमें कोई बाधक नहीं है इसलिए वे क्षणिक हैं। इस गाथा में 'तु' शब्द पूर्वोक्त मतवादियोंसे इस मतका भेद बतानेके लिए है। यही भेद इस श्लोकके उत्तरार्ध द्वारा बतलाते हैं "अण्णो अणण्णो" जैसे पाँच भूत और छट्ठा आत्माको मानने वाले सांख्यवादी भूतोंसे भिन्न आत्मा मानते हैं, तथा जैसे चार्वाक पाँच भूतोंसे अभिन्न आत्मा स्वीकार करते हैं उस तरह ये बौद्ध नहीं मानते हैं। ये लोग शरीर रूपमें परिणत पाँच भूतोंसे उत्पन्न अथवा आदि अन्त रहित नित्य आत्माको स्वीकार नहीं करते हैं ॥१७॥

पुढवी आउ तेऊ य, तहा वाऊ य एगओ ।
चत्तारि धाउणो रूवं, एव माहंसु आवरे ॥१८॥

छाया—पृथिव्यापस्तेजश्च तथा वायुश्चैकतः ।
चत्वारि धातोरूपाणि, एवमाहुरपरे ।

व्याकरण—(पुढवी, आउ, तेऊ, वाऊ) ये सभी प्रथमान्त, और अर्थाक्षिप्त धातुके विशेष्य हैं। (एगओ) अव्यय है। (चत्तारि) रूपका विशेषण है। (रूवं) कर्ता है (धाउणो) रूपका विशेषण सम्बन्धषष्ठयन्त है। (एवं) अव्यय। (आवरे) कर्ता। (आहंसु) क्रिया है।

अन्वयार्थ—(पुढवी) पृथिवी (आउ) जल, (य) और (तेऊ) तेज (तहा) तथा (वाऊ य) वायु (चत्तारि) ये चार (धाउणो) धातु के (रूवं) रूप हैं। (एगओ) ये शरीर रूपमें एक होने पर जीव संज्ञा को प्राप्त करते हैं। (एवं) इस प्रकार (आवरे) दूसरे बौद्धोंने (आहंसु) कहा है।

भावार्थ—पृथिवी, जल, तेज, और वायु ये चार, धातुके रूप हैं। ये जब शरीररूपमें परिणत होकर एकाकार हो जाते हैं तब इनकी जीव संज्ञा होती है यह दूसरे बौद्ध कहते हैं।

टीका—तथाऽपरे बौद्धाश्चातुर्धातुकमिदं जगदाहुरित्येतद्दर्शयितुमाह—

पृथिवी धातुरापश्च धातुस्तथा तेजो वायुश्चेति। धारकत्वात्पोषकत्वाच्च धातुत्वमेषाम् 'एगओ' त्ति, यदैते चत्वारोऽप्येकाकारपरिणतिं बिभ्रति कायाकारतया तदा जीवव्यपदेशमश्नुवते। तथा चोचुः—"चातुर्धातुकमिदं शरीरम्, न तद्व्यतिरिक्त आत्माऽस्ती"ति। 'एवमाहंसु यावरेत्ति'

टीकार्थ—तथा दूसरे बौद्ध इस जगत् को चार धातुओंसे उत्पन्न बतलाते हैं यह दिखानेके लिए सूत्रकार कहते हैं।

पृथिवी धातु है, जल धातु है, तेज धातु है, और वायु धातु है। ये चारो पदार्थ जगतको धारण और पोषण करते हैं इस लिए धातु कहलाते हैं। ये चारो धातु जब एकाकार होकर शरीर रूपमें परिणत होते हैं तब इनकी जीव संज्ञा होती है। जैसा कि वे कहते हैं—"चातुर्धातुकमिदं शरीरम्" अर्थात् यह शरीर चार धातुओंसे बना है अतः इन चार धातुओंसे भिन्न आत्मा नहीं है। इस प्रकार दूसरे

अपरे बौद्धविशेषा एवम् 'आहुः' अभिहितवन्त इति। क्वचिद् 'जाणगा' इति पाठः। तत्राऽप्ययमर्थो 'जानका' ज्ञानिनो वयं किलेत्यभिमानाग्निदग्धाः सन्त एव माहुरिति सम्बन्धनीयम्। अफलवादित्वं चैतेषां क्रियाक्षण एव कर्तुः सर्वात्मना नष्टत्वात् क्रियाफलेन सम्बन्धाभावादवसेयम्। सर्वएव वा पूर्ववादिनोऽफलवादिनो द्रष्टव्याः, कैश्चिदात्मनो नित्यस्याविकारिणोऽभ्युपगतत्वात् कैश्चित्त्वात्मन एवानभ्युपगमादिति। अत्रोत्तरदानार्थं प्राक्तन्येव निर्युक्तिगाथा "को वेएइ" इत्यादि व्याख्यायते, यदि पञ्चस्कन्धव्यतिरिक्तः कश्चिदात्माख्यः पदार्थो न विद्यते ततस्तदभावात्सुखदुःखादिकं कोऽनुभवतीत्यादि गाथा प्राग्वद् व्याख्येयेति। तदेवमात्मनोऽभावाद् योऽयं स्वसंविदितः सुखदुःखानुभवः स कस्य भवत्विति चिन्त्यताम्? ज्ञानस्कन्धस्यायमनुभव इति चेन्न, तस्याऽपि क्षणिकत्वात्, ज्ञानक्षणस्य चातिसूक्ष्मत्वात्सुखदुःखानुभवाभावः। क्रियाफलवतोश्च क्षणयोरत्यन्तासङ्गतेः कृतनाशाकृताभ्यागमापत्तिरिति। ज्ञानसन्तान एकोऽस्तीति

बौद्ध, कहते हैं। कहीं 'जाणगा' यह पाठ मिलता है, इस पाठका अर्थ यह है कि "हमलोग बड़े ज्ञानी हैं" इस अभिमान रूप अग्निसे जले हुए वे बौद्ध ऐसा कहते हैं। ये बौद्ध अफलवादी हैं क्योंकि क्रिया करने के क्षणमें ही इनके मतमें आत्मा सर्वथा नष्ट हो जाता है इसलिए उस आत्माका क्रिया फलके साथ संबंध नहीं होता है। अथवा पूर्वोक्त सभी मतवाले अफलवादी हैं क्योंकि कोई विकाररहित नित्य आत्मा स्वीकार करते हैं और कोई आत्मा ही नहीं मानते हैं। इस विषयका समाधान देनेके लिए पूर्वोक्त 'को वेए ई' इत्यादि पूर्वोक्त निर्युक्ति गाथाकी ही व्याख्या की जाती है। यदि पांच स्कन्धोंसे भिन्न कोई आत्मा नामका पदार्थ नहीं है तो आत्मा न होनेसे सुख दुःखका अनुभव कौन करता है? इत्यादि रूपसे पूर्ववत् पूर्वोक्त निर्युक्ति गाथाकी व्याख्या करनी चाहिए। तथा आत्मा, यदि नहीं है तो अपने अनुभवसे सिद्ध सुख दुःखका अनुभव किसको होगा? यह विचार करना चाहिए। यदि कहो कि यह सुखदुःखका अनुभव विज्ञान स्कन्धका है, तो यह ठीक नहीं है क्योंकि विज्ञानस्कन्ध भी क्षणिक है और ज्ञानक्षण, अति सूक्ष्म होनेके कारण सुख दुःखका अनुभव नहीं हो सकता है। तथा जो पदार्थ क्रिया करता है और जो पदार्थ उस क्रियाका फल भोगता है, इन दोनोंका परस्पर अत्यन्त भेद होनेके कारण कृतनाश और अकृतागम रूप दोष तुम्हारे मतमें आते हैं। (क्रिया करनेवाला अपनी क्रियाका फल नहीं भोगता है, यह कृतनाश दोष है और जो क्रिया नहीं करता है

चेत्तस्याऽपि सन्तानिव्यतिरिक्तस्याभावाद् यत्किञ्चिदेतत्। पूर्वक्षण एव उत्तरक्षणे वासनामाधाय विनङ्क्ष्यतीति चेत्, तथा चोक्तम्—"यस्मिन्नेव हि सन्ताने, आहिता कर्मवासना। फलं तत्रैव सन्धत्ते कार्पासे रक्तता यथा॥।" अत्रापीदं विकल्प्यते—सा वासना किं क्षणेभ्यो व्यतिरिक्ताऽव्यतिरिक्ता वा? यदि व्यतिरिक्ता, वासकत्वाऽनुपपत्तिः, अथाव्यतिरिक्ता, क्षणवत् क्षणक्षयित्वं तस्याः तदेवमात्माऽभावे सुखदुःखानुभवाभावः स्याद्, अस्ति च सुखदुःखानुभवो, अतोस्त्यात्मेति। अन्यथा पञ्चविषयानुभवोत्तरकालमिन्द्रियज्ञानानाम् स्वविषयादन्यत्राप्रवृत्तेः सङ्कलनाप्रत्ययो न स्यात्। आलयविज्ञानाद् भविष्यतीति चेदात्मैव तर्हि संज्ञान्तरेणाभ्युपगत इति। तथा बौद्धागमोऽप्यात्मप्रतिपादकोऽस्ति, स चायम्—

"इत एकनवतौ कल्पे, शक्त्या मे पुरुषो हतः।
तेन कर्मविपाकेन पादे विद्धोऽस्मि भिक्षवः!" ॥१॥

वह उस क्रियाका फल भोगता है यह 'अकृतागम' दोष है) यदि कहो कि ज्ञान संतान (ज्ञानका सिलसिला) एक है इसलिए जो ज्ञानसंतान क्रिया करता है वही उसका फल भोगता है इसलिए हमारे मतमें कृतनाश और अकृतागम दोष नहीं आते हैं तो यह ठीक नहीं है क्योंकि वह ज्ञानसंतान भी प्रत्येक ज्ञानोंसे भिन्न नहीं है अतः उस ज्ञान संतानसे भी कुछ फल नहीं है। यदि कहो कि पूर्व पदार्थ, उत्तर पदार्थमें अपनी वासनाको स्थापित करके नष्ट होता है, जैसा कि कहा है—(यस्मिन्नेव हि संताने) अर्थात् जिस ज्ञानसंतानमें कर्मवासना स्थित रहती है उसीमें फल उत्पन्न होता है जैसे जिस कपासमें लाली होती है उसीमें फल उत्पन्न होता है तो यहाँ भी यह विकल्प खड़ा किया जाता है क्या वह वासना, उस क्षणिक पदार्थसे भिन्न है अथवा अभिन्न है? यदि भिन्न है तो वह वासना उस क्षणिक पदार्थको वासित नहीं कर सकती है और यदि वह अभिन्न है तो उस क्षणिक पदार्थके समान वह भी क्षणक्षयिणी है। अतः आत्मा न होनेपर सुख दुःखका भोग नहीं हो सकता है परन्तु सुख दुःखका भोग अनुभव किया जाता है अतः आत्मा अवश्य है यह सिद्ध होता है। यदि आत्मा न हो तो गंध, रूप, रस, स्पर्श और शब्द इन पाँच विषयोंका अनुभव होनेके पश्चात् "मैंने पचही विषय जाने" यह संकलनात्मक ज्ञान नहीं हो सकता है क्योंकि प्रत्येक इन्द्रियका ज्ञान अपने विषयसे भिन्न विषयमें प्रवृत्त नहीं होता है। यदि कहो कि आलयविज्ञानसे संकलनात्मक ज्ञान होगा तो इस प्रकार तुमने दूसरे नामसे आत्माको ही अँगीकार किया है। तथा बौद्धागम भी आत्माका

तथा—

"कृतानि कर्माण्यतिदारुणानि, तनूभवन्त्यात्मनि गर्हणेन।
प्रकाशनात्संवरणाच्च तेषामत्यन्तमूलोद्धरणं वदामि" ॥२॥

इत्येवमादि। तथा यदुक्तं क्षणिकत्वं साधायता यथा 'पदार्थः कारणेभ्य उत्पद्यमानो नित्यः समुत्पद्यतेऽनित्यो वे'त्यादि, तत्र नित्येऽप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावे कारकाणां व्यापाराभावादतिरिक्ता वाचोयुक्तिरिति नित्यत्वपक्षानुत्पत्तिरेव। यच्च नित्यत्वपक्षे भावताऽभिहितं 'नित्यस्य न क्रमेणार्थक्रियाकारित्वं नाऽपि यौगपद्येनेति' तत्क्षणिकत्वेऽपि समानं, यतः क्षणिकोऽप्यर्थक्रियायां प्रवर्तमानः क्रमेण, यौगपद्येन-वाऽवश्यं सहकारिकारणसव्यपेक्ष एव प्रवर्तते, यतः सामग्री जनिका, नह्येकं किञ्चिदिति। तेन च सहकारिणा न तस्य कश्चिदतिशयः कर्तुं

प्रतिपादन करता है। वह आगम यह है—(इत एकनवतौ) अर्थात् हे भिक्षुओं! इस कल्पसे एकानवे कल्पमें मेरी शक्तिके द्वारा एक पुरुष मारा गया था। अतः उस कर्मका फलस्वरुप मेरे पैरमें कांटेका वेध हुआ है। (कृतानि कर्माण्यति) मनुष्यके द्वारा किया हुआ दारुण कर्म, आत्मनिन्दासे कम हो जाता है और प्रकाश करनेसे तथा उसका प्रायश्चित्त करनेसे एवं फिर उसे न करनेसे वह अत्यन्त नष्ट हो जाता है, यह मैं कहता हूँ। इस प्रकार बौद्धागम भी आत्मका समर्थन करता है। तथा "पदार्थ क्षणिक है" यह सिद्ध करते हुए बौद्धोंने जो यह कहा है कि "अपने कारणोंसे उत्पन्न होता हुआ पदार्थ नित्य उत्पन्न होता है अथवा अनित्य उत्पन्न होता है?" यह विकल्प ठीक नहीं है क्योंकि नित्य पदार्थ, उत्पत्तिविनाशरहित स्थिर एक स्वभाववाला होता है इसलिए उसमें कारणोंका व्यापार होना सम्भव नहीं है, अतः नित्य पदार्थकी उत्पत्ति मानकर उत्पन्न होनेवाले पदार्थोंमें नित्यत्व पक्षका कथन अयुक्त है। तथा नित्य पक्षमें दोष बताते हुए जो आपने यह कहा है कि "नित्य पदार्थ न तो क्रमशः क्रिया कर सकता है और न एक ही साथ क्रिया कर सकता है" यह दोष आपके क्षणिकत्व पक्षमें भी समान ही है, क्योंकि क्रमशः अथवा एक साथ क्रियाके लिए प्रवृत्त होता हुआ क्षणिक पदार्थ भी अवश्य सहकारी कारणकी अपेक्षा रखता है क्योंकि सामग्री कार्य्यको उत्पन्न करती है कोई एक पदार्थ उत्पन्न नहीं करता है परन्तु वह सहकारी कारण उस क्षणिक पदार्थमें कोई विशेषता नहीं उत्पन्न कर

पार्य्यते, क्षणस्याविवेकत्वेनानाधेयातिशयत्वात्, क्षणानां च परस्परोपकारकोपकार्य्यत्वानुपपत्तेः सहकारित्वाभावः, सहकार्य्यनपेक्षायां च प्रतिविशिष्टकार्य्यानुपपत्तिरिति । तदेव मनित्यएव कारणेभ्यः पदार्थः समुत्पद्यत इति द्वितीयपक्षसमाश्रयणमेव, तत्राऽपि चैतदालोचनीयं—किं क्षणक्षयित्वेनानित्यत्व माहोस्वित् परिणामानित्यतयेति ?, तत्र क्षणक्षयित्वे कारणकार्य्याभावात् कारकाणां व्यापारएवानुपपन्नः कुतः क्षणिकानित्यस्य कारणेभ्य उत्पाद इति ? । अथ पूर्वक्षणादुत्तरक्षणोत्पादे सति कार्य्यकारणभावो भवती त्युच्यते, तदयुक्तं, यतोऽसौ पूर्वक्षणो विनष्टो वोत्तरक्षणं जनयेदविनष्टोवा ? । न तावद् विनष्टः, तस्यासत्त्वाज्जनकत्वानुपपत्तेः, नाऽप्य-

सकता है क्योंकि क्षणिक पदार्थ दुर्विज्ञेय होनेके कारण विशेषता स्थापन करने योग्य नहीं होता । तथा क्षणिक पदार्थ, एक दूसरेका उपकारक अथवा उपकार्य्य नहीं हो सकता है ऐसी दशामें उनका सहकारी होना भी नहीं बनता है और सहकारीके बिना विशिष्ट कार्य्योंकी उत्पत्ति हो नहीं सकती है इसलिए पदार्थोंको क्षणिक न मान कर अनित्य मानना ही ठीक है । पदार्थ अपने कारणोंसे उत्पन्न होता हुआ अनित्य उत्पन्न होता है, यह दूसरा पक्ष मानना ही युक्ति संगत है । इस पक्षमें भी यह विचार करना चाहिए कि पदार्थ क्षणमात्रमें ही नष्ट हो जाते हैं इसलिए वे अनित्य हैं अथवा वे नाना रूपोंमें परिणत होते रहते हैं इसलिए अनित्य हैं ? । यदि यह माना जाय कि पदार्थ, क्षणमात्रमें ही नष्ट हो जाते हैं इसलिए वे अनित्य हैं तो इस पक्षमें कोई पदार्थ न तो किसी पदार्थका कारण हो सकता है और न कोई किसीका कार्य्य हो सकता है क्योंकि सभी पदार्थ क्षणमात्र ही स्थित रहते हैं फिर वे किसीका कारण या कार्य्य कैसे हो सकते हैं ? । तथा उन क्षण विनाशी पदार्थोंमें कारकोंका व्यापार भी सम्भव नहीं है ऐसी दशामें क्षणमें नष्ट होनेवाले अनित्य पदार्थोंकी कारणोंसे उत्पत्ति होती है यह कैसे हो सकता है ? । यदि कहो कि क्षणमात्र स्थित रहनेवाले पहले पदार्थसे उत्तर पदार्थकी उत्पत्ति होती है इसलिए क्षणिक पदार्थोंमें परस्पर कारणकार्य्यभाव हो सकता है तो यह भी अयुक्त है क्योंकि पहला क्षणिक पदार्थ, स्वयं नष्ट होकर उत्तर पदार्थको उत्पन्न करता है अथवा नष्ट न होकर उत्पन्न करता है ? । यदि वह स्वयं नष्ट होकर उत्तर पदार्थको उत्पन्न करता है तो यह नहीं हो सकता है क्योंकि जो स्वयं नष्ट हो गया है वह दूसरेको किस तरह उत्पन्न कर सकता है ? । यदि कहो कि पहला पदार्थ स्वयं नष्ट न होकर उत्तर पदार्थको उत्पन्न

विनष्टः, उत्तरक्षणकाले पूर्वक्षणव्यापारसमावेशात्क्षणभङ्गभङ्गापत्तेः। पूर्वक्षणो विनश्यंस्तूत्तरक्षण मुत्पादयिष्यति तुलान्तयोर्नामोन्नामवदितिचे देवं तर्हि क्षणयोः स्पष्टैवैककालताऽऽश्रिता। तथा हि—याऽसौ विनश्यदवस्था, साऽवस्थातुरभिन्ना, उत्पादावस्थाऽप्युत्पित्सोः, ततश्च तयोर्विनाशोत्पादयो र्यौगपद्याभ्युपगमे, तद्धर्मिणोरपि पूर्वोत्तरक्षणयो रेककालावस्थायित्वमिति। तद्धर्मताऽनभ्युपगमे च विनाशोत्पादयोरवस्तुत्वापत्तिरिति। यच्चोक्तम्—"जातिरेव हि भावाना मि"त्यादि, तत्रेदमभिधीयते—यदि जातिरेव—उत्पत्तिरेव भावानां पदार्थानामभावे हेतुस्ततोऽभावकारणस्य सन्निहितत्वेन विरोधेनाघ्रातत्वादुत्पत्त्यभावः। अथोत्पत्त्युत्तरकालं विनाशो भविष्यतीत्यभ्युपगम्यते, तथा सति उत्पत्तिक्रियाकाले तस्याऽभूतत्वात्पश्चाच्च भवन्ननन्तर एव भवति न भूयसा कालेनेति किमत्र नियामकम्? विनाशहेत्वभाव इति चेत् यत उक्तम्—"निर्हेतुत्वाद्विनाशस्य

करता है तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि उत्तर पदार्थके कालमें पूर्व पदार्थका व्यापार विद्यमान होनेसे तुम्हारा क्षणभङ्गवादरूप सिद्धान्त ही नहीं रह सकता है। यदि कहो कि जैसे तराजूका एक पलड़ा, स्वयं नीचा होता हुआ दूसरे पलड़ेको ऊपर उठाता है उसी तरह पहला पदार्थ स्वयं नष्ट होता हुआ उत्तर पदार्थको उत्पन्न करता है तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा माननेपर स्पष्ट ही तुम दोनों पदार्थोंको एक कालमें स्थित रहना स्वीकार करते हो, जो क्षणभङ्गवाद सिद्धान्तके प्रतिकूल है। जिस पदार्थका नाश होता है उसकी वह नाशावस्था उससे भिन्न नहीं है, इसी तरह उत्पन्न होते हुए पदार्थकी उत्पत्ति अवस्था भी उस पदार्थसे भिन्न नहीं है

ऐसी दशामें उत्पत्ति और विनाश एक साथ मानने पर उनके धर्मीरूप पूर्व और उत्तर पदार्थकी भी एक कालमें स्थिति सिद्ध होगी। यदि उत्पत्ति और विनाश को, उन पदार्थोंका धर्म न मानो तो उत्पत्ति और विनाश, कोई वस्तु ही सिद्ध न होंगे। तथा यह जो कहा है कि—"पदार्थोंकी उत्पत्ति ही उनके नाशका कारण है" इसका समाधान यह है कि यदि पदार्थोंकी उत्पत्ति ही उनके नाशका कारण है तो किसी भी पदार्थकी उत्पत्ति ही न होनी चाहिए क्योंकि उनके विनाशका कारण उनकी उत्पत्ति उनके निकट विद्यमान है। यदि कहो कि "उत्पत्तिके पश्चात पदार्थका विनाश होता है" तो वह विनाश, उत्पत्तिके समय न होकर जब पश्चात होता है तब वह उत्पत्तिके अनंतर क्षणमें ही होगा चिर कालके पश्चात न होगा इसका

स्वभावादनुबन्धितेति'' एतदप्ययुक्तं, यतो घटादीनां मुद्गरादिव्यापारान न्तरमेव विनाशो भवन् लक्ष्यते। ननु चोक्तमेवात्र तेन मुद्गरादिना घटादेः किं क्रियते ? इत्यादि, सत्यमुक्त मिदमयुक्तं तूक्तं, तथाहि—अभाव इति प्रसज्यपर्य्युदासविकल्पद्वयेन योऽयं विकल्पितः, पक्षद्वयेऽपि च दोषः प्रदर्शितः सोऽदोष एव। यतः पर्य्युदासपक्षे कपालाख्यभावान्तरकरणे घटस्य च परिणामानित्यतया तद्रूपतापत्तेः कथं मुद्गरादे र्घटादीन् प्रत्यकिञ्चित् करत्वम् ? प्रसज्यप्रतिषेधस्तु भावं न करोतीति क्रियाप्रतिषेधात्मकोऽत्र नाश्रीयते किं तर्हि ? प्रागभावप्रध्वंसाभावेतरेतरात्यन्ताभावानां चतुर्णां मध्ये प्रध्वंसाभाव एवेहाश्रीयते। तत्र च कारकाणां व्यापारोभवत्येव, यतोऽसौ वस्तुतः पर्य्यायोऽवस्थाविशेषो नाभावमात्रं, तस्य चावस्थाविशेषस्य भावरूपत्वात्पूर्वोपमर्द्देन च प्रवृत्तत्वाद् यएव कपालादेरुत्पादः स एव घटादेर्विनाश इति विनाशस्य सहेतुकत्व मवस्थितम्—अपि च कादाचित्कत्वेन

क्या कारण है ? यदि कहो कि—"विनाशका कारण न होनेके कारण चिरकालके बाद विनाश नहीं होता है" जैसा कि कहा है—विनाश विनाही कारण होता है इसलिए वह स्वाभाविक है" तो यह भी अयुक्त है, क्योंकि मुद्गर आदिका प्रहारके पश्चात् ही घट आदिका विनाश देखा जाता है। यदि कहो कि हमने पहले यह कहा है कि—"मुद्गर आदि घटका क्या कर सकते हैं, इत्यादि" सो ठीक है, आपने कहा अवश्य है परन्तु अयुक्त कहा है क्योंकि अभाव शब्द में पर्य्युदास और प्रसज्य रूप जो आपने दो विकल्प किया है और दोनों पक्षोंमें दोष भी दिखाया है यह ठीक नहीं है क्योंकि अभाव शब्दका पर्य्युदास अर्थ मानने पर घटसे भिन्न कपालरूप पदार्थको मुद्गर उत्पन्न करता है और घट, परिणामी अनित्य है इसलिए वह कपाल रूपमें परिणत होता है अतः मुद्गर आदि घटका कुछ नहीं करते यह किस प्रकार हो सकता है ?। क्रियाको प्रतिषेध—करने वाला प्रसज्य प्रतिसेध तो यहां नहीं मानाजाता है किंतु प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव रूप चार अभावोंमेंसे यहां प्रध्वंसाभावका ग्रहण किया जाता है। उस प्रध्वंसाभावमें कारकोंका व्यापार होता ही है क्योंकि वह वस्तुतः पदार्थका पर्य्याय यानी अवस्थाविशेष है अभावमात्र नहीं है वह अवस्थाविशेष भावरूप है इसलिए वह पूर्व अवस्थाको नष्ट करके उत्पन्न होता है इसलिए कपाल आदि की जो उत्पत्ति है वही घट आदिका विनाश है। अतः विनाश कारणवश होता है यह सिद्ध है। तथा विनाश कभी कभी होता है सदा नहीं होता है इसकारण भी वह

विनाशस्य सहेतुकत्व मवसेयमिति । पदार्थव्यवस्थार्थञ्चावश्यमभाव चातुर्विध्यमाश्रयणीयम् । तदुक्तम्—"काय्र्यद्रव्य मनादिः स्यात् प्रागभावस्यनिन्हवे । प्रध्वंसस्य चाभावस्य प्रच्यवेऽनन्ततां व्रजेत्" ! "सर्वात्मकं तदेकं स्यादन्यापोहव्यतिक्रमे" इत्यादि । तदेवं क्षणिकस्य विचाराक्षमत्वात्परिणामानित्यपक्ष एव ज्यायानिति । एवञ्च सत्यात्मा परिणामी ज्ञानाधारो भवान्तरयायी, भूतेभ्यः कथंचिदन्य एव शरीरेण सहान्योऽन्यानुवेधादनन्योऽपि, तथा सहेतुकोऽपि, नारकतिर्यङ्मनुष्यामरभवोपादानकर्मणा तथा तथा विक्रियमाणत्वात् पर्यायरूपतयेति । तथाऽऽत्मस्वरूपाप्रच्युतेर्नि·

सहेतुक है यह सिद्ध होता है । तथा पदार्थोंकी व्यवस्थाके लिए अवश्य चार प्रकारके अभावोंको मानना चाहिए । कहा भी है "काय्र्यद्रव्यम्" अर्थात् प्रागभाव* न माननेपर काय्र्यद्रव्य अनादि होजायगा और प्रध्वंस† न माननेपर वस्तुका अन्त न होगा तथा अन्योऽन्या‡ भाव न माननेपर एक वस्तु सर्व वस्तु स्वरूप हो जायगी इत्यादि । इसप्रकार क्षणभंगवाद विचारसंगत न होनेसे 'वस्तु परिणामी और अनित्य हैं' यह पक्ष माननाही ठीक है ।

इसप्रकार यह आत्मा, परिणामी, ज्ञानका आधार, दूसरे भवोंमें जानेवाला और भूतोंसे कथंचित् भिन्न है । तथा शरीरके साथ मिलकर रहनेके कारण वह, कथंचित् शरीरसे अभिन्न भी है । वह आत्मा नारक, तिर्य्यक्, मनुष्य और अमरगतिके कारणरूप कर्मोंके द्वारा भिन्न भिन्न रूपोंमें बदलता रहता है । इसलिए वह सहेतुक भी है । तथा आत्माके निज स्वरूपका कभी नाश नहीं होता है

---

* उत्पत्तिके पूर्व काय्र्यके अभावको 'प्रागभाव' कहते हैं । जो घट कल होनेवाला है उसका आज अभाव है । इस अभावको 'प्रागभाव' कहते हैं । यदि यह अभाव न माना जाय तो उत्पत्तिके पहले भी काय्र्यका सद्भाव होनेसे सभी पदार्थ आदि रहित हो जायँगे परन्तु आदि रहित हैं नहीं अतः पदार्थोंका आदि सिद्ध करनेके लिए 'प्रागभाव' मानना आवश्यक है ।

† (प्रध्वंस) उत्पत्तिके पश्चात् पदार्थका नाश हो जाना 'प्रध्वंसाभाव' कहलाता है । यदि यह न माना जाय तो सभी पदार्थ अन्तरहित हो जायँगे अतः इसे स्वीकार करना चाहिए ।

‡ (अन्योऽन्याभाव) एक पदार्थको दूसरे पदार्थसे भिन्नताको 'अन्योऽन्याभाव' कहते हैं । यदि यह न माना जाय तो सभी पदार्थ भिन्न-भिन्न न होकर एक स्वरूप हो जायँगे इसलिए इसका स्वीकार भी आवश्यक है । जो पदार्थ तीनों कालमें नहीं होता है उसका अभाव 'अत्यंताभाव' कहलाता है, जैसे आकाश पुष्प और खरविषाणका अभाव अत्यन्ताभाव है ।

त्यत्वादहेतुकोऽपीति । आत्मनश्च शरीरव्यतिरिक्तस्य साधितत्वात् 'चतुर्धातुकमात्रं, शरीर मेवेद' मित्येतदुन्मत्तप्रलपितमपकर्णयितव्यमित्यलं प्रसङ्गेनेति ॥१८॥

इसलिए वह नित्य तथा निर्हेतुक भी है । इसप्रकार शरीरसे भिन्न आत्मा सिद्ध होनेपर भी उसे चार धातुओंसे बना हुआ शरीरमात्र बताना पागलकी बड़बड़ाहटके समान अयुक्त है अतः बुद्धिमान्को वह नहीं सुनना चाहिए ॥१८॥
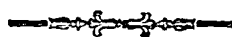
'अगारमावसंतावि अरण्णा वावि पव्वया ।
इमं दरिसणमावण्णा, सव्वदुक्खा विमुच्चई ॥१९॥

छाया—आगारमावसन्तोऽपि आरण्या वाऽपि प्रव्रजिताः ।
इदं दर्शनमापन्नाः सर्वदुःखात्प्रमुच्यते ।

व्याकरण—(अगारं) कर्म । (अवसंता) कर्ताका विशेषण । (अवि) अव्यय । (अरण्णा, पव्वया) कर्ताका विशेषण । (इमं दरिसणं) कर्म (आवण्णा) कर्ताका विशेषण (सव्वदुक्खा) अपादान (विमुच्चई) क्रिया ।

अन्वयार्थ—(आगारं) घरमें (आवसंतावि) निवास करनेवाले (आरण्णावावि) अथवा वनमें निवास करनेवाले (पव्वया) अथवा प्रव्रज्या धारण किए हुए पुरुष (इमं दरिसणं) इस दर्शनको (आवण्णा) प्राप्त कर (सव्वदुक्खा) सब दुःखोंसे (विमुच्चई) मुक्त हो जाते हैं ।

भावार्थ—घरमें निवास करनेवाले गृहस्थ, तथा वनमें रहनेवाले तापस, एवं प्रव्रज्या धारण किए हुए मुनि जो कोई इस मेरे दर्शनको प्राप्त करते हैं वे सब दुःखोंसे मुक्त हो जाते हैं यह वे अन्यदर्शनी कहते हैं ।

टीका—साम्प्रतं पञ्चभूतात्माऽद्वैततज्जीवतच्छरीराकारकात्मषष्ठक्षणिकपञ्चस्कन्धवादिनामफलवादित्वं वक्तुकामः सूत्रकारस्तेषां स्वदर्शनफलाऽभ्युपगमं दर्शयितुमाह—

टीकार्थ—अब सूत्रकार, पंचभूतात्मवादी, आत्माद्वैतवादी, तज्जीवतच्छरीरवादी, अकारकवादी, आत्मषष्ठवादी, और क्षणिकपञ्चस्कन्धवादी, इन सबको अफलवादी बतानेके लिए, तथा इन लोगोंका अपने अपने दर्शनोंके प्रति जो मन्तव्य है वह बतानेके लिए कहते हैं—

टीका—अगारं गृहं तद् आवसंतः तस्मिंस्तिष्ठन्तो गृहस्था इत्यर्थः, आरण्या वा तापसादयः प्रव्रजिताश्च शाक्यादयः अपिः संभावने इदं ते संभावयन्ति यथा—इदम् अस्मदीयं दर्शनम् आपन्ना आश्रिताः सर्वदुःखेभ्यो विमुच्यन्ते आर्षत्वादेकवचनं सूत्रे कृतं, तथाहि—पञ्चभूततज्जीवतच्छरीरवादिनामयमाशयः—यथेदमस्मदीयं दर्शनं ये समाश्रितास्ते गृहस्थाः संतः सर्वेभ्यः शिरस्तुण्डमुण्डन दण्डाजिनजटाकाषायचीवरधारणकेशोल्लुञ्चनाग्न्यतपश्चरणकायक्लेशरूपेभ्यो दुःखेभ्यो मुच्यंते, तथाचोचुः "तपांसि यातनाश्चित्राः संयमो भोगवञ्चनम्। अग्निहोत्रादिकं कर्म, बालक्रीडेव लक्ष्यते" इति सांख्यादयस्तु मोक्षवादिन एवं सम्भावयन्ति—यथा येऽस्मदीयं दर्शनमकर्तृत्वात्माऽद्वैतपंचस्कन्धादि-प्रतिपादकमापन्नाः प्रव्रजितास्ते सर्वेभ्यो जन्मजरामरणगर्भपरम्पराऽनेक-शारीरमानसातितीव्रतरासातोदयरूपेभ्यो दुःखेभ्यो विमुच्यंते, सकलद्वन्द्व-विनिर्मोक्षं मोक्षमास्कन्दन्तीत्युक्तं भवति ॥१९॥

घरको 'अगार' कहते हैं उसमें निवास करनेवाले गृहस्थ, तथा वनमें रहनेवाले तापस आदि, एवं प्रव्रज्या धारण किए हुए शाक्य आदि, यह विश्वास रखते हैं कि हमारे दर्शनको स्वीकार किए हुए पुरुष सब दुःखोंसे मुक्त हो जाते हैं। यहां अपि शब्द संभावना अर्थमें है। सूत्रमें आर्षत्वात् बहुवचनके स्थानमें एकवचन किया है। पञ्चभूतवादी और तज्जीवतच्छरीरवादीका यह आशय है कि—जो लोग हमारे दर्शनका आश्रय लेते हैं वे गृहस्थ रहते हुए, शिरोमुण्डन, दण्डचर्मधारण, जटा धारण, काषायवस्त्र और गुदड़ीधारण, केशका लुञ्चन, नंगा रहना, तप करना, आदि दुःखरूप शरीरक्लेशोंसे वंच जाते हैं। जैसा कि वे कहते हैं—(तपांसि) अर्थात् तप तो नाना प्रकारकी यातना (दुःख भोग) है और संयम धारण करना भोगसे वंचित रहना है। तथा अग्निहोत्र आदि कर्म लड़कोंके खेलके समान व्यर्थ है। मोक्षको स्वीकार करनेवाले सांख्यवादी आदि इस प्रकार आशा करते हैं कि—अकर्तृत्ववाद, अद्वैतवाद और पञ्चस्कन्धात्मवादको प्रतिपादन करनेवाले हमारे दर्शनको अङ्गीकार करके जो लोग प्रव्रज्या धारण करते हैं वे, जन्म, जरा, मरण, गर्भपरम्परा तथा अनेक विध अतितीव्र शारीरिक और मानसिक दुःखोंसे मुक्त होकर सब बखेड़ोंसे रहित मोक्षको प्राप्त करते हैं ॥ १९ ॥

ते णावि संधिं णच्चा णं, न ते धम्मविओ जणा ।
जे ते उ वाइणो एवं, न ते ओहंतराऽऽहिया ॥२०॥

छाया—ते नाऽपि सन्धिं ज्ञात्वा, न तेधर्मविदो जनाः ।
ये ते तु वादिन एवं न ते ओघन्तरा आख्याताः ॥

व्याकरण—(ते) सर्वनाम, कर्ताका विशेषण । (ण अवि) अव्यय । (संधिं) कर्म (णच्चा) पूर्वकालिक क्रिया । (धम्मविओ) जनका विशेषण (वाइणो) कर्म । (एवं) अव्यय (न) अव्यय (ओहंतरा) कर्मका विशेषण (आहिया) कर्मवाच्य क्रिया ।

अन्वयार्थ—(ते) वे पूर्वोक्त मतवादी—अन्यदर्शनी—(संधिं) सन्धिको (णावि) नहीं (णच्चा) जानकर क्रियामें प्रवृत्त होते हैं । (ते जणा) तथा वे लोग (धम्मविओ) धर्म जाननेवाले (न) नहीं हैं । (एवं) पूर्वोक्तरूप (वाइणो) अफलवादका समर्थन करने-वाले (जे ते उ) जो अन्यदर्शनी हैं (ते) उन्हें तीर्थंकरने (ओहंतरा) संसार को पार करनेवाला (न आहिया) नहीं कहा है ।

भावार्थ—पूर्वोक्त अन्यदर्शनी, सन्धिको जानकर क्रियामें प्रवृत्त नहीं हैं तथा अफलवादका समर्थन करनेवाले वे, संसारको पार करनेवाले नहीं कहे गए हैं ।

टीका—इदानीं तेषामेवाफलवादित्वाविष्करणायाह—

ते—पञ्चभूतवाद्याद्याः नाऽपि नैव सन्धिं छिद्रं विवरं, स च द्रव्यभावभेदाद् द्वेधा, तत्र द्रव्यसन्धिः कुड्यादेः, भावसन्धिश्च ज्ञानाव-रणादिरूपकर्मविवररूपः । तमज्ञात्वा ते प्रवृत्ताःणमिति वाक्यालङ्कारे, यथाऽऽत्मकर्मणोः सन्धि र्द्विधाभावलक्षणो भवति तथा अबुध्वैव ते वराका दुःखमोक्षार्थमभ्युद्यता इत्यर्थः । यथा त एवंभूतास्तथा प्रतिपादितं

टीकार्थ—पूर्वोक्त मतवादी, सभी अफलवादी हैं यह प्रकट करनेके लिए सूत्रकार कहते हैं—

पूर्वोक्त, पञ्चभूत आदिको बतानेवाले अन्यदर्शनी, सन्धि नहीं जानते हैं। सन्धि, छिद्रका नाम है । वह, द्रव्य और भावभेदसे दो प्रकारका होता है इनमें दीवाल आदिके जोड़को 'द्रव्यसन्धि' कहते हैं और ज्ञानावरणीय आदि कर्मोंके विवरको 'भावसन्धि' कहते हैं । उस सन्धिको जाने विनाही वे अन्यदर्शनी क्रियामें प्रवृत्त हैं । 'णं' शब्द, वाक्यालङ्कारमें आया है । आशय यह है कि—आत्मा जिस तरह कर्म रहित हो सकता है उसे जाने विनाही वे दुःखसे मुक्त होनेके लिए प्रवृत्त होते हैं । जिस प्रकार वे अन्य दर्शनी ऐसे हैं सो संक्षेपसे पहले कहदिया गया है और

लेशतःप्रतिपादयिष्यते च। यदिवा सन्धानं सन्धिः—उत्तरोत्तरपदार्थपरिज्ञानं, तदज्ञात्वा प्रवृत्ता इति। यतश्चैवमतस्ते न सम्यग् धर्मपरिच्छेदे कर्त्तव्ये विद्वांसो—निपुणाः 'जनाः' पञ्चभूतास्तित्वादिवादिनो लोका इति। तथाहि—क्षान्त्यादिको दशविधो धर्मस्तमज्ञात्वैवाऽन्यथाऽन्यथा च धर्मं प्रतिपादयन्ति, यत्फलाभावाच्च तेषामफलवादित्वं तदुत्तरग्रंथेनोद्देशकपरिसमाप्त्यवसानेन दर्शयति—'ये ते त्विति' तु शब्दश्चशब्दार्थे, य इत्यस्यानन्तरं प्रयुज्यते। ये च ते एवमनन्तरोक्तप्रकारवादिनो नास्तिकादयः, 'ओघो' भवौघःसंसारस्तत्तरणशीलास्ते न भवन्तीति श्लोकार्थः ॥२०॥

आगे चलकर भी कहा जावेगा। अथवा उत्तरोत्तर अधिक अधिक पदार्थ जानना सन्धि कहलाता है उस सन्धिको जाने बिनाही वे क्रियामें प्रवृत्त होते हैं। वे पञ्चभूत वादी आदि पूर्वोक्त सन्धिको जाने बिना ही क्रियामें प्रवृत्त हैं इसलिए वे धर्मको सम्यक् निर्णय करनेमें समर्थ नहीं हैं। वस्तुतः क्षान्ति आदि, दस प्रकारका धर्म है, उस धर्मको जाने बिनाही वे अन्यदर्शनी दूसरे दूसरे धर्मोंका कथन करते हैं। परन्तु उनके कहे हुए धर्मका कोई फल नहीं होता है इसलिए वे, अफलवादी हैं, यह उद्देशकके अन्तिम ग्रन्थके द्वारा शास्त्रकार बतलाते हैं—'ये ते त्विति' यहाँ 'तु' शब्द 'च' शब्दके अर्थमें आया है उसका प्रयोग 'ये' शब्द के पश्चात् करना चाहिए। इस प्रकार इसका अर्थ यह है कि—पूर्वोक्त मतों को मानने वाले वे नास्तिक आदि, संसार सागरको पार नहीं कर सकते हैं। यह श्लोकका अर्थ है ॥२०॥

ते णावि संधिं णच्चा णं, न ते धम्मविओ जणा।
जे ते उ वाइणो एवं, न ते संसारपारगा ॥२१॥

छाया—ते नाऽपि सन्धिं ज्ञात्वा, न ते धर्मविदो जनाः।
ये ते तु वादिन एवं न ते संसारपारगाः ॥

व्याकरण—(ते) सर्वनाम, अन्यतीर्थीका बोधक है। (ण अवि) अव्यय। (संधिं) कर्म (णच्चा) क्रिया। (ते धम्मविओ) जनका विशेषण। (जणा) कर्ता। (जे, ते) सर्वनाम, वादीका विशेषण (वाइणो) कर्ता (उ) अव्यय (एवं) अव्यय (वाइणो) कर्ता (संसारपारगा) वादी का विशेषण (न) अव्यय।

अन्वयार्थ—(ते) वे अन्यतीर्थी (णावि संधिं णच्चा) सन्धिको जाने विना ही क्रियामें प्रवृत्त हैं। (ते जणा धम्मविओ ण) तथा वे, धर्म जाननेवाले नहीं हैं। (जे ते उ एवं वाइणो)

जो पूर्वोक्त सिद्धान्तोंका प्रतिपादन करते हैं। (न ते संसार पारगा) वे संसारको पार नहीं कर सकते हैं।

भावार्थ—वे अन्यतीर्थी सन्धिको जाने विनाही क्रियामें प्रवृत्त हैं। वे धर्म नहीं जानते हैं। तथा पूर्वोक्त सिद्धान्तको माननेवाले वे अन्यतीर्थी संसारको पार नहीं कर सकते हैं।

ते णावि संधिं णच्चा णं, न ते धम्मविओ जणा।
जे ते उ वाइणो एवं, न ते गब्भस्स पारगा ॥२२॥

छाया—ते नाऽपि संधिं ज्ञात्वा, नते धर्मविदोजनाः।
ये ते तु वादिन एवं न ते गर्भस्य पारगाः ॥

व्याकरण—पूर्ववत्।

अन्वयार्थ—(ते) वे, (संधिं) सन्धिको (णावि) नहीं (णच्चा) जानकर क्रियामें प्रवृत्त हैं। (ते जणा) वे लोग (धम्मविओ) धर्मके ज्ञाता (न) नहीं हैं। (जे) जो (ते उ) वे (एवं) ऐसे (वाइणो) वादी हैं (ते) वे (न गब्भस्स पारगा) गर्भको पार नहीं कर सकते हैं।

भावार्थ—वे अन्यतीर्थी सन्धिको जाने विनाही क्रियामें प्रवृत्त हैं। तथा वे धर्मज्ञ नहीं हैं। एवं पूर्वोक्त मिथ्या सिद्धान्तको माननेवाले वे अन्यतीर्थी गर्भको पार नहीं कर सकते हैं ॥२२॥

ते णावि संधिं णच्चा णं, न ते धम्मविओ जणा।
जे ते उ वाइणो एवं, न ते जम्मस्स पारगा ॥२३॥

छाया—ते नापि सन्धि ज्ञात्वा, न ते धर्मविदो जनाः।
ये ते तु वादिन एवं न ते जन्मनः पारगाः ॥

व्याकरण—पूर्ववत्।

अन्वयार्थ—(ते) वे, (संधिं) सन्धिको (णावि) नहीं (णच्चा) जानकर क्रियामें प्रवृत्त हैं। (ते जणा धम्मविओ न) और वे लोग धर्मके ज्ञाता नहीं हैं। (जे ते उ एवं वाइणो) पूर्वोक्त प्रकारसे मिथ्यासिद्धान्तकी प्ररूपणा करनेवाले (ते जम्मस्स पारगा न) जन्मको पार नहीं कर सकते हैं।

भावार्थ—वे अन्यतीर्थी सन्धिको जाने विनाही क्रियामें प्रवृत्त हैं और वे धर्मको नहीं जानते हैं। पूर्वोक्त मिथ्यासिद्धान्तकी प्ररूपणा करनेवाले वे अन्यतीर्थी जन्मको नहीं पार कर सकते हैं ॥२३॥

ते णावि संधिं णच्चा णं न ते धम्मविओ जणा ।
जे ते उ वाइणो एवं न ते दुक्खस्स पारगा ॥२४॥

छाया—ते नाऽपि सन्धिं ज्ञात्वा, न ते धर्मविदो जनाः ।
ये ते तु वादिन एवं न ते दुःखस्य पारगाः ॥

अन्यवार्थ—(ते) वे अन्यतीर्थी (णावि सन्धि णच्चा णं) सन्धिको जाने विनाही क्रियामें प्रवृत्त हैं । (ते जणा धम्मविओ न) और वे धर्म को नहीं जानते हैं । (जे ते उ एवं वाइणो) पूर्वोक्त प्रकारसे मिथ्या सिद्धान्तकी प्ररूपणा करनेनाले वे अन्यतीर्थी (दुक्खस्स पारगा न) दुःखको पार नहीं कर सकते हैं ।

भावार्थ—वे अन्यतीर्थी सन्धिको जाने विनाही क्रियामें प्रवृत्त हैं तथा वे धर्मज्ञ नहीं हैं । पूर्वोक्त प्रकारसे मिथ्यासिद्धान्त की प्ररूपणा करनेवाले वे अन्यतीर्थी दुःखको पार नहीं कर सकते हैं ॥२४॥

ते णावि संधिं णच्चा णं न ते धम्मविओ जणा ।
जे ते उ वाइणो एवं न ते मारस्स पारगा ॥२५॥

छाया—ते नाऽपि सन्धिं ज्ञात्वा, न ते धर्मविदो जना ।
ये ते तु वादिन एवं न ते मारस्य पारगाः ॥

व्याकरण—पूर्ववत् ।

अन्वयार्थ—(ते) वे अन्यतीर्थी (णावि संधिं णच्चा णं) सन्धिको जाने विनाही क्रियामें प्रवृत्त हैं । (ते जणा धम्मविओ न) वे लोग धर्म नहीं जानते हैं । (जे ते उ एवं वाइणो) पूर्वोक्त प्रकारसे मिथ्यासिद्धान्तकी प्ररूपणा करनेवाले वे अन्यतीर्थी (न मारस्स पारगा) मृत्युको पार नहीं कर सकते हैं ।

भावार्थ—वे अन्यतीर्थी सन्धिको जाने विनाही क्रियामें प्रवृत्त हैं । वे धर्मको नहीं जानते हैं अतः पूर्वोक्त मिथ्यासिद्धान्तकी प्ररूपणा करनेवाले वे लोग मृत्युको पार नहीं कर सकते हैं ।

टीका—तथा च न ते वादिनः संसारगर्भजन्मदुःखमारादिपारगा भवन्तीति २१।२२।२३।२४।२५ ।

टीकार्थ—पूर्वोक्तमिथ्यासिद्धान्त की प्ररूपणा करनेवाले वे मतवादी, संसार, गर्भ, जन्म, दुःख और मृत्युको पार नहीं कर सकते हैं ॥२१।२२।२३।२४।२५॥

नाणाविहाइं दुक्खाइं अणुहोंति पुणो पुणो ।
संसारचक्कवालंमि, मच्चुवाहिजराकुले ॥२६॥

छाया—नानाविधानि दुःखान्यनुभवन्ति पुनः पुनः ।
संसारचक्रवाले मृत्युव्याधिजराकुले ॥ इति ब्रवीमि ।

व्याकरण—(नाणाविहाइं) दुःखका विशेषण । (दुक्खाइं) अनुभवका कर्म । (अणुहोंति) क्रिया (पुणो पुणो) अव्यय । (संसारचक्कवालंमि) अधिकरण । (मच्चुवाहिजराकुले) अधिकरणका विशेषण ।

अन्वयार्थ—(मच्चुवाहिजराकुले) मृत्यु, व्याधि, और वृद्धतासे पूर्ण (संसारचक्कवालंमि) संसाररूपी चक्रमें, वे अन्यतीर्थी (पुणो पुणो) बार-बार (नाणाविहाइं) नाना प्रकार (दुक्खाइं) दुःखों को (अणुहोंति) अनुभव करते हैं ।

भावार्थ—मृत्यु, व्याधि, और वृद्धतासे परिपूर्ण इस संसाररूपी चक्रमें वे अन्यतीर्थी बार-बार नाना प्रकारके दुःखोंको भोगते हैं ।

टीका—यत्पुनस्ते प्राप्नुवंति तद्दर्शयितुमाह—

'नानाविधानि' वहुप्रकाराणि 'दुःखानि' असातोदयलक्षणान्यनुभवन्ति पुनः पुनः । तथाहि—नरकेषु करपत्रदारणकुम्भीपाकतप्तायः शाल्मलीममालिङ्गनादीनि तिर्य्यक्षु च शीतोष्णदमनाङ्कनताड़नाऽतिभारारोपणक्षुत्तृडादीनि । मनुष्येषु, इष्टवियोगानिष्टसंप्रयोगशोकाक्रंदनादीनि । देवेषु चाभियोग्येर्ष्याकिल्विषिकत्वच्यवनादीन्यनेकप्रकाराणि दुःखानि ये

टीकार्थ—पूर्वोक्त मिथ्यासिद्धान्तकी प्ररूपणा करनेवाले अन्यतीर्थी जो क्लेश पाते हैं उसे वतानेके लिए सूत्रकार कहते हैं—

टीकार्थ—पूर्वोक्त अन्यतीर्थी, असातोदयरूप नाना प्रकारके दुःखोंको वार-वार भोगते हैं । वे, नरक में आराके द्वारा चीरे जाते हैं, कुम्भीपाकमें पकाए जाते हैं, गर्म लोहेमें साट दिए जाते हैं तथा शाल्मलि वृक्षसे आलिंगन कराए जाते हैं । तथा तिर्य्यक् योनिमें जन्मलेकर शीत, उष्ण, दमन, अङ्कन, (चिन्हयुक्त किया जाना) ताडन, अतिभारवहन, और क्षुधा तृषाका कष्ट सहन आदि दुःखोंको भोगते हैं । एवं मनुष्य जन्ममें इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग, शोक, और रोदन आदि दुःखोंको भोगते हैं । तथा देवता होकर अभियोगीपन, ईर्ष्या, किल्विषीपन और पतन (गिरना) आदि अनेक प्रकारके दुःखोंको भोगते हैं । आशय यह है कि मिथ्या सिद्धान्तकी प्ररूपणा करनेवाले वे अन्यतीर्थी पूर्वोक्त दुःखोंको वारवार

एवंभूता वादिनस्ते पौनःपुन्येन समनुभवन्ति । एतच्च श्लोकार्धं सर्वेषूत्तरश्लोकार्धेष्वेवयोज्यम्, शेषं सुगमं यावदुद्देशकसमाप्तिरिति ॥ २६ ॥

अनुभव करते हैं। इस श्लोकके उत्तरार्धका सभी श्लोकोंके उत्तरार्धके साथ संबन्ध करना चाहिए। शेष उद्देशकी समाप्ति पर्य्यन्त सुगम है ॥२६॥
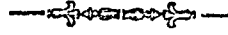
उच्चावयाणि गच्छंता, गब्भमेस्संति णंतसो ।
नायपुत्ते महावीरे, एवमाह जिणोत्तमे ॥२७॥

इति बेमि पढममज्झयणे पढमो उद्देसो समत्तो ॥

छाया—उच्चावचानि गच्छंतो गर्भमेष्यन्त्यनन्तशः ।
ज्ञातपुत्रो महावीर एवमाह जिनोत्तमः ॥

व्याकरण—(उच्चावयाणि) गमनक्रियाका कर्म। (गच्छंता) अन्यतीर्थीकर्ताका विशेषण। (णंतसो) अव्यय। (गब्भं) कर्म (एस्संति) क्रिया। (नायपुत्ते, जिणोत्तमे) महावीरके विशेषण। (महावीरे) कर्ता (एवं) अव्यय (आह) क्रिया।

अन्वयार्थ—(नायपुत्ते) ज्ञातपुत्र (जिणोत्तमे) जिनोत्तम (महावीरे) श्री महावीर स्वामीने (एवमाह) यह कहाहै कि (उच्चावयाणि) ऊँच नीच गतियोंमें (गच्छंता) भ्रमण करते हुए वे अन्यतीर्थी (णंतसो) अनन्तवार (गब्भमेस्संति) गर्भवासको प्राप्त करेंगे।

भावार्थ—ज्ञातपुत्र जिनोत्तम श्रीमहावीर स्वामीने कहाहै कि पूर्वोक्त अफलवादी ऊँच नीच गतियोंमें भ्रमण करते हुए बार बार गर्भवासको प्राप्त करेंगे।

नवरम् 'उच्चावचानी' ति अधमोत्तमानि नानाप्रकाराणि वासस्थानानि गच्छन्तीति, गच्छन्तो भ्रमन्तो गर्भाद् गर्भमेष्यंति यास्यन्त्यनन्तशो निर्विच्छेदमिति ब्रवीमीति सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिनं प्रत्याह—ब्रवीम्यहं तीर्थङ्कराज्ञया, न स्वमनीषिकया, स चाहं ब्रवीमि येन मया तीर्थङ्कर-

श्रीसुधर्मास्वामी, जम्बूस्वामीसे कहते हैं कि वे पूर्वोक्त अन्यतीर्थी ऊँच नीच नाना योनियोंमें भ्रमण करते हुए अनन्तकाल तक निरन्तर एक गर्भसे निकलकर दूसरे गर्भमें निवास करते रहेंगे। यह, मैं अपनी इच्छासे नहीं किंतु तीर्थङ्कर की आज्ञासे कहता हूँ। जिसने तीर्थङ्करसे साक्षात् सुना है वही मैं यह कहता हूँ। इस कथनसे क्षणभङ्गवादका निराकरण समझना चाहिए (क्योंकि क्षणभङ्गवाद माननेपर जिसने तीर्थङ्करसे सुना था वही इस समय कहता है, यह नहीं हो सकता है क्योंकि

सकाशाच्छ्रुतम् एतेन च क्षणिकवादिनिरासो द्रष्टव्यः । २७ इति समयाख्यप्रथमाध्ययने प्रथमोद्देशकः समाप्तः ।

सुननेवाला तो उसी समय नष्ट होगया वह इस समय है ही नहीं, फिर वह इस समय कैसे कह सकता है ? अतः क्षणभङ्गवाद मिथ्या समझना चाहिए ।)

इस प्रकार समय नामक प्रथम अध्ययनका प्रथम उद्देशक समाप्त हुआ ।

आघायं पुण एगेसिं, ऊववरणा पुढो जिया ।
वेदयंति सुहं दुक्खं, अदुवा लुप्पंति ठाणउ ॥१॥

छाया—आख्यातं पुनरेकेषा मुपपन्नाः पृथग्जीवाः ।
वेदयन्ति सुखं दुःख मथवा लुप्यन्ते स्थानतः ॥

व्याकरण—(आघायं) क्रिया । (पुण) अव्यय (एगेसिं) कर्ता । (उववण्णा) जीवका विशेषण (पुढो) अव्यय (जिया) कर्ता (सुहं दुखं) कर्म । (वेदयंति) क्रिया (अदुवा) अव्यय (लुप्पंति) क्रिया (ठाणउ) अपादान ।

अन्वयार्थ—(पुण) फिर (एगेसिं) किन्हींका (आघायं) कहना है कि (जिया) जीव (पुढो) अलग अलग हैं (उववण्णा) यह युक्तिसे सिद्ध होता है । (सुहं दुक्खं) वे जीव पृथक् पृथक् ही सुख दुःख (वेदयंति) भोगते हैं (अदुवा) अथवा (ठाणउ) अपने स्थानसे (लुप्पंति) अन्यत्र जाते हैं ।

भावार्थ—किन्हीका कहना है कि जीव, पृथक् पृथक् हैं यह, युक्तिसे सिद्ध होता है तथा वे पृथक् पृथक् ही सुख दुःख भोगते हैं अथवा एक शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरमें जाते हैं ।

अथ प्रथमाध्ययने द्वितीय उद्देशक प्रारम्भते

उक्तः प्रथमोद्देशकस्तदनु द्वितीयोऽभिधीयते,—तस्य चायमभिसम्बन्धः—इहानन्तरोद्देशके स्वसमयपरसमयप्ररूपणाकृता, इहाप्यध्ययनार्थाधिकारत्वात् सैवाभिधीयते, यदिवाऽनन्तरोद्देशके भूतवादादिमतं प्रदर्श्य तन्निराकरणं

प्रथम उद्देशक कहा जा चुका इसके पश्चात् दूसरा कहा जाता है । इसका प्रथम उद्देशकके साथ सम्बन्ध यह है—प्रथम उद्देशकमें स्वसिद्धान्त और पर सिद्धान्तकी व्याख्या की गई है, वही इस दूसरे उद्देशकमें भी की जाती है क्योंकि प्रथम अध्ययनका अर्थाधिकार स्वसिद्धान्त तथा परसिद्धान्तकी व्याख्याही है ।

कृतं, तदिहापि तदवशिष्टनियतिवाद्यादिमिथ्यादृष्टिमतान्युपदर्श्य निराक्रियन्ते। अथवा प्रागुद्देशकेऽभ्यधायि यथा 'बन्धनं बुध्येत तच्च त्रोटयेदिति' तदेव च बन्धनं नियतिवाद्यभिप्रायेण न विद्यत इति प्रदर्श्यते— तदेवमनेकसम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्य चत्वार्यनुयोगद्वाराणि व्यावर्ण्य सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्—

अस्यचानन्तरपरम्परसूत्रैः सम्बन्धो वक्तव्यः तत्रानन्तरसूत्र सम्बन्धोऽयम्—इहानन्तरसूत्रे इदमभिहितं, यथा पञ्चभूतस्कन्धादिवादिनो मिथ्यात्वोपहतान्तरात्मानोऽसद्ग्रहाभिनिविष्टाः परमार्थावबोधविकलाः ? सन्तः संसारचक्रवाले व्याधिमृत्युजराकुले उच्चावचानि स्थानानि गच्छन्तो गर्भमेष्यन्त्यन्वेषयन्तिवाऽनन्तश इति, तदिहापि नियत्यज्ञानिज्ञानचतुर्विधकर्मापचयवादिनां तदेव संसारचक्रबालभ्रमणगर्भान्वेषणं प्रतिपाद्यते।

अथवा प्रथम अध्ययनमें भूतवादी आदिका मत बताकर उसका खण्डन किया गया है, अब इस अध्ययनमें उनसे बँचे हुए नियतिवादी आदि मिथ्यादृष्टियोंका मत बताकर उसका खण्डन किया जायगा। अथवा प्रथम उद्देशकमें कहा है कि "मनुष्यको बन्धनका स्वरूप जानकर उसे तोड़ना चाहिए" परंतु नियतिवादी आदि परतीर्थियोंके सिद्धान्तानुसार बन्धनका ही अस्तित्व नहीं है यह इस उद्देशकमें दिखाया जायगा। इस प्रकार अनेक सम्बन्धसे आये हुए इस उद्देशकके चार अनुयोगद्वारोंका वर्णन करके सूत्रानुगममें अस्खलित आदि गुणके साथ सूत्रका उच्चारण करना चाहिए वह सूत्र यह है—

इस सूत्रका अनन्तर* सूत्र और परम्पर† सूत्रोंके साथ सम्बन्ध बताना चाहिए। अनंतर सूत्रके साथ इसका सम्बन्ध यह है—अनन्तर सूत्रमें कहा है कि पञ्चभूत वादी तथा पञ्चस्कन्धवादी आदिकी बुद्धि मिथ्यात्वके द्वारा नष्ट हो गई है इसलिए वे मिथ्या पदार्थमें आग्रह रखते हैं। अतः वस्तुतत्त्वके ज्ञानसे रहित वे लोग व्याधि, मृत्यु और वृद्धतासे युक्त संसाररूपी चक्रमें ऊँच नीच योनियोंमें भ्रमण करते हुए अनन्तकाल तक एक गर्भसे दूसरे गर्भमें निवास करते रहेंगे। वही यहाँ भी, "नियतिवादी अज्ञानवादी और चतुर्विध कर्मको बन्धनदाता नहीं मानने वाले अन्य दर्शनियोंका संसार चक्रमें भ्रमण करना और एक गर्भसे दूसरे गर्भमें निवास

---

* जो सूत्र, किसी सूत्रके अत्यन्त निकट होता है अर्थात् बीचमें दूसरे सूत्रका व्यवधान नहीं होता है वह सूत्र अनन्तर सूत्र कहलाता है।

† जिन सूत्रोंके मध्यमें दूसरे सूत्र भी होते हैं उनको परम्परसूत्र कहते हैं।

परम्परसूत्रं तु 'बुज्झेज्जे' त्यादि तेन च सहायं सम्बन्धः—तत्र बुध्येते-त्येतत् प्रतिपादितम्, इहापि यदाख्यातं नियतिवादिभिस्तद्बुध्येत, इत्येवं मध्यसूत्रैरपि यथासंभवं सम्बन्धो लगनीय इति। तदेवं पूर्वोत्तरसम्बन्ध-सम्बद्धस्यास्य सूत्रस्याधुनाऽर्थः प्रतन्यते—पुनः शब्दः पूर्ववादिभ्यो विशेषं दर्शयति, नियतिवादिनां पुनरेकेषामेतदाख्यातं, अत्र च 'अवि-वक्षितकर्मका अपि अकर्मका भवन्तीति ख्याते धातो भावे निष्ठाप्रत्ययः, तद्योगे कर्तरि षष्ठी ततश्चायमर्थः—

तैर्नियतिवादिभिः पुनरिदमाख्यातं, तेषामयमाशय इत्यर्थः।

तद्यथा—'उपपन्नाः' युक्त्या घटमानका इति॥

अनेनच पञ्चभूततज्जीवतच्छरीरवादिमतमपाकृतं भवति, युक्तिस्तु लेशतः प्राग्दर्शितैव प्रदर्शयिष्यते च। पृथक् पृथक् नारकादिभवेषु शरीरेषु वेति, अनेनाऽप्यात्माऽद्वैतवादिनिरासोऽवसेयः। के पुनस्ते पृथगुपपन्नाः ? तदाह—जीवाः प्राणिनः सुख दुःखभोगिनः, अनेन च

करना बतलाया जाता है। "वुज्झिज्जा" इत्यादि सूत्र परम्पर सूत्र हैं। उसके साथ इसका सम्बन्ध यह है—"वुज्झिज्जा" इत्यादि सूत्रमें कहा है कि "जीवको बोध प्राप्त करना चाहिए" यहाँ भी नियतिवादियोंने जो कहा है उसका बोध प्राप्त करना चाहिए (यह इस सूत्रका उक्तसूत्रके साथ सम्बन्ध है। इसी तरह बीचले सूत्रोंके साथ भी इसका सम्बन्ध जैसा संभव हो लगा लेना चाहिए। इस प्रकार पूर्व और उत्तर सूत्रोंके साथ सम्बन्ध रखने वाले इस सूत्रका अर्थ, विस्तारके सहित कहा जाता है—यहाँ 'पुनः' शब्द, पूर्ववादियोंसे नियतिवादीकी विशेषता दिख-लाता है कोई नियतिवादी यह कहते हैं। जिनके कर्मकी अविवक्षा की जाती है वे धातु भी अकर्मक हो जाते हैं इसलिए यहाँ 'आख्यातम्' इस पदमें भावमें निष्ठा प्रत्यय हुआ है और उसके योगमें 'एगेसिं' इसपदमें कर्तरि षष्ठी हुई है। इस प्रकार इसका अर्थ यह है कि—इन नियतिवादियोंने यह कहा है अर्थात् उनका आशय यह है, यह अर्थ है। युक्तिसे जीवोंकी सिद्धि होती है इस कथनसे पञ्चभूतात्मवादी और तज्जीवतच्छरीरवादीका मत खण्डित हो जाता है। जिस युक्तिसे पूर्वोक्त मत खण्डित हो जाता है वह युक्ति पहले कुछ बतादी गई है और आगे चलकर भी बताई जावेगी। जीवगण अलग अलग नरक आदि भावोंमें अथवा शरीरोंमें जन्म धारण करते हैं। इस कथन से आत्माऽद्वैतवादीके मतका निराकरण समझना चाहिए। युक्तिसे पृथक् पृथक् सिद्ध होनेवाले वे कौन हैं ? वे जीव अर्थात् प्राणी हैं

पञ्चस्कन्धातिरिक्तजीवाभावप्रतिपादकबौद्धमतापक्षेपः कृतो द्रष्टव्यः। तथा ते जीवाः पृथक् पृथक् प्रत्येकदेहे व्यवस्थिताः सुखं दुःखञ्च वेदयन्ति अनुभवन्ति। न वयं प्रतिप्राणि प्रतीतं सुख दुःखानुभवं निह्नुमहे, अनेन-चाकर्तृवादिनो निरस्ता भवन्ति। अकर्तर्य्यविकारिण्यात्मनि सुखदुःखा-नुभवानुपपत्तेरितिभावः तथैतदस्माभि र्नापलप्यते 'अदुवे' ति अथवा ते प्राणिनः सुख दुःखं चानुभवन्ति विलुप्यन्ते उच्छिद्यन्ते स्वायुषः प्रच्याव्यन्ते स्थानात्स्थानान्तरं संक्राम्यन्त इत्यर्थः। ततश्चौपपातिकत्वमप्यस्मा भिस्तेषां न निषिध्यत इति श्लोकार्थः। १

जो सुख दुःख भोगते हैं। इस कथनसे पञ्चस्कन्धसे भिन्न जीवको न माननेवाले बौद्धोंके मतका खण्डन समझना चाहिए। वे जीव, प्रत्येक शरीरमें अलग अलग निवास करते हुए सुख दुःख भोगते हैं प्रत्येक प्राणियोंके अनुभवसे सिद्ध सुख और दुःखके अनुभवको हम मिथ्या नहीं कहसकते हैं। इस कथनसे जीवको कर्ता नहीं मानने वालोंके मतका खण्डन समझना चाहिए क्योंकि पाप पुण्यका कर्ता तथा विकार सहित आत्मा न होनेपर सुख दुःखका अनुभव नहीं होसकता है। अथवा वे प्राणी सुख दुःखको भोगते हैं और अपनी आयु से अलग हो जाते हैं अर्थात् एक स्थानको छोड़कर दूसरे स्थान (भव) को भेज दिए जाते हैं इसको भी हम मिथ्या नहीं कहते हैं। इसप्रकार जीवोंके एक भवसे दूसरे भवमें जानेका हम निषेध नहीं करते हैं, यह श्लोकका अर्थ है ?

न तं सयं कडं दुक्खं, कओ अन्नकडं च णं ?
सुहं वा जइ वा दुक्खं, सेहियं वा असेहियं ॥२॥

छाया—न तत् स्वयं कृतं दुःखं कुतोऽन्यकृतञ्च ?।
सुखं वा यदि वा दुःखं, सैद्धिकंवाऽसैद्धिकम् ॥

सयं कडं न अण्णेहिं, वेदयंति पुढो जिया।
संगइअं तं तहा तेसिं, इह मेगेसि आहिअं ॥३॥

छाया—स्वयं कृतं नाऽन्यै वेंदयन्ति पृथज्जीवाः।
सांगतिकं तत्तथातेषामिहैकेषामाख्यातम् ॥

व्याकरण—(तं) दुःखका विशेषण सर्वनाम। (न) अव्यय। (कडं) दुःखका विशेषण (कओ) अव्यय (अन्नकडं) दुःखका विशेषण। (वा) अव्यय (सेहियं) (असेहियं) ये दोनो ही सुख और दुःखके विशेषण हैं। (सयं) कर्तृशक्तिप्रधान अव्यय। (अण्णेहिं) 'कृतं' का कर्ता। (वेदयंति) क्रिया (पुढो) अव्यय। (जिया) कर्ता। (संगइअं) (तत्) सुख दुःखके विशेषण। (तहा) अव्यय (तेसिं) सम्बन्ध षष्ठ्यंत। (इह) अव्यय (एगेसिं) कर्तृषष्ठ्यन्त (आहियं) क्रियावाचक पद।

अन्वयार्थ—(तं) वह (दुक्खं) दुःख (सयं) स्वयं (कडं) किया हुआ (न) नहीं है (अन्नकडं) दूसरेका किया हुआ (कओ) कहाँसे होसकता है। (सेहियं वा) सिद्धिसे उत्पन्न (असेहियं) अथवा सिद्धिके विना उत्पन्न (सुहंवा) सुख (दुक्खं) अथवा दुःख, (जिसे) (जिया) प्राणी, (पुढो) अलग अलग (वेदयंति) भोगते हैं (सयं) स्वयं (अन्नेहिं) अथवा दूसरे द्वारा (कडं न) किया हुआ नहीं है (तं) वह (तेसिं) उनका (तहा) वैसा (संगइयं) नियतिकृत है (इह) इस लोकमें (एगेसिं) कीन्हींका (आहिअं) कथन है।

भावार्थ—बाह्य कारणोंसे अथवा विना कारण उत्पन्न सुख दुःखको जो प्राणी वर्ग भोगते हैं वह उनका अपना तथा दूसरेका किया हुआ नहीं है। वह उनका नियति कृत है यह नियतिवादी कहते हैं।

टीका—तदेवं पञ्चभूतास्तित्वादिवादि निरासं कृत्वा यत्तैर्नियतिवादिभिराश्रीयते तच्छ्लोकद्वयेन दर्शयितुमाह—

यत् तैः प्राणिभिरनुभूयते सुखंदुःखं स्थानविलोपनं वा न तत् स्वयमात्मना पुरुषकारेण कृतं निष्पादितम्। दुःखमिति कारणे कार्योपचारात् दुःखकारणमेवोक्तम्, अस्य चोपलक्षणत्वात् सुखाद्यपि ग्राह्यम्। ततश्चेद मुक्तं भवति—योऽयं सुखदुःखानुभवः स पुरुषकारकृतकारणजन्यो

टीकार्थ—इस प्रकार पञ्चभूतवादी आदिके मतको निराकरण करके नियतिवादी जिस सिद्धान्तको मानते हैं उसे दो श्लोकोंके द्वारा दर्शानेके लिए सूत्रकार कहते हैं—

प्राणिवर्ग जो सुख दुःख अनुभव करते हैं अथवा एक भवसे दूसरे भवमें जाते हैं यह, उनके अपने उद्योगके द्वारा किया हुआ नहीं है। यहाँ गाथामें कारणमें कार्य्यका उपचार करके दुःख शब्दसे दुःखका कारण ही कहा गया है। यह दुःख शब्द उपलक्षण है इसलिए इससे सुख आदिका भी ग्रहण करना चाहिए। इस प्रकार कहना यह है कि—यह जो सुख दुःखका अनुभव होता है वह जीवोंके उद्योगरूप कारणसे उत्पन्न किया हुआ नहीं है। तथा वह काल, ईश्वर, स्वभाव और

न भवतीति, तथा कुतोऽन्येन कालेश्वरस्वभावकर्मादिना च कृतं भवेत् 'ण' मित्यलङ्कारे, तथाहि—यदि पुरुषकारकृतं सुखाद्यनुभूयेत ततः सेवकवणिक्कर्षकादीनां समाने पुरुषकारे सति फलप्राप्तिवैसदृश्यं फलाप्राप्तिश्च न भवेत्। कस्यचित्तु सेवादिव्यापाराभावेऽपि विशिष्टफलाऽवाप्तिर्दृश्यत इति, अतोन पुरुषकारात्किञ्चिदासाद्यते, किंतर्हि? नियतेरेवेति। एतच्च द्वितीयश्लोकान्तेऽभिधास्यते। नाऽपि कालः कर्ता तस्यैकरूपत्वाज्जगति फलवैचित्र्यानुपपत्तेः, कारणभेदे हि कार्यभेदो भवति नाऽभेदे, तथाहि—अयमेव हि भेदो भेदहेतु र्वा घटते यदुत विरुद्धधर्माध्यासः कारणभेदश्च तथेश्वर कर्तृकेऽपि सुखदुःखे न भवतः, यतोऽसावीश्वरो मूर्तोऽमूर्तो वा? यदि मूर्त्तस्ततः प्राकृतपुरुषस्येव सर्वकर्तृत्वाभावः, अथामूर्त्तस्तथा सत्याकाशस्येव सुतरां निष्क्रियत्वम्, अपि च यद्यसौ रागादिमांस्ततोऽस्मदाद्यव्यतिरेकाद्विश्वस्याकर्तैव, अथाऽसौ विगतरागस्ततस्तत्कृतं सुभगदुर्भगेश्वरदरिद्रादि जगद्वैचित्र्यं न घटां प्राञ्चति, ततो नेश्वरः कर्तेति।

कर्म आदि अन्य पदार्थके द्वारा भी किया हुआ किस प्रकार हो सकता है? 'ण' शब्द वाक्यालङ्कारके लिए आया है। यदि अपने अपने उद्योग के प्रभावसे सुख आदि मिलें तो सेवक, वणिक (बनियाँ) और किसान आदिका उद्योग समान होनेपर फलमें विभिन्नता तथा फलकी अप्राप्ति न हो। किसीको तो सेवा आदि व्यापार न करने पर भी विशिष्ट फलकी प्राप्ति देखी जाती है इससे सिद्ध होता है कि उद्योगसे कुछ नहीं प्राप्त होता। किन्तु नियति (भाग्य) से सुख आदि मिलते हैं। यह दूसरे श्लोकके अन्तमें कहेंगे। काल, सुख दुःख आदिका कर्ता नहीं है क्योंकि वह एकरूप है इसलिए कालके द्वारा जगत्में फलकी विचित्रता नहीं हो सकती है। कारणका भेद होनेपर कार्य्यमें भेद होता है कारणभेद न होनेपर कार्य्य भेद नहीं होता है क्योंकि विरुद्धधर्मका आश्रय होना, अथवा कारणका भेद होना यही भेद है अथवा भेदका कारण है। इसी तरह सुख दुःख ईश्वरकृत भी नहीं हैं क्योंकि वह ईश्वर मूर्त्त है अथवा अमूर्त्त? यदि वह मूर्त्त है तब तो प्राकृत (साधारण) पुरुषके समान वह सब पदार्थका कर्ता नहीं हो सकता है यदि वह अमूर्त है तो आकाशकी तरह वह सुतरां क्रियारहित है। तथा वह ईश्वर यदि रागयुक्त है तब तो हम लोगोंके समान होनेके कारण वह जगत्का कर्ता नहीं हो सकता है। यदि वह वीतराग है तो वह सुरूप, कुरूप, धनवान् और दरिद्ररूप यह विचित्र जगत्को नहीं कर सकता है। अतः ईश्वर कर्ता नहीं है। तथा स्वभाव भी सुख

तथा स्वभावस्याऽपि सुखदुःखादिकर्तृत्वानुपपत्तिः, यतोऽसौ स्वभावः पुरुषाद्भिन्नोऽभिन्नोवा ? यदि भिन्नो न पुरुषाश्रिते सुखदुःखे कर्तुमलं तस्माद्भिन्नत्वादिति । नाऽप्यभिन्नः, अभेदे पुरुष एवस्या त्तस्य चाकर्तृत्वमुक्तमेव । नाऽपि कर्मणः सुखदुःखं प्रति कर्तृत्वं घटते, यत स्तत्कर्म पुरुषाद्भिन्न मभिन्नं वा भवेत् ? अभिन्नं चेत्पुरुषमात्रतापत्तिः कर्मणः, तत्र चोक्तो दोषः अथ भिन्नं तत्किंसचेतन मचेतनंवा ? यदि सचेतन मेकस्मिन् काये चैतन्यद्वयापत्तिः, अथाचेतनं तथासति कुतस्तस्यपाषाणखण्डस्येवास्वतन्त्रस्य सुखदुःखोत्पादनं प्रति कर्तृत्वमिति । एतच्चोत्तरत्र व्यासेन प्रतिपादयिष्यत इत्यलं प्रसङ्गेन । तदेवं सुखं सैद्धिकं सिद्धावपवर्गलक्षणायां भवं यदिवा दुःख मसातोदयलक्षणमसैद्धिकं सांसारिकं, यदिवोभयमप्येतत्सुखदुःखंवास्रक्चन्दनाङ्गनाद्युपभोगक्रियासिद्धौ भवं तथा कशाताडनाङ्कनादिसिद्धौ भवं सैद्धिकं, तथा असैद्धिकं सुखमान्तरमानन्दरूप-

---

दुःखका कर्ता नहीं हो सकता है क्योंकि वह स्वभाव पुरुषसे भिन्न है अथवा अभिन्न है ? यदि स्वभाव पुरुषसे भिन्न है तो वह पुरुषके सुख दुःखोंको नहीं उत्पन्न कर सकता है क्योंकि वह पुरुषसे भिन्न है । यदि स्वभाव पुरुषसे भिन्न नहीं है तब तो वह पुरुष ही है और पुरुष सुख दुःखका कर्ता नहीं है यह कहा ही गया है । कर्म भी सुख दुःखका कर्ता नहीं हो सकता है क्योंकि वह कर्म, पुरुषसे भिन्न है अथवा अभिन्न है ? यदि कर्म पुरुषसे अभिन्न है तब तो वह पुरुषमात्र ही है और इस पक्षमें "पुरुष सुख दुःखका कर्ता नहीं है" यह पूर्वोक्त दोष आता है । यदि वह कर्म पुरुषसे भिन्न है तो वह सचेतन है अथवा अचेतन है ? यदि सचेतन है तो एक शरीरमें दो चेतन मानने पड़ेंगे । यदि कर्म अचेतन है तब तो वह पाषाण खण्डके समान स्वयं परतन्त्र है फिर वह सुख दुःखका कर्ता कैसे हो सकता है ? यह आगे चलकर विस्तारके साथ कहा जायगा इसलिए यहाँ अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं है ।

मोक्षको सिद्धि कहते हैं उस मोक्षमें जो सुख उत्पन्न होता है उसे 'सैद्धिक' कहते हैं । असिद्धि नाम संसारका है उस संसारमें जो असाताका उदयस्वरूप दुःख उत्पन्न होता है उसे 'असैद्धिक' कहते हैं । अर्थात् सांसारिक दुःखको असैद्धिक कहते हैं । अथवा सुख और दुःख ये दोनों ही सैद्धिक और असैद्धिक दोनों प्रकारके होते हैं । फूलमाला चन्दन और सुन्दर स्त्री आदिके उपभोग रूप सिद्धिसे उत्पन्न सुख 'सैद्धिक' है तथा चाबुकसे मारना और गर्म लोहसे दागना आदि सिद्धिसे

माकस्मिकमनवधारितवाह्यनिमित्तम् एवं दुःखमपि ज्वरशिरोर्त्तिशूलादि-रूपमङ्गोत्थमसैद्धिकं, तदेतदुभयमपि न स्वयं पुरुषकारेण कृतं नाऽप्यन्येन केनचित् कालादिना कृतं वेदयन्त्यनुभवन्ति पृथग्जीवाः प्राणिन इति। कथं तर्हि तत्तेषामभूद् ? इति नियतिवादी स्वाभिप्रायमाविष्करोति 'संग इयं'त्ति, सम्यक् स्वपरिणामेन गतिः—यस्य यदा यत्र यत्सुखदुःखानु-भवनं सा सङ्गतिर्नियतिस्तस्यां भवं साङ्गतिकं, यतश्चैवं न पुरुषकारादि कृतं सुख दुःखादि अतस्तत्तेषां प्राणिनां नियतिकृतं साङ्गतिकमित्युच्यते। 'इह' अस्मिन् सुखं दुःखानुभववादे एकेषां वादिनामाख्यातं तेषामयमभ्यु-पगमः। तथा चोक्तम्—प्राप्तव्योनियतिवलाश्रयेण योऽर्थः, सोऽवश्यं भवति नृणां शुभोऽशुभोवा। भूतानां महतिकृतेऽपि हि प्रयत्ने, नाभाव्यं भवति न भाविनोऽस्ति नाशः ।।१।३

उत्पन्न दुःख 'सैद्धिक' है। एवं जिसका वाह्यकारण ज्ञात नहीं है ऐसा जो आनन्द-रुप सुख मनुष्यके हृदयमें अचानक उत्पन्न होता है वह असैद्धिक सुख है। तथा ज्वर, शिरःपीड़ा और शूल आदि दुःख जो अपने अङ्गसे उत्पन्न होते हैं वे असै-द्धिक दुःख हैं। ये दोनों ही सुख और दुःख पुरुषके अपने उद्योगसे उत्पन्न नहीं होते हैं तथा ये काल आदि किसी अन्य पदार्थके द्वारा भी उत्पन्न नहीं किये जाते हैं। इन दोनों प्रकारके सुख दुःखोंको प्राणी अलग अलग भोगते हैं। ये सुख दुःख, प्राणियों-को क्यों होते हैं ? यह बतानेके लिए नियतिबादी अपना अभिप्राय प्रकट करता है "संगइयं" इत्यादि।

सम्यक् अर्थात् अपने परिणामसे जो गति है उसे 'सङ्गति' कहते हैं। भाव यह है कि—जिस जीवको जिस समय जहाँ जिस सुख दुःखको अनुभव करना होता है वह सङ्गति कहलाती है। वह नियति है, उस नियतिसे जो सुख दुःख उत्पन्न होता है उसे 'साङ्गतिक' कहते हैं।

पूर्वोक्त प्रकारसे प्राणियोंके सुख दुःख आदि उनके उद्योग द्वारा किए हुए नहीं किन्तु उनकी नियति द्वारा किए हुए हैं इसलिए वे 'साङ्गतिक' कहलाते हैं। प्राणियों को सुख दुःखका अनुभव क्यों होता है ? इस विवादास्पद विषयमें नियतिवादियोंका यह मन्तव्य है। जैसा कि कहा है—भाग्यवलसे शुभ अथवा अशुभ जो भी मिलनेवाला होता है वह मनुष्यको अवश्य प्राप्त होता है। महान् प्रयत्न करने पर भी जो होनहार नहीं है वह नहीं होता है और जो होनेवाला है उसका नाश नहीं होता है। १ । ३

एव मेयाणि जंपंता, बाला पंडिअमाणिणो ।
निययानिययं संतं, अयाणंता अबुद्धिया ॥ ४ ॥

छाया—एवमेतानि जल्पंतो बालाः पण्डितमानिनः ।
नियतानियतं सन्त मजानन्तोऽबुद्धिकाः ॥

व्याकरण—(एवं) अव्यय (एयाणि) कर्म (जंपंता) नियतिवादीका विशेषण (पंडिअमाणिणो) नियतिवादीका विशेषण । (निययानिययं संतं) कर्म (अयाणंता अबुद्धिया) नियतिवादीका विशेषण ।

अन्वयार्थ—(एवं) इस प्रकार (एयाणि) इन बातोंको (जंपंता) कहते हुए नियतिवादी (बाला) अज्ञानी हैं (पंडिअमाणिणो) तथापि वे अपनेको पण्डित मानते हैं (निययानिययंसंतं) सुख दुःख आदिको नियत तथा अनियत दोनों ही प्रकारका (अयाणंतो) नहीं जानते हुए वे नियतिवादी (अबुद्धिया) बुद्धिहीन हैं ।

भावार्थ—पूर्वोक्त प्रकारसे नियतिवादको समर्थन करनेवाले नियतिवादी अज्ञानी होकर भी अपनेको पण्डित मानते हैं । सुख दुःख नियत तथा अनियत दोनों ही प्रकारके हैं परन्तु बुद्धिहीन नियतिवादी यह नहीं जानते हैं ।

टीका—एवं श्लोकद्वयेन नियतिवादिमतमुपन्यस्यास्योत्तरदानायाह । एवमित्यनन्तरोक्तस्योपप्रदर्शने । एतानि पूर्वोक्तानि नियतिवादाश्रितानि वचनानि जल्पन्तोऽभिदधतो बाला इव बाला अज्ञाः सदसद्विवेक विकला अपि सन्तः पण्डितमानिन आत्मानं पण्डितं मन्तुं शीलं येषां ते तथा किमिति त एव मुच्यन्त ? इति तदाह—यतो 'नियानियं संतमिति' सुखादिकं किञ्चिन्नियतिकृतम्—अवश्यंभाव्युदयप्रापितं तथा

टीकार्थ—इस प्रकार शास्त्रकार दो श्लोकोंके द्वारा नियतिवादियोंका मत लिखकर अब उसका उत्तर देनेके लिए कहते हैं—

इस गाथामें पूर्वोक्त नियतिवादीके कथनको प्रदर्शित करनेके लिए 'एवं' शब्द आया है । पूर्वोक्त नियतिवाद सम्बन्धी वचनोंको कहनेवाले नियतिवादी सत् और असत्के विवेकसे रहित बालकके समान अज्ञ होते हुए भी अपनेको पण्डित मानते हैं । नियतिवादियोंको अज्ञानी और पण्डितमानी क्यों कहा जाता है ? इसका समाधान देनेके लिए सूत्रकार कहते हैं कि—"नियानियं संतं" । अर्थात् कोई सुख आदि नियत अवश्य होनेवाले यानी उदयको प्राप्त होते हैं तथा कोई अनियत यानी अपना उद्योग और ईश्वर आदिके द्वारा किए हुए अनियत होते हैं तथापि नियतिवादी सभी सुख दुःखोंको एकान्तरूपसे नियतिकृत ही बतलाते हैं इसलिए

अनियतम्—आत्मपुरुषकारेश्वरादिप्रापितं सत् नियतिकृतमेवैकान्तेनाश्रयन्ति, अतोऽजानानाः सुखदुःखादिकारणमबुद्धिकाः बुद्धिरहिता भवन्तीति, तथाहि—आर्हतानां किञ्चित्सुखदुःखादि नियतित एव भवति, तत्कारणस्य कर्मणः कस्मिंश्चिदवसरे ऽवश्यंभाव्युदयसद्भावान्नियतिकृतमित्युच्यते, तथा किञ्चिदनियतिकृतञ्च—पुरुषकारकालेश्वरस्वभावकर्मादिकृतं, तत्र कथञ्चित् सुखदुःखादेः पुरुषकारसाध्यत्वमप्याश्रीयते, यतः क्रियातः फलं भवति क्रिया च पुरुषकारायत्ता प्रवर्तते, तथा चोक्तम्—

"न दैवमिति सञ्चिन्त्य त्यजेदुद्यममात्मनः।
अनुद्यमेन कस्तैलं तिलेभ्यः प्राप्तुमर्हति" १ ॥ १ ॥

यत्तु समाने पुरुषव्यापारे फलवैचित्र्यं दूषणत्वेनोपन्यस्तं तददूषणमेव, यतस्तत्राऽपि पुरुषकारवैचित्र्यमपि फलवैचित्र्ये कारणं भवति, समाने वा पुरुषकारे यः फलाभावः कस्यचिद्भवति सोऽदृष्टकृतः, तदपि चाऽस्माभिः कारणत्वेनाश्रितमेव। तथा कालोऽपि कर्ता, यतो बकुलचम्पकाशोकपुन्नागनागसहकारादीनां विशिष्ट एव काले पुष्पफलाद्युद्भवो न सर्वदेति,

---

सुख दुःखके कारणको न जाननेवाले वे नियतिवादी बुद्धिहीन हैं। आर्हतोंका मत है कि कोई सुख दुःख आदि नियतिसे ही होते हैं क्योंकि उन सुख दुःखोंके कारण स्वरूप कर्मका किसी अवसर विशेषमें अवश्य उदय होता है इसलिए वे सुख दुःख नियतिकृत हैं। तथा कोई सुख दुःख, नियतिकृत नहीं होते हैं किंतु पुरुषके उद्योग, काल, ईश्वर, स्वभाव और कर्म आदिके द्वारा किए हुए होते हैं। अतः आर्हत लोग सुख दुःख आदिको कथंचित् उद्योगसाध्य भी मानते हैं। कारण यह है कि क्रियासे फलकी उत्पत्ति होती है और वह क्रिया उद्योगके आधीन है अतएव कहा है कि "न दैवमिति" इत्यादि। अर्थात् जो भाग्यमें है वही होगा यह सोचकर उद्योग नहीं छोड़ना चाहिए क्योंकि उद्योगके विना तिलोंमेंसे तेल कौन प्राप्त करसकता है ?। नियतिवादीने जो यह दोष दिया है कि "उद्योग समान होनेपर भी फल में विचित्रता देखी जाती है" वस्तुतः यह दूषण नहीं है क्योंकि उद्योगकी विचित्रता भी फलकी विचित्रताका कारण होती है तथा समान उद्योग करनेपर भी जो किसीको फल नहीं मिलता है वह उसके अदृष्ट (भाग्य) का फल है। उस अदृष्टको भी हमलोग (आर्हत) सुख दुःख आदिका कारण मानते हैं। इसी तरह काल भी कर्ता है। क्योंकि-बकुल, चम्पक, अशोक, पुन्नाग, नाग और आम आदि वृक्षोंमें विशिष्ट कालमें ही फूल फलकी उत्पत्ति होती है सर्वदा नहीं होती है। नियतिवादियोंने जो यह

यच्चोक्तं-'कालस्यैकरूपत्वाज्जगद्वैचित्र्यं न घटत' इति, तदस्मान् प्रति न दूषणं यतोऽस्माभिर्न काल एवैकः कर्तृत्वेनाऽभ्युपगम्यतेऽपितु कर्माऽपि, ततो जगद्वैचित्र्यमित्यदोषः। तथेश्वरोऽपि कर्ता, आत्मैव हि तत्र तत्रोऽत्पत्ति-द्वारेण सकलजगद्व्यापनादीश्वरः, तस्य सुखदुखोत्पत्तिकर्तृत्वं सर्ववादि-नामविगानेनसिद्धमेव। यच्चात्र मूर्त्तामूर्त्तादिकं दूषणमुपन्यस्तं तदेवंभूतेश्वर समाश्रयणे दूरोत्सादितमेवेति। स्वभावस्याऽपि कथंचित् कर्तृत्वमेव, तथाहि आत्मन उपयोगलक्षणत्वमसंख्येयप्रदेशत्वं पुद्गलानां च मूर्त्तत्वं धर्माधर्मा-स्तिकाययोर्गतिस्थित्युपष्टम्भकारित्वममूर्त्तत्वञ्चेत्येवमादि स्वभावापादितम्। यदपि चात्रात्मव्यतिरेकाव्यतिरेकरूपं दूषणमुपन्यस्तं तददूषणमेव, यतः स्वभाव आत्मनोऽव्यतिरिक्तः, आत्मनोऽपि च कर्तृत्वमभ्युपगतमेतदपि स्वभावापादितमेवेति। तथा कर्माऽपि कर्तृ भवत्येव, तद्धि जीवप्रदेशैः सहाऽन्योऽन्यानुवेधरूपतया व्यवस्थितं कथञ्चिचात्मनोऽभिन्नं, तद्वशा-च्चात्मा नारकतिर्य्यङ्मनुष्यामरभवेषु पर्यटन् सुखदुःखादिकमनुभवतीति।

कहा है कि "काल एकरूप है इसलिए उससे विचित्र जगत्‌की उत्पत्ति नहीं हो सकती है" यह भी हमलोगोंके लिए दोष नहीं है क्योंकि हमलोग एकमात्र कालको ही कर्ता नहीं मानते हैं अपितु कर्मको भी कर्ता मानते हैं अतः कर्मकी विचित्रताके कारण जगत्‌की विचित्रता होती है इसलिए हमारे आर्हतोंके मतमें कोई दोष नहीं है। तथा ईश्वर भी जगत्‌का कर्ता है क्योंकि आत्मा ही भिन्न-भिन्न योनियोंमें उत्पन्न होता हुआ सर्वव्यापक होनेके कारण ईश्वर है। वह ईश्वर सुख दुःखकी उत्पत्तिका कर्ता है यह सर्वमतवादियोंके मतमें निर्विवाद सिद्ध है। "सुख दुःखका कर्ता ईश्वर है" इस मतको दूषित करनेके लिए नियतिवादीने जो "आत्मा मूर्त्त है अथवा अमूर्त्त है" इत्यादि दूषण दिया है वह दूषण भी आत्माको ईश्वर मानलेनेपर दूर हट जाता है। तथा स्वभाव भी कथञ्चित् कर्ता है क्योंकि आत्माका उपयोगस्वरूप तथा असंख्य प्रदेशी होना, एवं पुद्गलोंका मूर्त्तत्व एवं धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायका गति स्थितिका सहायक होना और अमूर्त होना यह सब स्वभावकृत ही है। "स्वभाव आत्मासे भिन्न है अथवा अभिन्न है" इत्यादि ग्रन्थके द्वारा नियतिवादीने जो स्वभावकर्तृत्वमें दोप बताया है वह भी दोप नहीं है क्योंकि स्वभाव आत्मासे भिन्न नहीं है और आत्मा कर्ता है यह हमने स्वीकार किया है अतः आत्माका कर्तृत्व भी स्वभाव कृत ही है। तथा कर्म भी कर्ता है ही क्योंकि वह जीवप्रदेशके साथ परस्पर मिलकर रहता हुआ कथंचित् जीवसे अभिन्न है और उसी कर्मके वश आत्मा, नारक,

तदेवं नियत्यनियत्योः कर्तृत्वे युक्त्युपपन्ने सति नियतेरेव कर्तृत्वमभ्युपगच्छन्तो निर्बुद्धिकाः भवन्तीत्यवसेयम् ॥ ४ ॥

तिर्य्यञ्च, मनुष्य और अमरगतिमें भ्रमण करता हुआ सुख दुःखको भोगता है। इस प्रकार नियति और अनियति इन दोनोंका कर्तृत्व युक्तिसे सिद्ध होते हुए भी केवल नियतिको ही कर्ता मानने वाले नियतिवादी बुद्धिहीन है यह जानना चाहिए ॥४॥

एवमेगे उ पासत्था, ते भुज्जो विप्पगब्भिआ।
एवं उवट्ठिआ संता, ण ते दुक्खविमोक्खया ॥५॥

छाया—एवमेके तु पार्श्वस्था स्ते भूयो विप्रगल्भिताः।
एवमुपस्थिताः सन्तो न ते दुःखविमोक्षकाः ॥

व्याकरण—(एवं) अव्यय (एगे) पार्श्वस्थका विशेषण। (पासत्था) कर्तृवाचक-प्रथमान्त। (ते) पार्श्वस्थपरामर्शकसर्वनाम। (भूज्जो) क्रियाविशेषण। (विप्पगब्भिया) पार्श्वस्थका विशेषण (एवं) अव्यय। (उवट्ठिया, संता, ते, दुक्खविमोक्खया) ये सब पार्श्वस्थके विशेषण।

अन्वयार्थ—(एवं) इसप्रकार (एगे उ) कोई (पासत्था) पार्श्वस्थ कहते हैं (ते) वे (भुज्जो) वार वार (विप्पगब्भिया) नियतिमात्रको कर्ता कहनेकी धृष्टता करते हैं। (एवं) इसप्रकार (उवट्ठिआ संता) अपने सिद्धान्तानुसार पारलौकिक क्रियामें उपस्थित होकर भी (ते) वे (दुक्खविमोक्खया) दुःख छुड़ानेमें समर्थ (न) नहीं हैं।

भावार्थ—नियतिको ही सुख दुःख का कर्ता माननेवाले नियतिवादी पूर्वोक्त प्रकारसे एकमात्र नियतिको ही कर्ता बताने की धृष्टता करते हैं। वे अपने सिद्धान्तानुसार परलोक की क्रिया में प्रवृत्त होकर भी दुःख से मुक्त नहीं हो सकते हैं।

टीका—तदेवं युक्त्या नियतिवादं दूषयित्वा तद्वादिनामपायदर्शनायाह—

एवमिति पूर्वाऽभ्युपगमसंसूचकः, सर्वस्मिन्नपि वस्तुनि नियता-

इस प्रकार युक्तिके द्वारा नियतिवादको दूषित करके सूत्रकार नियतिवादियोंका विनाश दिखानेके लिए कहते हैं।

इस गाथामें 'एवं' शब्द, पूर्वोक्त नियतिवादीके मन्तव्यको सूचित करता है। सभी वस्तु नियत और अनियत दोनों प्रकारकी हैं तथापि कोई पुरुष, काल और

नियते सत्येके नियतिमेवाऽवश्यम्भाव्येव कालेश्वरादेर्निराकरणेन निर्हेतुकतया नियतिवादमाश्रिताः। तुरवधारणे, तएवनान्ये, किंविशिष्टाः पुनस्त इति दर्शयति—युक्तिकदम्बकाद्बहिस्तिष्ठन्तीति पार्श्वस्थाः परलोकक्रियापार्श्वस्था वा, नियतिपक्षसमाश्रयणात्परलोकक्रियावैयर्थ्यं, यदि वा—पाश इव पाशः—कर्मबन्धनं, तच्चेह युक्तिविकलनियतिवादप्ररूपणं तत्र स्थिताः पाशस्थाः । अन्येऽप्येकान्तवादिनः कालेश्वरादिकारणिकाः पार्श्वस्थाः पाशस्था वा द्रष्टव्या इत्यादि । ते पुनर्नियतिवादमाश्रित्याऽपि, भूयो विविधं विशेषेण वा प्रगल्भिता धाष्टर्योपगताः परलोकसाधिकासु क्रियासु प्रवर्त्तन्ते । धाष्टर्याश्रयणं तु तेषां नियतिवादाश्रयणे सत्येव पुनरपि तत्प्रतिपन्थिनीषु क्रियासु प्रवर्तनादिति। ते पुनरेवमप्युपस्थिताः परलोकसाधिकासु क्रियासु प्रवृत्ता अपि सन्तो नात्मदुःखविमोक्षकाः। असम्यक्प्रवृत्तत्वान्नात्मानं दुःखाद्विमोचयन्ति। गता नियतिवादिनः ॥५॥

ईश्वर आदिको छोड़कर केवल नियति यानी अवश्यम्भावीको ही विना कारण कर्ता मानते हैं। यहां 'तु' शब्द अवधारण अर्थमें है इसलिए वे नियतिवादी ही ऐसा मानते हैं दूसरे नहीं। वे नियतिवादी कैसे हैं ? यह सूत्रकार दिखलाते हैं—वे नियतिवादी पार्श्वस्थ हैं। जो युक्तिसमूहसे बाहर रहता है उसे 'पार्श्वस्थ' कहते हैं। अथवा वे नियतिवादी परलोककी क्रियासे बाहर रहते हैं क्योंकि वे लोग जब नियतिको ही सबका कर्ता मानते हैं तब फिर उनकी परलोककी क्रिया व्यर्थ ठहरती है। अथवा जो पाशके समान है उसे 'पाश' कहते हैं। वह पाश, कर्मबन्धन है। वह कर्मबन्धन, यहाँ युक्तिरहित नियतिवादका निरूपण करना है, उसमें स्थित वे नियतिवादी पाशस्थ हैं। दूसरे एकान्तवादी जो काल तथा ईश्वर आदिको ही सबका कर्ता मानते हैं उन्हें भी पार्श्वस्थ अथवा पाशस्थ समझना चाहिए। वे नियतिवादी "सब कुछ नियतिसे ही होता है" इस सिद्धान्तको मानकर भी अनेक प्रकारकी अथवा विशेषरूपसे धृष्टता करते हुए परलोकसाधक क्रियामें प्रवृत्त होते हैं। उनकी धृष्टता तो यह है कि वे "सब कुछ नियतिसे ही होता है" इस सिद्धान्तको मानते हुए भी इस सिद्धान्तके विरोधी क्रियामें प्रवृत्त होते हैं। अतः परलोक साधक क्रियामें प्रवृत्त होकर भी वे अपने आत्माको दुःखसे मुक्त नहीं कर सकते हैं। वे सम्यक् प्रकारसे (ज्ञानपूर्वक) क्रियामें प्रवृत्त नहीं है इसलिए वे अपने आत्माको दुःखसे मुक्त नहीं कर सकते हैं। नियतिवादीका मत समाप्त हुआ ॥ ५ ॥

जविणो मिगा जहा संता, परिताणेण वज्जिआ ।
असंकियाइं संकंति, संकिआइं असंकिणो ॥ ६ ॥

छाया—जविनो मृगा यथा सन्तः परित्राणेन वर्जिताः ।
अशङ्कितानि शङ्कन्ते शङ्कितान्यशङ्किनः ॥

परियाणिआणि संकंता, पासिताणि असंकिणो ।
अण्णाणभयसंविग्गा संपलिंति तहिं तहिं ॥७॥

छाया—परित्राणितानि शङ्कमानाः पाशितान्यशङ्किनः ।
अज्ञानभयसंविग्नाः सम्पर्य्यन्ते तत्र तत्र ॥

व्याकरण—(जविणो) मृगका विशेषण । (मिगा) कर्ता (जहा) अव्यय । (संता) मृगका विशेषण । (परिताणेण) वर्जनक्रियाका कर्ता । (वज्जिआ) मृगका विशेषण । (असंकियाइं) कर्म । (संकंति) क्रिया (संकिआइं) कर्म (असंकिणो) मृगका विशेषण । (परियाणिआणि) कर्म (संकंता) मृगका विशेषण । (पासिताणि) कर्म (असंकिणो) मृगका विशेषण । (अण्णाणभयसंविग्गा) मृगका विशेषण । (तहिं तहिं) अव्यय । (संपलिंति) क्रिया ।

अन्वयार्थ—(जहा) जैसे (परिताणेण) रक्षकसे (वज्जिआ) वर्जित (जविणो) चञ्चल (मिगा) मृग (असंकियाइं) शङ्काके अयोग्य स्थानमें (संकंति) शङ्का करते हैं । (संकियाइं) और शङ्काके योग्य स्थानमें (असंकिणो) शङ्का नहीं करते हैं । (परियाणिआणि) रक्षायुक्त स्थानको (संकंतो) शंकास्पद जानते हुए और (पासिताणि) पाशयुक्त स्थानको (असंकिणो) शङ्कारहित समझते हुए (अण्णाणभयसंविग्गा) अज्ञान और भयसे उद्विग्न वे मृग (तहिं तहिं) उन उन-पाशयुक्त स्थानोंमें ही (संपलिंति) जा पड़ते हैं ।

भावार्थ—जैसे रक्षक हीन, अतिचञ्चल मृग, शङ्काके अयोग्य स्थानमें शङ्का करते हैं । और शङ्कायुक्त स्थानमें शङ्का नहीं करते हैं । इस प्रकार रक्षायुक्त स्थानमें शङ्का करनेवाले और पाशयुक्त स्थानमें शङ्का नहीं करनेवाले, अज्ञान और भयसे उद्विग्न वे मृग, पाश युक्त स्थानमें ही जा पड़ते हैं इसी तरह अन्यदर्शनी रक्षायुक्त स्याद्वादको छोड़कर अनर्थयुक्त एकान्तवादका आश्रय लेते हैं ।

टीका—साम्प्रतमज्ञानिमतं दूषयितुं दृष्टान्तमाह—

यथा जविनो वेगवन्तः सन्तो मृगा आरण्याः पशवःपरि-समन्तात्

टीकार्थ—अब अज्ञानियोंके मतको दूषित करनेके लिए सूत्रकार दृष्टान्त बतलाते हैं—

जैसे वेगवान् मृग अर्थात् जङ्गली पशु परित्राण (रक्षक) रहित होते हैं । जो चारो

त्रायते रक्षतीति परित्राणं तेन वर्जिता रहिताः परित्राणविकला इत्यर्थः। यदि वा—परितानं वागुरादिबन्धनं तेन तर्जिता भयं ग्राहिताः सन्तो-भयोद्भ्रान्तलोचनाःसमाकुलीभूतान्तःकरणाः सम्यग् विवेकविकला अशङ्कनीयानि कूटपाशादिरहितानि स्थानान्यशङ्कार्हाणि तान्येव शङ्कन्तेऽ-नर्थोत्पादकत्वेन गृह्णन्ति। यानि पुनः शङ्कार्हाणि, शङ्का संजाता येषु-योग्यत्वात्तानि शङ्कितानि शङ्कायोग्यानि वागुरादीनि तान्यशङ्किनस्तेषु-शङ्कामकुर्वाणाः तत्र तत्र पाशादिके सम्पर्य्ययन्तइत्युत्तरेण सम्बन्धः ॥६॥

पुनरप्येतदेवातिमोहाविष्करणायाह—परित्रायत इति परित्राणं तज्जातं येषु तानि तथा, परित्राणयुक्तान्येव शङ्कमाना अतिमूढत्वाद्विपर्य्यस्तबुद्धयः त्रातर्य्यपि भयमुत्प्रेक्षमाणाः तथा पाशितानि पाशोपेतानि—अनर्था-पादकान्यशङ्किनस्तेषु शङ्कामकुर्वाणाः सन्तोऽज्ञानेन भयेन च संविग्गत्ति सम्यग् व्याप्ताः वशीकृताः शङ्कनीयमशङ्कनीयं वा तथा परित्राणोपेतं पाशाद्यनर्थोपेतं वा सम्यग् विवेकेनाजानानास्तत्र तत्रानर्थबहुले पाशवा-गुरादिके बन्धने सम्पर्य्ययन्ते-सम् एकीभावेन परि समन्तादयन्ते यान्ति वा गच्छन्तीत्युक्तं भवति। तदेवं दृष्टान्तं प्रसाध्य नियतिवादाद्येकान्ता-

---

तरफसे रक्षा करता है उसे 'परित्राण' कहते हैं उससे वे रहित होते हैं अर्थात् उनका कोई रक्षक नहीं होता है। अथवा पाश आदि बन्धन को 'परितान' कहते हैं उस परितानसे भय पाये हुए वे पशु भयसे चञ्चलनेत्र तथा उद्विग्नहृदय हो जाते हैं। वे सम्यक् विवेकसे रहित होकर कूटपाश आदिसे रहित तथा शङ्काके अयोग्य स्थानोंमें ही शङ्का करते हैं वे उस स्थानको ही अनर्थजनक मानते हैं और जो शङ्का करने योग्य पाशबन्धन आदि हैं उनमें शङ्का नहीं करते हैं अतः वे पशु पाश आदि बन्धनोंमें ही जा पड़ते हैं यह अगले श्लोकसे सम्बन्ध करना चाहिये ॥६॥

फिर भी सूत्रकार इसी अतिमोहको प्रकट करनेके लिए कहते हैं—अति मूर्खताके कारण विपरीत ज्ञानवाले, तथा जो स्थान रक्षायुक्त है उसीमें शङ्का करनेवाले अर्थात् जो रक्षा करनेवाला है उसमें भी भयकी शङ्का करनेवाले, एवं अनर्थ जनक पाशयुक्त स्थानमें शङ्का नहीं करनेवाले, अज्ञान और भयसे पूर्ण हृदय वे पशु जैसे शङ्कनीय अथवा अशङ्कनीय तथा रक्षायुक्त और पाशआदि अनर्थयुक्त स्थानको अच्छी तरह विवेकके साथ नहीं जानते हुए अनर्थबहुल पाश वागुरा आदि बन्धनोंमें ही जापड़ते हैं इस प्रकार दृष्टान्त बताकर नियतिवादी आदि

ज्ञानवादिनो दार्ष्टान्तिकत्वेनाऽऽयोज्याः, यतस्तेऽप्येकान्तवादिनोऽज्ञानिकास्त्राणभूताऽनेकान्तवादवर्जिताः सर्वदोषविनिर्मुक्तं कालेश्वरादिकारणवादाऽभ्युपगमेनानाशङ्कनीयमनेकान्तवादमाशङ्कन्ते, शङ्कनीयञ्च नियत्यज्ञानवादमेकान्तं न शङ्कन्ते ते एवंभूताः परित्राणार्हेऽप्यनेकान्तवादे शङ्कां कुर्वाणा युक्त्याऽघटमानकमनर्थबहुलमेकान्तवाद मशङ्कनीयत्वेन गृह्णन्तोऽज्ञानावृतास्तेषु तेषु कर्मबन्धनस्थानेषु सम्पर्य्ययन्त इति ॥ ७ ॥

तथा एकान्त अज्ञानवादियोंको दार्ष्टान्तरूपसे योजना करनी चाहिए क्योंकि वे भी एकान्तवादी अज्ञानी हैं। वे, रक्षायुक्त अनेकान्तवादसे वर्जित हैं। अनेकान्तवाद, सब दोषोंसे रहित है और काल तथा ईश्वर आदि को भी कारण माननेके कारण अशङ्कनीय है तथापि वे उसमें शङ्का करते हैं। नियतिवाद तथा अज्ञानवाद एकान्त वाद हैं इसलिए वे शङ्काके योग्य हैं फिर भी वे उनमें शङ्का नहीं करते हैं। इस प्रकार परित्राणयोग्य अनेकान्तवादमें शङ्का करते हुए और युक्तिविरुद्ध तथा अनर्थपूर्ण एकान्तवादको अशङ्कनीय समझते हुए, अज्ञानसे ढँके हुए वे एकान्तवादी उन कर्मबन्धनोंके स्थानोंमें जाते हैं ॥ ७ ॥

अह तं पवेज्ज बज्झं, अहे बज्झस्स वा वए।
मुच्चेज्ज पयपासाओ, तं तु मंदे ण देहए ॥८॥

छाया—अथ तं प्लवेत बन्ध मधो बन्धस्य वा व्रजेत्।
मुञ्चेत्पदपाशात्तु मन्दो न पश्यति ॥

व्याकरण—(अह) अव्यय (तं) बन्धका विशेषण (बज्झं) कर्म (पवेज्ज) क्रिया। (अहे) अव्यय (बज्झस्स) सबन्धपष्ठ्यन्त। (वा) अव्यय (वए) क्रिया (मुच्चेज्ज) क्रिया (पयपासाओ) अपादान (तं) कर्म (तु) अव्यय (मंदे) कर्ता (ण) अव्यय (देहए) क्रिया।

अन्वयार्थ—(अह) इसके पश्चात् वह मृग (तं बज्झं) उस बंधनको (पवेज्ज) लंघन करजाय (वा) अथवा (बज्झस्स) बन्धनके (अहे) नीचे होकर (वए) निकल जाय तो (पयपासाओ) पैरके बन्धनसे (मुच्चेज्ज) छुट सकता है (तु) परंतु (तं) उसे (मंदे) वह मूर्ख मृग (ण देहए) नहीं देखता है।

भावार्थ—वह मृग यदि कूदकर उस बन्धनको लाँघ जाय अथवा उसके नीचेसे निकल जाय तो वह पैरके बन्धनसे मुक्त हो सकता है परन्तु वह मूर्ख मृग इसे नही देखता है।

टीका—पूर्वदोषैरपरितुष्यन्नाचार्य्यो दोषान्तरदित्सया पुनरपि प्राक्तन दृष्टान्तमधिकृत्याऽऽह—

अथ अनन्तर मसौ मृगस्तत् 'वज्झ' मिति वद्धं वन्धनाकारेण व्यवस्थितं वागुरादिकं वा बन्धनं बन्धकत्वाद् बन्धमित्युच्यते तदेवभूतं कूटपाशादिकं वन्धनं यद्यसावुपरि प्लवेत् तदधस्तादतिक्रम्योपरि गच्छेत्, तस्य वर्ध्र्यादेर्वन्धनस्याधो (वा) गच्छेत् तत एवं क्रियमाणेऽसौमृगः पदे पाशः पदपाशो वागुरादिबन्धनं तस्मान्मुच्येत यदि वा पदं कूटं पाशः प्रतीतस्ताभ्यां मुच्येत, क्वचित्पदपाशादीति पठ्यते, आदिग्रहणाद् वध ताडनमारणादिकाः क्रियाः गृह्यन्ते, एवं सन्तमपि तमनर्थपरिहरणोपायं मन्दोजडोऽज्ञानावृतो न देहतीति न पश्यतीति ॥ ८ ॥

टीकार्थ—पूर्वोक्त दोषोंसे सन्तुष्ट न होकर अचार्य्य दूसरा दोष देनेके लिए पूर्वोक्त दृष्टान्तके विषयमें फिर कहते हैं।

इसके पश्चात् वह मृग, बन्धनाकारमें स्थित, अथवा जो वागुरा आदि बन्धन-बन्धन देनेके कारण 'बन्ध' कहे जाते हैं उनको कूदकर पार कर जाय अथवा चर्ममय उस बन्धनके नीचे होकर चलाजाय तो वह पदपाशरूप उस वागुरादि वन्धनसे मुक्त हो सकता है। अथवा 'पद' कपटको कहते हैं और 'पाश, वन्धनका नाम प्रसिद्ध है, उन दोनोंसे वह मृग छुट सकता है। कहीं कहीं "पदपाशादि" यह पाठ है। यहां आदि शब्दसे वध, ताडन, और मारण, आदि क्रियायें ली जाती हैं। वह अज्ञानी मृग, उक्त प्रकारसे अनर्थको दूर करनेका उपाय होते हुए भी उसे नहीं देखता है॥ ८ ॥
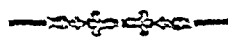
अहिअप्पाऽहियपण्णाणे, विसमंतेणुवागते।
स बद्धे पयपासेणं, तत्थ धायं नियच्छइ ॥ ९ ॥

छाया—अहिताऽत्माऽहितप्रज्ञानः विषमान्तेनोपागतः।
स बद्धः पदपाशेन तत्र घातं नियच्छति ॥

व्याकरण—(अहिअप्पा) (अहियपण्णाणे) (विसमंतेणुवागते) ये तीनों मृगके विशेषण हैं। (स) मृगका विशेषण। (पयपासेणं) वन्धनक्रियाका करण। (बद्धे) मृगका विशेषण (तत्थ) अधिकरण (धायं) कर्म (नियच्छइ) क्रिया।

अन्वयार्थ—(अहिअप्पा) अहितात्मा (अहियपण्णाणे) अहित ज्ञानवाला (विसमंतेणुवागते) कूटपाशादियुक्त विषम प्रदेशमें प्राप्त होकर (स) वह मृग (तत्थ) वहां (पयपासेणं) पदबन्धनके द्वारा (बद्धे) बद्ध होकर (घायं) घातको (नियच्छइ) प्राप्त होता है।

भावार्थ—वह मृग अपना अहित करनेवाला और अहित बुद्धिसे युक्त है, वह बन्धन युक्त विषमप्रदेशोंमें जाकर वहाँ पदबन्धनसे बद्ध होकर नाशको प्राप्त होता है।

टीका—कूटपाशादिकश्चापश्यन् यामवस्थामवाप्नोति तां दर्शयितुमाह—

स मृगोऽहितात्मा तथाऽहितं प्रज्ञानं बोधो यस्य सोऽहितप्रज्ञानः, सचाहितप्रज्ञानः सन् विषमान्तेन कूटपाशादियुक्तेन प्रदेशेनोपागतः यदि वा विषमान्ते कूटपाशादिके आत्मान मनुपातयेत्, तत्र चासौ पतितो बद्धश्च तेन कूटादिना पदपाशादीननर्थबहुलान् अवस्थाविशेषान् प्राप्तः तत्र बन्धने घातं विनाशं नियच्छति प्राप्नोतीति ॥९॥

टीकार्थ—कूट पाश आदिको न देखता हुआ वह मृग जिस अवस्थाको प्राप्त करता है उसे दिखानेके लिए सूत्रकार कहते हैं—

वह मृग अहितात्मा अर्थात् अपना अहित करनेवाला है तथा वह अहित प्रज्ञान अर्थात् अहित बुद्धिवाला है। वह कूटपाशादियुक्त विषम प्रदेशको प्राप्त करता है अथवा वह अपनेको कूटपाश आदिसे युक्त विषम प्रदेशमें गिरा देता है और वहाँ वह गिरा हुआ उस कूट आदिके द्वारा बाँधा जाकर पदपाश आदि अनर्थ बहुल अवस्थाविशेषको प्राप्त करके उस बन्धन में विनाशको प्राप्त करता है ॥९॥

एवं तु समणा एगे, मिच्छदिट्ठी अणारिआ।
असंकिआइं संकंति, संकिआइं असंकिणो ॥१०॥

छाया—एवं तु श्रमणा एके मिथ्यादृष्टयोऽनार्य्याः।
अशङ्कितानि शङ्कन्ते शङ्कितान्यशङ्किनः ॥

व्याकरण—(एवं तु) अव्यय (एगे मिच्छदिट्ठी अणारिया) श्रमणके विशेषण (समणा) कर्ता (संकंति) क्रिया (संकिआइं) कर्म (असंकिणो) कर्ताका विशेषण।

अन्वयार्थ—(एवं तु) इस प्रकार (एगे) कोई (मिच्छदिट्ठी) मिथ्यादृष्टि (अणारिया) अनार्य्य (समणा) श्रमण (असंकिआइं) शङ्कारहित अनुष्ठानोंमें (संकंति) शङ्का करते हैं (संकिआइं) तथा शङ्का सहित अनुष्ठानोंमें (असंकिणो) शङ्का नहीं करते हैं।

भावार्थ—इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि अनार्य्य कोई श्रमण शङ्कारहित अनुष्ठानोंमें शङ्का करते हैं और शङ्कायोग्य अनुष्ठानों में शङ्का नहीं करते हैं।

टीका—एवं दृष्टान्तं प्रदर्श्य सूत्रकार एव दार्ष्टान्तिकमज्ञानविपाकं दर्शयितुमाह—

टीका—एवमिति यथा मृगा अज्ञानावृता अनर्थमनेकशः प्राप्नुवन्ति तुरवधारणे, एवमेव श्रमणाः केचित् पाखण्डविशेषाश्रिता एके न सर्वे, किम्भूतास्त इति दर्शयति-मिथ्या-विपरीता दृष्टि र्येषामज्ञानवादिनां नियतिवादिनां वा ते मिथ्यादृष्टयः तथा अनार्य्या आराद्याताः सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्य्याः न आर्य्या अनार्य्या अज्ञानावृतत्वादसदनुष्ठायिन इति यावद्। अज्ञानावृतत्वञ्च दर्शयति—अशङ्कितानि अशङ्कनीयानि सुधर्मानुष्ठानादीनि शङ्कमानाः तथा शङ्कनीयानि अपायबहुलानि एकान्तपक्ष समाश्रयणानि अशङ्किनो मृगा इव मूढचेतसस्तत्तदाऽऽरम्भन्तेयद्यदनर्थाय सम्पद्यत इति ॥ १० ॥

टीकार्थ—इस प्रकार दृष्टान्त दिखलाकर सूत्रकार दार्ष्टान्तरूप अज्ञानका फल दिखानेके लिए कहते हैं।

जैसे अज्ञानी मृग अनेक प्रकारके अनर्थको प्राप्त करते हैं इसी तरह पाखण्ड-विशेषको स्वीकार करनेवाले कोई श्रमण अनेक अनर्थोंको प्राप्त करते हैं परन्तु सब नहीं। यहाँ 'तु' शब्द अवधारणार्थक है। वे श्रमण कैसे हैं यह सूत्रकार दिखाते हैं। जिनकी दृष्टि, मिथ्या यानी विपरीत है वे अज्ञानवादी अथवा नियतिवादी मिथ्यादृष्टि हैं जो सब वर्जनीय धर्मोंसे दूर रहता है उसे आर्य्य कहते हैं जो इससे भिन्न हैं वे अनार्य्य हैं अर्थात् अज्ञानसे आवृत होकर जो असत् अनुष्ठान करते हैं वे अनार्य्य हैं। पूर्वोक्त अन्यदर्शनी अनार्य्य हैं। अब सूत्रकार, "वे अन्यदर्शनी अज्ञानसे ढँके हुए हैं" यह दिखलाते हैं। वे अन्यदर्शनी शङ्काके अयोग्य सुन्दर धर्मके अनुष्ठान आदि में शङ्का करते हैं तथा शङ्का करने योग्य और पाशसे परिपूर्ण एकान्तपक्षके स्वीकारमें शङ्का नहीं करते हैं। मृगके समान मूर्ख वे अन्य-दर्शनी वह वह, आरम्भ करते हैं जो जो अनर्थके लिए होता है ॥ १० ॥

धम्मपण्णवणा जा सा, तं तु संकंति मूढगा ।
आरंभाइं न संकंति अवियत्ता अकोविआ ॥११॥

छाया—धर्मप्रज्ञापना या सा तान्तु शङ्कन्ते मूढकाः ।
आरम्भान्न शङ्कन्ते अव्यक्ता अकोविदाः ॥

व्याकरण—(जा, सा,) सर्वनाम । (धम्मपण्णवणा) कर्ता । (तं) कर्म (तु) अव्यय । (संकंति) क्रिया (मूढगा) कर्ता (आरंभाइं) कर्म (न) अव्यय । (संकंति) क्रिया (अवियत्ता अकोविआ) अन्यतीर्थीके विशेषण ।

अन्वयार्थ—(जा, सा,) जो वह (धम्मपण्णवणा) धर्मकी प्रज्ञापना यानी प्ररूपणा है (तं तु) उसमें तो (मूढगा) वे मूर्ख (संकंति) शङ्का करते हैं (आरंभाइं) परन्तु आरम्भमें (न संकंति) शङ्का नहीं करते हैं (अवियत्ता) वे अविवेकी हैं (अकोविया) शास्त्रज्ञ नहीं हैं ।

भावार्थ—मूर्ख, अविवेकी और शास्त्रज्ञान वर्जित वे अन्यतीर्थी, धर्मकी जो प्ररूपणा है उसमें शङ्का करते हैं और आरम्भमें शङ्का नहीं करते हैं ।

टीका—शङ्कनीयाशङ्कनीयविपर्य्यासमाह—

धर्मस्य क्षान्त्यादिदशलक्षणोपेतस्य या प्रज्ञापना—प्ररूपणा तान्तु इति तामेव शङ्कन्तेऽसद्धर्मप्ररूपणेयमित्येवमध्यवस्यन्ति ये पुनः पापोपादानभूताः समारम्भास्तान्नाशङ्कन्ते, किमिति ? यतोऽव्यक्ताः मुग्धाः सहजसद्विवेकविकलाः तथा अकोविदा अपण्डिताः सच्छास्त्राववोधरहिता इति ॥ ११ ॥

टीकार्थ—अब सूत्रकार, शङ्काके योग्य और शङ्काके अयोग्य धर्मोंकी विपरीतता बतलाते हैं—

क्षान्ति आदि दश प्रकारका धर्म है उसकी जो प्ररूपणा है उसीमें वे मूर्ख शङ्का करते हैं । उसे वे अधर्मकी प्ररूपणा समझते हैं । तथा पापके कारण स्वरूप आरम्भोंमें शङ्का नहीं करते हैं । वे ऐसा क्यों करते हैं ? क्योंकि वे स्वभावतः सद् विवेकसे रहित हैं । तथा वे सत् शास्त्रके विवेकसे वर्जित हैं ॥११॥

सव्वप्पगं विउक्कस्सं, सव्वं णूमं विहूणिआ ।
अप्पत्तिअं अकम्मंसे, एयमट्ठं मिगे चुए ॥१२॥

छाया—सर्वात्मकं व्युत्कर्षं सर्वं छादकं विधूय ।
अप्रत्ययमकर्मांश एतमर्थं मृगस्त्यजेत् ॥

व्याकरण—(सव्यप्पगं, विउक्कस्सं, सव्वं णूमं, अप्पत्तियं) कर्म (विहूणिया) पूर्वकालिक क्रिया (अकम्मंसे) कर्ता (एयं अट्ठं) कर्म (मिगे) कर्ता (चुए) क्रिया।

अन्वयार्थ—(सव्वप्पगं) सर्वात्मक—लोभ (विउक्कस्सं) विविध प्रकारका उत्कर्ष, मान (सव्वं) सब (णूमं) माया (अप्पत्तियं) और क्रोधको (विहूणिया) त्यागकर (अकम्मंसे) जीव कर्मांश रहित होता है (एयं अट्ठं) परन्तु इस अर्थको (मिगे) मृगके समान अज्ञानी जीव (चुए) त्याग देता है ।

भावार्थ—लोभ, मान, माया और क्रोधको छोड़कर जीव कर्मांश रहित होता है परन्तु मृगके समान अज्ञानी जीव, इसे छोड़ देता है ।

टीका—ते च अज्ञानावृता यन्नाप्नुवन्ति तद्दर्शनायाह—

सर्वत्राऽप्यात्मा यस्याऽसौ सर्वात्मको लोभ स्तं विधूयेति सम्बन्धः । तथा विविध उत्कर्षो गर्वो व्युत्कर्षो, मान इत्यर्थः, तथा 'णूमं' त्ति माया तां विधूय तथा 'अप्पत्तियं' त्ति क्रोधं विधूय, कषायविधूननेन च मोहनीयविधूननमावेदितं भवति तदपगमाच्चाशेषकर्माभावः प्रतिपादितो भवतीत्याह—'अकर्मांश इति न विद्यते कर्मांशोऽस्येत्यकर्मांशः स चाकर्मांशो विशिष्टज्ञानाद् भवति नाऽज्ञानादित्येव दर्शयति—एनमर्थं कर्माभावलक्षणं

टीकार्थ—वे अज्ञानी जिस वस्तुको नहीं प्राप्त कर सकते हैं उसे दिखानेके लिए सूत्रकार कहते हैं ।

जिसका आत्मा सर्वत्र है उसे 'सर्वात्मक' कहते हैं । वह लोभ है । उस लोभको छोड़कर यह सम्बन्ध है । तथा विविध प्रकारका उत्कर्ष यानी गर्व व्युत्कर्ष कहलाता है । वह मान है । तथा 'णूम' मायाको कहते हैं । उस गर्व तथा मायाको छोड़कर तथा क्रोधको छोड़कर जीव अकर्मांश यानी समस्त कर्मोंसे रहित होता है । यहाँ कषायके त्याग कहनेसे मोहनीय कर्मका भी त्याग कहा गया है और मोहनीय कर्मके त्यागसे समस्त कर्मोंका अभाव कहागया है । यही बतानेके लिए कहते हैं 'अकम्मंसे' अर्थात् जिसका कर्म, अंश मात्र भी शेष नहीं है उसे अकर्मांश कहते हैं । वह अकर्मांश विशिष्ट ज्ञानसे होता है अज्ञानसे नहीं होता है यही सूत्रकार दिखलाते

मृग इव मृगः—अज्ञानी 'चुए' त्ति त्यजेत्। विभक्तिविपरिणामेन वा अस्मादेवंभूतादर्थात् च्यवेत् भ्रश्येदिति। १२।

हैं कि "एय मट्ठं" अर्थात् इस कर्मके अभावरूप अर्थको मृगके समान अज्ञानी जीव त्याग देता है। अथवा विभक्तिका विपरिणाम करके यह अर्थ करना चाहिए कि इस अर्थसे अज्ञानी जीव, भ्रष्ट हो जाता है ॥१२॥

जे एयं नाभिजाणंति, मिच्छदिट्ठी अणारिया।
मिगा वा पासबद्धा ते, घाय मेसंति णंतसो ॥१३॥

छाया—य एतन्नाभिजानन्ति मिथ्यादृष्टयोऽनार्य्याः
मृगा वा पाशबद्धास्ते घात मेष्यन्त्यनन्तशः।

व्याकरण—(जे) मिथ्यादृष्टिका विशेषण सर्वनाम। (एयं) कर्म (न) अव्यय (अभिजाणंति) क्रिया। (मिच्छदिट्ठी) कर्ता (अणारिया) मिथ्यादृष्टिका विशेषण। (मिगा) उपमानकर्ता (वा) इवार्थक अव्यय (पासबद्धा ते) मिथ्यादृष्टिका विशेषण। (घायं) कर्म (एसंति) क्रिया। (णंतसो) अव्यय।

अन्वयार्थ—(जो) जो (मिच्छदिट्ठी) मिथ्यादृष्टि (अणारिया) अनार्य्य पुरुष (एयं) इस अर्थको (नाभिजाणंति) नहीं जानते हैं (मिगा वा) मृगके समान (पासबद्धा) पाशमें बद्ध (ते) वे (णंतसो) अनन्तवार (घायं) घातको (एसंति) प्राप्त करेंगे।

भावार्थ—जो मिथ्यादृष्टि अनार्य्य पुरुष इस अर्थको नहीं जानते हैं वे पासबद्ध मृगकी तरह अनन्तवार घातको प्राप्त करेंगे।

टीका—भूयोऽप्यज्ञानवादिनां दोषाभिधित्सयाऽऽह—

येऽज्ञानपक्षं समाश्रिता एनं कर्मक्षपणोपायं न जानन्ति, आत्मीयाऽसद्ग्रहग्रस्ता मिथ्यादृष्टयोऽनार्य्यास्ते मृगा इव पाशबद्धाः घातं विनाश मेष्यन्ति यास्यन्त्यन्वेषयन्ति वा, तद्योग्यक्रियानुष्ठानाद् अनन्तशोऽविच्छेदेनेत्यज्ञानवादिनोगताः ॥१३॥

टीकार्थ—फिर भी अज्ञानवादियोंका दोष बतानेके लिए सूत्रकार कहते हैं—

अज्ञान पक्षका आश्रय लिए हुए जो पुरुष, इस कर्मक्षपणके उपायको नहीं जानते हैं किन्तु अपने असत् आग्रहसे ग्रसे हुए मिथ्यादृष्टि तथा अनार्य्य हैं वे पाशबद्ध मृगके समान घातके योग्य कर्मका अनुष्ठान करके अनंत कालके लिए घात यानी विनाशको प्राप्त करेंगे अथवा वे विनाशको ढूँढते हैं। अज्ञानवादी कहे गए ॥१३॥

माहणा समणा एगे, सव्वे नाणं सयं वए।
सव्वलोगेऽवि जे पाणा न ते जाणंति किंचण ॥१४॥

छाया—ब्राह्मणाः श्रमणा एके सर्वे ज्ञानं स्वकं वदन्ति।
सर्वलोकेऽपि ये प्राणाः न ते जानन्ति किञ्चन।

व्याकरण—(माहणा) कर्ता (समणा) कर्ता (एगे) माहण और श्रमणका विशेषण। (सव्वे) विशेषण। (सयं नाणं) कर्म (वए) क्रिया। सव्वलोगे) अधिकरण (अवि) अव्यय (जे) सर्वनाम (पाणा) कर्ता (ते) सर्वनाम, प्राणीका विशेषण। (किंचण) अव्यय। (न) अव्यय (जाणंति) क्रिया।

अन्वयार्थ—(एगे) कोई (माहणा) ब्राह्मण (समणा) श्रमण (सव्वे) सब (सयं) अपना (नाणं) ज्ञान (वयन्ति) बताते हैं (तु) परन्तु (सव्वलोगेवि) सब लोकमें (जे) जो (पाणा) प्राणी हैं (ते) वे (किंचण) कुछ (न जाणन्ति) नहीं जानते हैं।

भावार्थ—कोई ब्राह्मण और श्रमण ये सभी अपना अपना ज्ञान बताते हैं परन्तु सब लोकमें जितने प्राणी हैं वे सभी कुछ नहीं जानते हैं।

टीका—इदानीमज्ञानवादिनां दूषणोद्विभावयिषया स्ववाग्यन्त्रिता वादिनो न चलिष्यन्तीति तन्मताविष्करणायाह—

एके केचन ब्राह्मणविशेषास्तथा 'श्रमणाः' परिव्राजकविशेषाः सर्वेऽप्येते ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं—हेयोपादेयार्थाऽऽविर्भावकं परस्परविरोधेन व्यवस्थितं स्वकमात्मीयं वदन्ति न च तानि ज्ञानानि परस्परविरोधेन प्रवृत्तत्वात्सत्यानि तस्मादज्ञानमेव श्रेयः किं ज्ञानपरिकल्पनयेति, एतदेव दर्शयति—सर्वस्मिन्नपि लोके ये प्राणाः प्राणिनो न ते किञ्चनापि सम्यगपेतवाचं (च्यं) जानन्तीति विदन्तीति ॥ १४ ॥

टीकार्थ—अब सूत्रकार .अज्ञानवादियोंके मतको दूषित करनेके लिए उनका मत बतलाते हैं जिससे अज्ञानवादी अपने वचनमें बँधकर इधर उधर नहीं जा सकेंगे।

अज्ञानवादियोंका कहना है कि—यद्यपि कोई ब्राह्मणविशेष तथा परिव्राजक, ये सभी हेय और उपादेयको प्रकट करनेवाले अपने अपने ज्ञानको बतलाते हैं। (जिसके द्वारा पदार्थ जाना जाता है उसे ज्ञान कहते हैं) परन्तु उनका ज्ञान परस्पर विरोधी होनेके कारण सत्य नहीं है इसलिए अज्ञान ही श्रेष्ठ है। ज्ञानकी कल्पनाकी कोई आवश्यकता नहीं है। यही सूत्रकार दिखलाते हैं—सब लोकमें जितने प्राणी हैं वे कुछ भी ठीक ठीक नहीं जानते हैं ॥ १४ ॥

मिलक्खू अमिलक्खूस्स, जहा वुत्ताणुभासए।
ण हेउं से विजाणाइ, भासिअं तऽणुभासए ॥१५॥

छाया—म्लेच्छोऽम्लेच्छस्य यथोक्ताऽनुभाषकः।
न हेतुं स विजानाति भाषितन्त्वनुभाषते ॥

व्याकरण—(मिलक्खू) कर्ता (अमिलक्खूस्स) सम्बन्धबोधकषष्ठ्यन्त। (जहा) अव्यय (वुत्ताणुभासए) कर्त्ताका विशेषण। (ण) अव्यय (हेउं) कर्म (से) कर्त्ताका बोधक सर्वनाम। (विजाणाइ) क्रिया (भासिअं) कर्म (अणुभासए) क्रिया।

अन्वयार्थ—(जहा) जैसे (मिलक्खू) म्लेच्छ पुरुष (अमिलक्खूस्स) अम्लेच्छ यानी आर्य्य पुरुषके (वुत्ताणुभासए) कथनका अनुवाद करता है (से) वह (हेउं) कारणको (न विजाणाइ) नहीं जानता है (तु) किन्तु (भासियं) उसके भाषणका (अणुभासए) अनुवादमात्र करता है।

भावार्थ—जैसे म्लेच्छ पुरुष, आर्य्यपुरुषके कथनका अनुवाद करता है। वह उस भाषणका निमित्त नहीं जानता है किन्तु भाषणका अनुवादमात्र करता है।

टीका—यदपि तेषां गुरुपारम्पर्य्येण ज्ञानमायातं तदपि छिन्नमूलत्वादवितथं न भवतीति दृष्टान्तद्वारेण दर्शयितुमाह—

यथा म्लेच्छ आर्य्यभाषाऽनभिज्ञः अम्लेच्छस्य आर्य्यस्य म्लेच्छ भाषानभिज्ञस्य यद् भाषितं तद् अनुभाषते, अनुवदति केवलं, न सम्यक् तदभिप्रायं वेत्ति, यथाऽनया विवक्षयाऽनेन भाषितमिति। न च हेतुं निमित्तं निश्चयेनाऽसौम्लेच्छस्तद्भाषितस्य जानाति केवलं परमार्थशून्यं तद्भाषितमेवानुभाषत इति ॥ १५ ॥

टीकार्थ—उन ब्राह्मण और श्रमणोंका गुरुपरम्परासे जो ज्ञान चला आ रहा है वह भी मूलरहित होनेके कारण सत्य नहीं हो सकता है। अज्ञानवादीके इस कथनको दृष्टान्त द्वारा प्रदर्शित करनेके लिए सूत्रकार कहते हैं।

जैसे आर्य्यभाषाको न जाननेवाला म्लेच्छपुरुष, म्लेच्छभाषाको न जाननेवाले अम्लेच्छ यानी आर्य्यपुरुषके भाषणका केवल अनुवाद करता है परन्तु उसने इस विवक्षासे यह कहा है यह उसका अभिप्राय वह अच्छी तरहसे नहीं जानता है। वह म्लेच्छ, आर्य्यपुरुषके भाषणका कारण निश्चयरूपसे नहीं जानता है केवल अर्थज्ञानशून्य उसके भाषणका अनुवादमात्र करता है ॥१५॥

एवमन्नाणिया नाणं, वयंतावि सयं सयं ।
निच्छयत्थं न याणंति, मिलक्खुव्व अबोहिया ॥१६॥

छाया—एव मज्ञानिकाः ज्ञानं वदन्तोऽपि स्वकं स्वकम् ।
निश्चयार्थं न जानन्ति म्लेच्छा इवाबोधिकाः ॥

व्याकरण—(एवं) अव्यय (अन्नाणिया) कर्ता (नाणं) कर्म (वयंता) कर्ताका विशेषण (अवि) अव्यय (सयं सयं) अव्यय (निच्छयत्थं) कर्म (न) अव्यय (याणंति) क्रिया (मिलक्खुव्व) उपमानकर्ता (अबोहिया) कर्ताका विशेषण ।

अन्वयार्थ—(एवं) इसी तरह (अन्नाणिया) ज्ञानहीन ब्राह्मण और श्रमण (सयं सयं नाणं वयंतावि) अपने अपने ज्ञानको कहते हुए भी (निच्छयत्थं) निश्चित अर्थको (न याणंति) नहीं जानते हैं । (मिलक्खुव्व) किन्तु पूर्वोक्त म्लेच्छकी तरह (अबोहिया) ज्ञानरहित हैं ।

भावार्थ—इसी तरह ज्ञानवर्जित ब्राह्मण और श्रमण अपने अपने ज्ञानको कहते हुए भी निश्चित अर्थको नहीं जानते हैं किन्तु आर्य्यभाषाका अनुवादमात्र करनेवाला अर्थज्ञानहीन पूर्वोक्त म्लेच्छकी तरह बोधरहित हैं ।

टीका—एवं दृष्टान्तं प्रदर्श्य दार्ष्टान्तिकं योजयितुमाह ।

यथा म्लेच्छोऽम्लेच्छस्य परमार्थमजानानः केवलं तद्भाषितमनुभाषते तथा अज्ञानिकाः सम्यग्ज्ञानरहिताः श्रमणाः ब्राह्मणा वदन्तोऽपि स्वीयं स्वीयं ज्ञानं प्रमाणत्वेन परस्परविरुद्धार्थभाषणात् निश्चयार्थं न जानन्ति, तथाहि—ते स्वकीयं तीर्थकरं सर्वज्ञत्वेन निर्द्धार्य्य तदुपदेशेन क्रियासु प्रवर्तेरन्, न च सर्वज्ञविवक्षा अर्वाग्दर्शिना ग्रहीतुं शक्यते 'नासर्वज्ञः सर्वज्ञं जानाती'तिन्यायात् । तथा चोक्तम्—"सर्वज्ञोऽसाविति ह्येतत्तत्का-

---

टीकार्थ—इस प्रकार अज्ञानवादियोंके पक्षका दृष्टान्त बताकर अब उसकी दार्ष्टान्तमें योजना करनेके लिये शास्त्रकार करते हैं—

जैसे म्लेच्छ पुरुष, अम्लेच्छ यानी आर्य्य पुरुषके भाषणका सत्य अर्थ न जानता हुआ केवल उसके भाषणका अनुवाद मात्र करता है उसी तरह सम्यक् ज्ञान रहित कोई श्रमण और ब्राह्मण, अपने अपने ज्ञानको प्रमाणरूपसे कहते हुए भी परस्पर विरुद्ध अर्थ भाषण करनेके कारण निश्चित अर्थको नहीं जानते हैं । आशय यह है कि—वे अपने तीर्थङ्करको सर्वज्ञ समझकर उनके उपदेशसे क्रियामें प्रवृत्त होंगे परन्तु सर्वज्ञकी विवक्षा (अभिप्राय) को अर्वाग्दर्शी (सामनेकी वस्तुको देखनेवाला) पुरुष नहीं जानसकता है क्योंकि जो सर्वज्ञ नहीं है वह सर्वज्ञको नहीं जान सकता है । जैसाकि कहा है—"जिसको सर्वज्ञके ज्ञान और ज्ञेयका ज्ञान नहीं है

लेऽपि बुभुत्सुभिः । तदज्ञानज्ञेयविज्ञानरहितै गम्यते कथम्'' ॥१॥ एवं परचेतोवृत्तीनां दुरन्वयत्वादुपदेष्टुरपि यथावस्थितविवक्षया ग्रहणासम्भवान्निश्चयार्थमजानानाः म्लेच्छवदपरोक्तमनुभाषन्त एव अबोधिका बोधरहिताः केवलमिति, अतोऽज्ञानमेव श्रेय इति । एवं यावद्यावज्ज्ञानाभ्युपगमस्तावत्तावद्गुरुतरदोषसम्भवः । तथाहि—योऽवगच्छन् पादेन कस्यचित् शिरः स्पृशति तस्य महानपराधो भवति यस्त्वनाभोगेन स्पृशति तस्मै न कश्चिदपराध्यतीति, एवञ्चाज्ञानमेव प्रधानभावमनुभवति, नतु ज्ञानमिति ॥ १६ ॥

उसके पास यदि सर्वज्ञ हों तो भी "यह सर्वज्ञ हैं" यह वह कैसे जान सकता है ?" । तथा दूसरेकी चित्तवृत्ति दुर्ग्राह्य होती है और उपदेशक पुरुषकी यथार्थवादिता भी जाना जाना संभव नहीं है अतः निश्चित अर्थको न जाननेवाले ज्ञानवादी पूर्वोक्त म्लेच्छ पुरुषकी तरह केवल दूसरेकी उक्तिका अनुवादमात्र करते हैं परन्तु वस्तुतः वे बोध रहित हैं तस्मात् अज्ञान ही श्रेष्ठ है । इसी तरह ज्यों ज्यों ज्ञान बढ़ता जाता है त्यों-त्यों गुरुतर दोष भी बढ़ता जाता है । जो जानकर दूसरेके शिरको पैरसे स्पर्श करता है उसका महान् अपराध होता है और जो भूलसे दूसरेके शिरको पैरसे स्पर्श करता है उसका कुछ भी अपराध नहीं माना जाता है अतः अज्ञान ही प्रधान है ज्ञान नहीं ॥१६॥
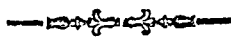
अन्नाणियाणं वीमंसा, अण्णाणे ण विनियच्छइ ।
अप्पणो य परं नालं, कुतो अन्नाणुसासिउं ॥१७॥

छाया—अज्ञानिकानां विमर्शः, अज्ञाने न विनियच्छति ।
आत्मनश्च परं नालं कुतोऽन्याननुशासितुम् ॥

व्याकरण—(अन्नाणियाणं) सम्बन्धषष्ठ्यन्त (वीमंसा) कर्ता (अण्णाणे) अधिकरण (ण) अव्यय (विनियच्छइ) क्रिया । (अप्पणो) (कर्म) (य) अव्यय (परं) कर्म । (नालं) अव्यय (कुतो) अव्यय । (अन्ना) कर्म (अणुसासिउं) क्रिया ।

अन्वयार्थ—(अन्नाणियाणं) अज्ञानवादियोंका (वीमंसा) पर्यालोचनात्मक विचार (अण्णाणे) अज्ञानपक्षमें (न विनियच्छइ) युक्त नहीं हो सकता है । (अप्पणोवि) वे अज्ञानवादी अपनेको भी (परं) अज्ञानवादकी (अणुसासिउं) शिक्षा देनेके लिए (नालं) समर्थ नहीं है (अन्नाणुसासिउं कुतो) फिर वे दूसरेको शिक्षा देनेमें समर्थ कैसे हो सकते हैं ।

भावार्थ—"अज्ञान ही श्रेष्ठ हैं" यह पर्य्यालोचनात्मक विचार अज्ञान पक्षमें सङ्गत नहीं हो सकता है। अज्ञानवादी अपने को भी शिक्षा देनेमें समर्थ नही हैं फिर वे दूसरेको शिक्षा कैसे देसकते हैं ?

टीका—एवमज्ञानवादिमतमनूद्येदानीं तद्दूषणायाह—

न ज्ञानमज्ञानं तद्विद्यते येषान्तेऽज्ञानिनः। अज्ञानशब्दस्य संज्ञा शब्दत्वाद्वा मत्वर्थीयः गौरखरवदरण्यमिति यथा। तेषामज्ञानिनामज्ञान मेव श्रेय इत्येवं वादिनां, योऽयं विमर्शः पर्य्यालोचनात्मको मीमांसा वा मातुं परिच्छेत्तुमिच्छा सा अज्ञाने अज्ञानविषये न 'णियच्छति' न निश्चयेन यच्छति—नावतरति, न युज्यत इति यावत्, तथाहि—यैवंभूता मीमांसा विमर्शो वा किमेतज्ज्ञानं सत्यमुतासत्यमिति ? "यथा अज्ञान मेव श्रेयो, यथा यथा च ज्ञानातिशय स्तथा तथा च दोषातिरेक इति" सोऽयमेवंभूतो विमर्शस्तेषां न युज्यते, एवंभूतस्य पर्य्यालोचनस्य ज्ञानरूपत्वादिति। अपि च—तेऽज्ञानवादिन आत्मनोऽपि परं प्रधानमज्ञानवाद-

---

टीकार्थ—इस प्रकार अज्ञानवादीका मत बताकर शास्त्रकार उसे दूषित करनेके लिए कहते हैं—

जो ज्ञान नहीं है उसे 'अज्ञान' कहते हैं। वह अज्ञान जिसको है उसे 'अज्ञानी' कहते हैं। अथवा अज्ञान शब्द संज्ञा शब्द है इसलिए "गौरखरवदरण्यम्" की तरह इससे मत्वर्थीय प्रत्यय हुआ है। "अज्ञान ही श्रेष्ठ है" यह कहनेवाले वे अज्ञानवादी जो यह पर्य्यालोचनात्मक विचार करते हैं अथवा वे जो पदार्थको निश्चय करनेकी इच्छा करते हैं वह निश्चय रूपसे अज्ञान विषयमें सङ्गत नहीं हो सकता है क्योंकि यह जो मीमांसा है अथवा विचार है कि "यह ज्ञान सत्य है अथवा असत्य है, तथा अज्ञान ही श्रेष्ठ है, एवं ज्यों ज्यों ज्ञान वढ़ता है त्यों त्यों दोष वढ़ता है" यह विचार भी अज्ञानियोंको करना उचित नहीं है क्योंकि इस प्रकारका पर्य्यालोचनात्मक विचार भी ज्ञानरूप है। तथा वे अज्ञानवादी, उनके मतमें प्रधान अज्ञानवादकी शिक्षा अपनेको भी देनेमें समर्थ नहीं हैं क्योंकि अज्ञान पक्षका आश्रय लेनेके कारण वे अज्ञानी हैं। इस प्रकार जब वे स्वयं अज्ञानी हैं तब उनका शिष्य बनकर जो उनके पास शिक्षा ग्रहण करनेके लिए आते हैं उनको वे अज्ञानवादकी शिक्षा किस तरह दे सकते हैं ? तथा उक्त अज्ञानवादियोंने जो यह कहा है कि "सब उपदेश आदि, म्लेच्छ द्वारा किया हुआ आर्य्यभाषाका अनुवादके समान निराधार हैं" यह भी अयुक्त है क्योंकि ज्ञानके बिना दूसरेकी भाषाका अनुवाद भी नहीं किया जा सकता है। तथा उक्त अज्ञानवादीने जो यह

मिति शासितुमुपदेष्टुं नालं न समर्थाः तेषामज्ञानपक्षसमाश्रयणेनाज्ञत्वादिति, कुतः पुनस्ते स्वयमज्ञाः सन्तोऽन्येषां शिष्यत्वेनोपगतानामज्ञानवादमुपदेष्टुमलं समर्था भवेयुरिति ? यदप्युक्तम्—"छिन्नमूलत्वान्म्लेच्छानुभाषणवत् सर्वमुपदेशादिकम्" तदप्ययुक्तं यतोऽनुभाषणमपि न ज्ञानमृते कर्तुं शक्यते । तथा यदप्युक्तं "परचेतोवृत्तीनां दुरन्वयत्वादज्ञानमेव श्रेय इति तदप्यसत्, यतो भवतैवाज्ञानमेव श्रेय इत्येवं परोपदेशदानाभ्युद्यतेन परचेतोवृत्तिज्ञानस्याभ्युपगमः कृत इति । तथाऽन्यैरप्यभ्यधायि—"आकारैरिङ्गितै र्गत्या, चेष्टया भाषितेन च ।" नेत्रवक्त्रविकारैश्च गृह्यतेऽन्तर्गतं मनः" ॥१७॥

कहा है कि—"दूसरेकी चितवृत्ति नहीं जानी जाती है इसलिए अज्ञान ही श्रेष्ठ है" यह भी अयुक्त है क्योंकि "अज्ञान ही श्रेष्ठ है" यह दूसरेको उपदेश देनेके लिए प्रवृत्त होकर तुमने स्वयं दूसरेकी चितवृत्तिका ज्ञान होना स्वीकार कर लिया है । (यदि दूसरेकी चित्तवृत्ति नहीं जानी जाती है तो तुम्हारी चित्तवृत्तिको तुम्हारे शिष्य नहीं जान सकते हैं फिर तुम उन्हें अज्ञानवादकी शिक्षा क्यों देते हो ?) दूसरेकी चित्तवृत्ति जानी जाती है यह दूसरे मतवादियोंने भी स्वीकार किया है । जैसे कि—(आकारैः) अर्थात् मनुष्यके आकारसे इङ्गितसे, गतिसे चेष्टासे, भाषणसे, तथा नेत्र और मुखके विकारसे उसके अन्दरका मन जान लिया जाता है ॥ १७ ॥

वणे मूढे जहा जन्तू, मूढे णेयाणुगामिए ।
दोवि एए अकोविया, तिव्वं सोयं नियच्छइ ॥१८॥

छाया—वने मूढो यथा जन्तु र्मूढनेत्रनुगामिकः ।
द्वावप्येतावकोविदौ तीव्रं शोकं नियच्छतः ।

व्याकरण—(वणे) अधिकरण (मूढे) जन्तुका विशेषण (जहा) अव्यय (जन्तू) कर्ता (मूढे णेयाणुगामिए) जन्तुका विशेषण । (दो एए, अकोविया) ये तीनों पद मूढ़ोके विशेषण हैं । (तिव्वं) शोकका विशेषण । (सोयं) कर्म (नियच्छइ) क्रिया ।

अन्वयार्थ—(जहा) जैसे (वणे) वनमें (मूढे) दिशामूढ़ (जन्तू) प्राणी (मूढे णेयाणुगामिए) दिशामूढ नेताके पीछे चलता है तो (एए दोवि) वे दोनों ही (अकोविया) मार्ग नहीं जाननेवाले हैं इसलिए वे (तिव्वं सोयं नियच्छइ) तीव्र शोकको अवश्य प्राप्त करते हैं ।

भावार्थ—जैसे वनमें दिशामूढ़ प्राणी दूसरे दिशामूढ प्राणीके पीछे चलता है तो वे दोनों ही मार्ग न जाननेके कारण तीव्र दुःखको प्राप्त करते हैं।

टीका—तदेवं ते तपस्विनोऽज्ञानिन आत्मनः परेषाञ्च शासने कर्त्तव्ये यथा न समर्थास्तथा दृष्टान्तद्वारेण दर्शयितुमाह—

वनेऽटव्यां यथा कश्चिन्मूढो जन्तुः प्राणी दिक्परिच्छेदं कर्तुमसमर्थः स एवंभूतो यदा परं मूढमेव नेतारमनुगच्छति तदा द्वावप्यकोविदौ सम्यग् ज्ञानानिपुणौ सन्तौ तीव्रमसह्यं स्रोतो गहनं शोकं वा नियच्छतो निश्चयेन गच्छतः प्राप्नुतः अज्ञानावृतत्वादेवं तेऽप्यज्ञानवादिन आत्मीयं मार्गं शोभनत्वेन निर्धारयन्तः परकीयश्चाशोभनत्वेन जानानाः स्वयं मूढाः सन्तः परानपि मोहयन्तीति ॥ १८ ॥

टीकार्थ—इस प्रकार वे विचारे अज्ञानवादी अपनेको तथा दूसरेको शिक्षा देनेमें जिस प्रकार समर्थ नहीं हैं वह दृष्टान्त द्वारा वतानेके लिए सूत्रकार कहते हैं—

जैसे जंगलमें दिशाके निश्चय करनेमें असमर्थ कोई मूढ़ जीव, जब दूसरे मूढ़के ही पीछे चलता है, तव वे दोनों ही मार्ग जाननेमें अच्छी तरह निपुण न होनेके कारण असह्य दुःख या घोर जङ्गलको प्राप्त करते हैं क्योंकि वे अज्ञानसे आवृत हैं इसी तरह अपने मार्गको शोभन तथा दूसरेके मार्गको अशोभन समझते हुए वे अज्ञानवादी स्वयं मूढ़ हैं और दूसरेको भी मोहित करते हैं ॥ १८ ॥

अंधो अंधं पहं णिंतो, दूरमद्धाणुगच्छइ ।
आवज्जे उप्पहं जंतू, अदुवा पंथाणुगामिए ॥१९॥

छाया—अन्धोऽन्धं पन्थानं नयन् दूरमध्वान मनुगच्छति ।
आपद्यत उत्पथं जन्तुरथवापन्थानमनुगामिकः ॥

व्याकरण—(अंधो) कर्ता (अंधं) कर्म (पहं) कर्म (णिंतो) कर्ताका विशेषण । (दूरं) क्रियाविशेषण (अद्धा) कर्म (अणुगच्छइ) क्रिया । (आवज्जे) क्रिया (उप्पहं) कर्म (जंतू) कर्ता (अदुवा) अव्यय (पंथाणुगामिए) कर्ताका विशेषण ।

अन्वयार्थ—(अंधं) अंधे मनुष्यको (पहं) मार्गमें (णिंतो) लेजाता हुआ (अंधो) अंधा पुरुष, (दूरं) जहां जाना है वहांसे दूर तक (अद्धाणुगच्छइ) मार्गमें चला जाता है । (जंतू) तथा वह प्राणी (उप्पहं) उत्पथको (आवज्जे) प्राप्त करता है (अदुवा) अथवा (पंथाणुगामिए) अन्यमार्गमें चला जाता है ।

भावार्थ—जैसे स्वयं अँधा मनुष्य, मार्गमें दूसरे अन्धेको लेजाता हुआ जहां जाना है वहां से दूर देश चला जाता है अथवा उत्पथको प्राप्त करता है अथवा अन्यमार्गमें चला जाता है।

टीका—अस्मिन्नेवार्थे दृष्टान्तान्तरमाह—

यथाऽन्धः स्वयमपरमन्धं पथानं नयन् दूरमध्वानं विवक्षिताद्ध्वनः परतरं गच्छति, तथोत्पथमापद्यते जन्तुरन्धः। अथवा परं पन्थानमनुगच्छेत्, न विवक्षितमेवाध्वानमनुयायादिति ॥१९॥

टीकार्थ—इसी विषयमें शास्त्रकार दूसरा दृष्टान्त देते हैं।

जैसे स्वयं अंध मनुष्य, दूसरे अन्धेको मार्गमें लेजाता हुआ जिस मार्गसे जाना है उससे भिन्न दूर मार्गमें चला जाता है तथा उत्पथको प्राप्त करता है अथवा अन्यमार्गमें चलजाता है परंतु जिस मार्गसे जाना है उसीसे नहीं जाता है।
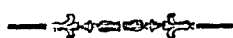
एवमेगे णियायट्ठी, धम्ममाराहगा वयं।
अदुवा अहम्ममावज्जे ण ते सव्वज्जुयं वए ॥२०॥

छाया—एवमेके नियागार्थिनो धर्माराधकाः वयम्।
अथवाऽधर्ममापद्येरन् न ते सर्वर्जुकं व्रजेयुः ॥

व्याकरण—(एवं) अव्यय (एगे) कर्ताका विशेषण। (नियायट्ठी) कर्ताका विशेषण। (धम्मं) कर्म (आराहगा) (वयं) कर्ताके विशेषण (अदुवा) अव्यय (अहम्मं) कर्म (आवज्जे) क्रिया (ण) अव्यय (ते) कर्ताका विशेषण (सव्वज्जुयं) कर्म (वए) क्रिया।

अन्वयार्थ—(एवं) इसप्रकार (एगे) कोई (नियायट्ठी) मोक्षार्थी कहते हैं कि—(वयं) हम (धम्ममाराहगा) धर्मके आराधक हैं (अदुवा) परन्तु वे (अधम्ममावज्जे) अधर्मको प्राप्त करते हैं (सव्वज्जुयं) सब प्रकारसे सरल मार्गको (ण ते वए) वे नहीं प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—इस प्रकार कोई मोक्षार्थी कहते हैं कि—हम धर्मके आराधक हैं परन्तु धर्मकी आराधना तो दूर रहे वे अधर्मको ही प्राप्त करते हैं। वे, सब प्रकारसे सरल मार्ग संयमको प्राप्त नहीं करते हैं।

टीका—एवं दृष्टान्तं प्रसाध्य दार्ष्टान्तिकमर्थं दर्शयितुमाह—

एवमिति पूर्वोक्तार्थोपप्रदर्शने, एवं भावमूढाः भावान्धाश्चैके आजीविकादयः णियायट्ठी'त्ति नियागो मोक्षः सद्धर्मो वा तदर्थिनः। ते किल वयं सद्धर्माराधका इत्येवं सन्धाय प्रव्रज्याया मुद्यताः सन्तः पृथिव्यम्बुवनस्पत्यादिकायोपमर्देन पचनपाचनादिक्रियासु प्रवृत्ताः सन्तस्तत्स्वयमनुतिष्ठन्ति अन्येषाञ्चोपदिशन्ति येनाऽभिप्रेतायाः मोक्षावाप्तेर्भ्रश्यन्ति। अथवाऽस्तां तावद् मोक्षाभावः, त एवं प्रवर्तमाना अधर्मं पापमापद्येरन् सम्भावनायामुत्पन्नेन लिङ्प्रत्ययेनैतद्दर्शयति एतदपरं तेपामनर्थान्तरं सम्भाव्यते यदुत विवक्षितार्थाभावतया विपरीतार्थावाप्तेः पापोपादानमिति अपि च त एवमसदनुष्ठायिन आजीविकादयो गोशालकमतानुसारिणोऽज्ञानवादप्रवृत्ताः सर्वैः प्रकारैर्ऋजुः—प्रगुणो विवक्षितमोक्षगमनम्प्रत्यकुटिलः सर्वर्जुः-संयमः सद्धर्मो वा तं सर्वर्जुकं ते न व्रजेयुः न प्राप्नुयुरित्युक्तम्भवति। यदि वा-सर्वर्जुकं सत्यं तत्तेऽज्ञानान्धाः ज्ञानापलापिनो न वदेयुरिति एते चाज्ञानिकाः सप्तषष्टिभेदा भवन्ति, ते च भेदा अमुनोपायेन प्रदर्शनीयाः,

---

टीकार्थ—इस प्रकार दृष्टान्त बताकर शास्त्रकार अब दार्ष्टान्त बतानेके लिए कहते हैं।

इस गाथामें 'एवं' शब्द पूर्वोक्त अर्थको प्रदर्शित करनेके लिए है। पूर्वोक्त प्रकारसे जो भावमूढ़ और भावान्ध आजीविक आदि हैं वे, नियाग यानी मोक्ष अथवा सद्धर्मको प्राप्त करने की इच्छा करते हैं और वे "हम उत्तम धर्मके आराधक हैं" यह मानकर प्रव्रज्या धारण करते हैं। वे प्रव्रजित होकर भी पृथिवी जल और वनस्पतिकायों का विनाशपूर्वक पचन पाचन आदि क्रियामें प्रवृत्त होकर स्वयं ऐसे कार्य्यका अनुष्ठान करते हैं और दूसरेको भी उपदेश करते हैं जिससे वे इष्ट मोक्षकी प्राप्तिसे भ्रष्ट हो जाते हैं। अथवा मोक्षकी प्राप्ति न होना तो दूर रहे, वे इस प्रकार प्रवृत्ति करते हुए अधर्म—पापको ही प्राप्त करते हैं। इस गाथामें 'आवज्जे' इस पदमें सम्भावना अर्थमें लिङ् लकार हुआ है, इसके द्वारा शास्त्रकार यह दिखलाते हैं कि उन आजीविकमतवालोंको यह दूसरा अनर्थ भी सम्भव है कि वे इष्ट अर्थको न पाकर उससे विपरीत पापरूप अनर्थको प्राप्त करते हैं। इस प्रकार असत् कर्मका अनुष्ठान करनेवाले, अज्ञानको कल्याणका कारण बतानेवाले गोशालकमतानुयायी आजीविक आदि, जो संयममार्ग अथवा सद्धर्म, मोक्षप्राप्तिके लिए सब प्रकारसे सरल है उसको प्राप्त नहीं करते हैं। अथवा अज्ञानान्ध तथा ज्ञानको मिथ्या बताने-

तद्यथा–जीवादयो नव पदार्थाः सत् असत् सदसत् अवक्तव्यः सदवक्तव्यः असदवक्तव्यः सदसदवक्तव्य इत्येतैः सप्तभिः प्रकारै र्विज्ञातुं न शक्यन्ते, न च विज्ञातैः प्रयोजनमस्ति, भावना चेयम्—सन् जीव इति को वेत्ति ? किं वा तेन ज्ञातेन ? असन् जीव इति को वेत्ति ? किं वा तेन ज्ञातेनेत्यादि। एवमजीवादिष्वपि प्रत्येकं सप्त विकल्पाः, नव सप्तकास्त्रिषष्टिः। अमीचान्ये चत्वार स्त्रिषष्टिमध्ये प्रक्षिप्यन्ते, तद्यथा—सती भावोत्पत्तिरिति को जानाति ? किंवाऽनया ज्ञातया ? एवमसती सदसत्यवक्तव्या भावोत्पत्तिरिति को जानाति ? किंवाऽनया ज्ञातयेति। शेषविकल्पत्रयन्तूत्पत्त्युत्तरकालं पदार्थावयवापेक्षमतोऽत्र न सम्भवतीति नोक्तम्। एतच्चतुष्टयप्रक्षेपात्सप्तषष्टिर्भवति। तत्र सन् जीव इति को वेत्तीत्यस्यायमर्थो-

---

वाले वे अन्यदर्शनी, मोक्ष प्राप्तिके लिए सबसे सरल मार्ग जो सत्य है उसे वे नहीं बोलते हैं। पूर्वोक्त अज्ञानवादी जिस अज्ञानको कल्याणका कारण बतलाते हैं उसके ६७ भेद होते हैं। उन भेदोंको इस उपायसे जानना चाहिए। जैसे कि सत्, असत्, सदसत्, अवक्तव्य, सदवक्तव्य, असदवक्तव्य, सदसदवक्तव्य इन सात प्रकारोंसे जीव आदि पदार्थ नहीं जाने जा सकते हैं और उनको जाननेसे भी कोई प्रयोजन नहीं है। इसका संचार इस प्रकार करना चाहिए—जीव सत् है यह कौन जानता है और यह जानने से भी क्या फल है ? तथा जीव, असत् है यह कौन जानता है और यह जाननेसे भी क्या प्रयोजन है ? इस प्रकार सदसत् आदि भेदोंका भी जीवमें संचार करना चाहिए। इसी तरह अजीव आदि पदार्थोंमें भी प्रत्येकके सात विकल्प कहने चाहिये अतः नव सप्तक मिलकर अज्ञानके ६३ भेद होते हैं। इन ६३ भेदोंमें दूसरे ये चार और भी भेद मिलाये जाते हैं, जैसे कि—"(१) भावकी उत्पत्ति सत् होती है यह कौन जानता है अथवा यह जाननेसे भी क्या फल है ? (२) तथा भाव की उत्पत्ति असत् होती है यह कौन जानता है अथवा यह जाननेसे भी क्या प्रयोजन है ? (३) तथा भावकी उत्पत्ति सदसत् होती है यह कौन जानता है ? और यह जाननेसे भी क्या फल है ? (४) एवं भावकी उत्पत्ति अवक्तव्य होती है यह कौन जानता है और यह जाननेसे भी क्या फल है ?" पूर्वोक्त सात विकल्पोंमेंसे चार विकल्पतो भावोत्पत्तिके विषयमें कहे गए हैं परन्तु शेष तीन विकल्प नहीं कहे गए हैं क्योंकि शेष तीन विकल्प, पदार्थकी उत्पत्ति होनेके पश्चात् उस पदार्थके अवयवकी अपक्षासे होते हैं इसलिए भावोत्पत्तिके विषयमें वे सम्भव नहीं हैं। उक्त सात विकल्पोंमें जो पहला विकल्प है कि "जीव सत् है यह कौन जानता है" इसका अर्थ यह है कि किसी भी

न कस्यचिद्विशिष्टं ज्ञानमस्ति योऽतीन्द्रियान् जीवादीनवभोत्स्यते न च तै र्ज्ञातैः किञ्चित्फलमस्ति, तथाहि—यदि नित्यः सर्वगतोऽमूर्त्तो ज्ञानादिगुणोपेत एतद्गुणव्यतिरिक्तो वा ततः कतमस्य पुरुषार्थस्य सिद्धिरिति ? तस्मादज्ञानमेवश्रेय इति ॥२०॥

जीवको ऐसा विशिष्ट ज्ञान नहीं है जो वह अतीन्द्रिय जीव आदि पदार्थोंको जान सकता है तथा उनको जाननेसे भी कोई प्रयोजन नहीं है क्योंकि जीव, चाहे नित्य, सर्वगत, अमूर्त्त और ज्ञानादिगुणयुक्त हो अथवा इससे विपरीत हो, उससे किसी भी प्रयोजनकी सिद्धि नहीं हो सकती है अतः अज्ञान ही श्रेयस्कर है ॥२०॥
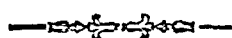
एव मेगे वियक्काहिं, नो अन्नं पज्जुवासिया ।
अप्पणो य वियक्काहिं, अयमंजूहिं दुम्मई ॥२१॥

छाया—एवमेके वितर्काभि र्नाऽन्यं पर्य्युपासते ।
आत्मनश्च वितर्काभिरयमृजुर्हि दुर्मतयः ॥

व्याकरण—(एवं) अव्यय (एगे दुम्मई) कर्ताके विशेषण (वियक्काहिं) हेतुतृतीयान्त (नो) अव्यय (अन्नं) कर्म (पज्जुवासिया) क्रिया । (अप्पणो) सम्बन्धषष्ठ्यन्त (य) अव्यय (वियक्काहिं) हेतुतृतीयान्त । (अयमंजूहि) अज्ञानवादका विशेषण ।

अन्वयार्थ—(एगे दुम्मई) कोई दुर्बुद्धि, (एवं) इस प्रकारके (वियक्काहिं) वितर्कके कारण (नो अन्नं पज्जुवासिया) दूसरे अर्थात् ज्ञानवादीकी सेवा नहीं करते हैं । (अप्पणो य) वे अपने (वियक्काहिं) वितर्कके कारण (अयमंजूहि) यह अज्ञानवाद ही यथार्थ है यह मानते हैं ।

भावार्थ—कोई दुर्बुद्धि जीव, पूर्वोक्त विकल्पोंके कारण ज्ञानवादीकी सेवा नहीं करते हैं, वे उक्त विकल्पोंके कारण "यह अज्ञानवाद ही सरल मार्ग है" । यह मानते हैं ।

टीका—पुनरपि तद्दूषणाभिधित्सयाऽऽह—
एवमनन्तरोक्तया नीत्या एके-केचनाज्ञानिकाः वितर्काभिः मीमांसाभिः

टीकार्थ—फिर भी शास्त्रकार अज्ञानवादियोंके मतमें दोष बतानेके लिए कहते हैं—

इसप्रकार—पूर्वोक्त नीतिसे कोई अज्ञानी अपने आप कल्पना की

स्वोत्प्रेक्षिताभिरसत्कल्पनाभिः परमन्यमार्हतादिकं ज्ञानवादिनं न पर्य्युपासते न सेवन्ते स्वावलेपग्रहग्रस्ताः वयमेव तत्त्वज्ञानाभिज्ञाः नापरः कश्चिदित्येवं नाऽन्यं पर्य्युपासत इति। तथाऽत्मीयैर्वितर्कैरेवमभ्युपगतवन्तो—यथा अयमेव अस्मदीयोऽज्ञानमेव श्रेय इत्येवमात्मको मार्गः अञ्जूरिति निर्दोषत्वाद्व्यक्तः-स्पष्टः परैस्तिरस्कर्तुमशक्यः ऋजुर्वा—प्रगुणोऽकुटिलः यथावस्थितार्थाभिधायित्वात् किमिति (ते) एवमभिदधति ? हि यस्मादर्थे यस्मात्ते दुर्मतयो विपर्य्यस्तबुद्धय इत्यर्थः ॥ २१ ॥

हुई असत्कल्पनाओंके कारण दूसरे किसी ज्ञानवादी आर्हत आदिकी सेवा नहीं करते हैं। वे अपने अभिमानरूप ग्रहसे ग्रास किए हुए "हम ही तत्वज्ञानी हैं दूसरा कोई भी नहीं है" यह समझकर दूसरेकी सेवा नहीं करते हैं। तथा वे अपने वितर्क (कल्पना) के कारण यह मानते हैं कि—"यह हमारा अज्ञानमार्ग ही कल्याणका मार्ग है तथा यह दोषवर्जित और दूसरे मतवादियोंसे खण्डन करने योग्य नहीं है। तथा यह अज्ञानमार्ग ही उत्तमगुणयुक्त और सत्य है क्योंकि यह यथावस्थित अर्थको बतलाता है।" वे अज्ञानवादी ऐसा क्यों कहते हैं ? समाधान यह है कि—वे दुर्मति यानी विपरीतबुद्धि हैं ॥२१॥

एवं तक्काइ साहिंता धम्माधम्मे अकोविया।
दुक्खं ते नाइतुट्टंति सउणी पंजरं जहा ॥२२॥

छाया—एवं तर्कैः साधयन्तः धर्माधर्मयोरकोविदाः।
दुःखन्ते नातित्रोटयन्ति शकुनिः पञ्जरं यथा ॥

व्याकरण—(एवं) अव्यय (तक्काइ) करण (साहिंता) अज्ञानवादीका विशेषण (धम्माधम्मे अकोविया) अज्ञानवादीका विशेषण (ते) अज्ञानवादीका विशेषण सर्वनाम। (दुक्खं) कर्म (न) अव्यय (अइतुट्टंति) क्रिया (जहा) उपमावाचक अव्यय (सउणी) उपमान कर्ता (पंजरं) कर्म।

अन्वयार्थ—(एवं) इसप्रकार (तक्काइ) तर्कके द्वारा (साहिंता) अपने मतको मोक्षप्रद सिद्ध करते हुए (धम्माधम्मे अकोविया) धर्म तथा अधर्मको न जाननेवाले (ते) वे अज्ञानवादी, (दुक्खं) दुःखको (नाइतुट्टंति) अत्यन्त नहीं तोड़ सकते हैं। (जहा) जैसे (सउणी) पक्षी (पंजरं) पींजड़ेको नहीं तोड़ सकता है।

भावार्थ—पूर्वोक्त प्रकारसे अपने मतको मोक्षप्रद सिद्ध करते हुए, धर्म तथा

अधर्मको न जाननेवाले अज्ञानवादी, कर्मबन्धनको नहीं तोड़ सकते हैं जैसे पक्षी पींजड़ेको नहीं तोड़ सकता है।

टीका—साम्प्रतमज्ञानवादिनां ज्ञानवादी स्पष्टमेवानर्थाभिधित्सयाऽऽह—

एवं पूर्वोक्तन्यायेन तर्कया स्वकीयविकल्पनया साधयन्तः प्रतिपादयन्तो धर्मे क्षान्त्यादिकेऽधर्मे च जीवोपमर्दापादिते अकोविदा अनिपुणाः दुःखमसातोदयलक्षणं तद्धेतुं वा मिथ्यात्वाद्युपचितकर्मबन्धनं नातित्रोटयन्ति। अतिशयेनैतद्व्यवस्थितं तथा ते न त्रोटयन्ति-अपनयन्तीति। अत्र दृष्टान्तमाह—यथा पञ्जरस्थः शकुनिः पञ्जरं त्रोटयितुं पञ्जरबन्धनादात्मानं मोचयितुं नालमेवमसावपि संसारपञ्जरादात्मानं मोचयितुं नालमिति ॥२२॥

टीकार्थ—अब ज्ञानवादी, अज्ञानवादीका स्पष्टरूपसे अनर्थ बतानेके लिये कहता है।

टीकार्थ—पूर्वोक्त न्यायसे अपनी कल्पनाके द्वारा अपने मतको मोक्षप्रद सिद्ध करते हुए, तथा क्षान्ति आदि धर्म और जीवोंके घातसे उत्पन्न पापको जाननेमें अनिपुण वे अज्ञानवादी मिथ्यात्व आदिके द्वारा उत्पन्न कर्मबन्धनको नहीं तोड़ सकते हैं यह अत्यन्त निश्चित है। इस विषयमें शास्त्रकार दृष्टान्त बतलाते हैं—जैसे पींजड़ामें रहनेवाला पक्षी पींजड़ेको तोड़कर उससे अपनेको मुक्त करनेमें समर्थ नहीं है इसी तरह वह अज्ञानवादी संसाररूपी पींजड़ेसे अपनेको मुक्त करनेमें समर्थ नहीं है ॥ २२ ॥
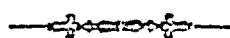
सयं सयं पसंसंता गरहंता परं वयं।
जे उ तत्थ विउस्संति संसारं ते विउस्सिया ॥२३॥

छाया—स्वकं स्वकं प्रशंसन्तो गर्हयन्तः परं वचः।
ये तु तत्र विद्वस्यन्ते संसारन्ते व्युच्छ्रिताः ॥

व्याकरण—(सयं सयं) कर्म (पसंसंता) कर्त्ताका विशेषण। (गरहंता) कर्त्ताका विशेषण। (परं वयं) गर्हण क्रियाका कर्म (जे) कर्त्ताका बोधक सर्वनाम (उ) अव्यय (संसारं) कर्म (विउस्सिया) कर्त्ताका विशेषण (ते) कर्त्ताका बोधक सर्वनाम।

अन्वयार्थ—(सयं सयं) अपने अपने मतकी (पसंसंता) प्रशंसा करते हुए (परं और दूसरेके वचनकी (गरहंता) निन्दा करते हुए (जे उ) जो लोग (तत्थ)

इस विषयमें (विउस्संति) अपना पाण्डित्य प्रकट करते हैं (ते) वे (संसारं) संसारमें (विउस्सिया) अतिदृढ़रूपसे बँधे हुए हैं ।

भावार्थ—अपने अपने मतकी प्रशंसा और दूसरोंके वचनकी निन्दा करनेवाले जो अन्यतीर्थी अपने मतकी स्थापना और परमतके खण्डन करनेमें विद्वत्ता दिखाते हैं वे संसारमें दृढ़ रूपसे बँधे हुए हैं ।

टीका—अधुना सामान्येनैकान्तवादिमतदूषणार्थमाह—

स्वकं स्वकमात्मीयमात्मीयं दर्शनमभ्युपगतं प्रशंसन्तो वर्णयन्तः समर्थयन्तो वा, तथा गर्हमाणाः निन्दन्तः परकीयां वाचं, तथा हि—साङ्ख्याः सर्वस्याविर्भावतिरोभाववादिनः सर्वं वस्तु क्षणिकं निरन्वयविनश्वरं चेत्येवंवादिनो बौद्धान् दूषयन्ति तेऽपि नित्यस्य क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरहात् साङ्ख्यान्, एव मन्येऽपि द्रष्टव्या इति । तदेवं 'ये' एकान्तवादिनः तुरवधारणे भिन्नक्रमश्च, तत्रैव तेष्वेवाऽत्मीयात्मीयेषु दर्शनेषु प्रशंसां कुर्वाणाः परवाचश्च विगर्हमाणाः विद्वस्यन्ते विद्वांस इवाऽऽचरन्ति तेषु वा विशेषेणोशन्ति—स्वशास्त्रविषये विशिष्टं युक्तिव्रातं वदन्ति, ते चैवं वादिनः संसारं चतुर्गतिभेदेन संसृतिरूपं विविधम् अनेकप्रकारम् उत् प्राबल्येन श्रिताः सम्बद्धाः, तत्र वा संसारे उषिताः संसारान्तर्वर्तिनः सर्वदा भवन्तीत्यर्थः ॥ २३ ॥

टीकार्थ—अब सूत्रकार सामान्यरूपसे सभी एकान्तवादियोंके मतको दूषित करनेके लिए कहते हैं—

अपने अपने मतकी प्रशंसा करते हुए अन्यदर्शनी गण, दूसरे दार्शनिकोंके वचनकी निन्दा करते हैं । जैसे समस्त पदार्थोंका आविर्भाव और तिरोभाव माननेवाले साङ्ख्यवादी, "सब पदार्थ क्षणिक हैं और निरन्वय विनाशी हैं" ऐसा कहनेवाले बौद्धोंकी निन्दा करते हैं, तथा बौद्ध भी "नित्यपदार्थ नतो क्रमशः अर्थक्रिया कर सकता है और न युगपत् कर सकता है" इत्यादि दोष देकर साङ्ख्यवादियोंकी निन्दा करते हैं । इसी तरह दूसरे दार्शनिकोंको भी जानना चाहिए । यहाँ 'तु' शब्द अवधारणार्थक और भिन्नक्रम है इसलिए अपने अपने दर्शनोंकी प्रशंसा और दूसरोंके वचनोंकी निन्दा करते हुए जो एकान्तवादी विद्वान्के समान आचरण करते हैं अथवा अपने शास्त्रके पक्षमें विशिष्ट युक्तियाँ बतलाते हैं, वे ऐसा कहनेवाले अन्यदर्शनी, चारगतिवाले इस संसारमें अनेक प्रकारसे अतिदृढ़ रूपसे बँधे हैं । अथवा वे इस संसारमें सदा निवास करते हैं यह इस गाथाका अर्थ है ॥ २३ ॥

अहावरं पुरक्खायं किरियावाइदरिसणं ।
कम्मचिंतापणट्ठाणं संसारस्स पवड्ढणं ॥ २४ ॥

छाया—अथाऽपरं पुराऽऽख्यातं क्रियावादिदर्शनम् ।
कर्मचिन्ताप्रनष्टानां संसारस्य प्रवर्धनम् ॥

व्याकरण—(अह) अव्यय (अवरं) (पुरक्खायं) (संसारस्स पवड्ढणं) ये क्रियावादिदर्शनके विशेषण हैं । (किरियावाइदरिसणं) कर्ता (कम्मचिंतापणट्ठाणं) सम्बन्धषष्ठ्यन्तपद । (संसारस्स) सम्बन्धषष्ठ्यन्तपद (पवड्ढणं) दर्शनका विशेषण ।

अन्वयार्थ—(अह) इसके पश्चात् (अवरं) दूसरा (पुरक्खायं) पूर्वोक्त (किरिया-वाइदरिसणं) क्रियावादियोंका दर्शन है । (कम्मचिंतापणट्ठाणं) कर्मकी चिन्तासे रहित उन क्रियावादियोंका दर्शन, (संसारस्स पवड्ढणं) संसारको बढ़ाने वाला है ।

भावार्थ—अब, दूसरा दर्शन, क्रियावादियोंका है । कर्मकी चिन्तासे रहित उन क्रियावादियोंका दर्शन संसारको ही बढ़ानेवाला है ।

साम्प्रतं यदुक्तं निर्युक्तिकारेणोद्देशकार्थाधिकारे कर्म चयं न गच्छति चतुर्विधं भिक्षुसमय इति तदधिकृत्याह—

अथेत्यानन्तर्य्ये, अज्ञानवादिमतानन्तरमिदमन्यत् पुरा पूर्वमाख्यातं कथितम्, किं पुनस्तदित्याह—क्रियावादिदर्शनम्, क्रियैव चैत्यकर्मादिका प्रधानं मोक्षाङ्गमित्येवं वदितुं शीलं येषां ते क्रियावादिन स्तेषां दर्शनम् आगमः क्रियावादिदर्शनम्, किं भूतास्ते क्रियावादिन इत्याह—कर्मणि ज्ञानावरणादिके चिन्ता पर्य्यालोचनं कर्मचिन्ता तस्याः, प्रणष्टा–अपगताः कर्मचिन्ताप्रणष्टाः यतस्तेऽविज्ञानाद्युपचितं चतुर्विधं कर्मबन्धं नेच्छन्ति

निर्युक्तिकारने उद्देशकके अर्थाधिकारमें जो यह कहा है कि "चार प्रकारके कर्म बन्धनदाता नहीं होते हैं यह भिक्षुओंका सिद्धान्त है" अब इसी विषयको लेकर सूत्रकार कहते हैं—अथ शब्द आनन्तर्य्य अर्थमें आया है । अज्ञानवादियोंके मतके पश्चात् यह दूसरा पूर्वोक्त क्रियावादियोंका दर्शन है । जो लोग चैत्य कर्म आदि क्रियाको प्रधान रूपसे मोक्षका अङ्ग बतलाते हैं उनके दर्शनको 'क्रियावादिदर्शन' कहते हैं । वे क्रियावादी कैसे हैं ? यह कहते हैं—ज्ञानावरणीय आदि कर्मकी चिन्ता यानी विचार करना 'कर्मचिन्ता' कहलाती है उससे जो रहित हैं वे कर्मचिन्ता प्रणष्ट कहलाते हैं । बौद्धभिक्षु, अज्ञान आदिसे किए हुए चार प्रकारके कर्मोंको बन्धन दाता नहीं मानते हैं इसलिए वे कर्मकी चिन्तासे रहित हैं । उनका यह दर्शन,

अतः कर्मचिन्ताप्रणष्टाः, तेषाञ्चेदं दर्शनम् दुःखस्कन्धस्य असातोदयपरम्परायाः विवर्धनम्भवति। क्वचित्संसारवर्धनमिति पाठः तेह्येवं प्रतिपद्यमानाः संसारस्य वृद्धिमेव कुर्वन्ति नोच्छेदमिति ॥२४॥

दुःखस्कन्ध यानी असातोदयरूप दुःखपरम्पराको बढ़ानेवाला है। कहीं कहीं "संसारवर्धनम्" यह पाठ है। इसका अर्थ यह है कि—चार प्रकारका कर्म बन्धन दाता नहीं होता है यह माननेवाले वे भिक्षु, संसारकी वृद्धि ही करते हैं उच्छेद नहीं करते हैं ॥२४॥

जाणं काएणऽणाउट्टी, अबुहो जं च हिंसति।
पुट्ठो संवेदइ परं, अवियत्तं खु सावज्जं ॥२५॥

छाया—जानन् कायेनानाकुट्टी, अबुधो यं च हिनस्ति।
स्पृष्टः संवेदयति पर मव्यक्तं खलु सावद्यम् ॥

व्याकरण—(जाणं) कर्ताका विशेषण (काएण) करण (अणाकुट्टी) कर्ताका विशेषण। (अबुहो) कर्ताका विशेषण (जं) कर्म (च) अव्यय (हिंसति) क्रिया (पुट्ठो) कर्ताका विशेषण (संवेदइ) क्रिया (परं) क्रियाविशेषण (अवियत्तं) (सावज्जं) कर्मके विशेषण। (खु) अव्यय।

अन्वयार्थ—(जाणं) जो पुरुष, जानता हुआ मनसे हिंसा करता है (काएणऽणाकुट्टी) परन्तु शरीरसे नहीं करता है (य) और (अबुहो) नहीं जानता हुआ (जं हिंसइ) जो पुरुष शरीरसे हिंसा करता है (परं पुट्ठो संवेदइ) वह केवल स्पर्शमात्र उसका फल भोगता है (खु) निश्चय (सावज्जं) वह सावद्य कर्म (अवियत्तं) व्यक्त—स्पष्ट नहीं है।

भावार्थ—जो पुरुष क्रोधित होकर किसी प्राणीकी मनसे हिंसा करता है परन्तु शरीरसे नहीं करता है तथा जो शरीरसे हिंसा करता हुआ भी मनसे हिंसा नहीं करता है वह केवल स्पर्शमात्र कर्मबन्धको अनुभव करता है क्योंकि उक्त दोनों प्रकारके कर्मबन्ध स्पष्ट नहीं होते हैं।

टीका—यथा ते कर्मचिन्तातो नष्टास्तथा दर्शयितुमाह—
यो हि जानन् अवगच्छन् प्राणिनो हिनस्ति, कायेन चानाकुट्टी

टीकार्थ—क्रियावादी, जिस प्रकार कर्मकी चिन्तासे रहित हैं सो बतानेके लिए सूत्रकार कहते हैं—

जो पुरुष, जानता हुआ प्राणीकी हिंसा करता है परन्तु शरीरसे अनाकुट्टी है

'कुट्ट छेदने' आकुट्टन माकुट्टः स विद्यते यस्यासावाकुट्टी नाकुट्यनाकुट्टी, इदमुक्तम्भवति—यो हि कोपादेर्निमित्तात् केवलं मनोव्यापारेण प्राणिनो व्यापादयति न च कायेन प्राण्यवयवानां छेदनभेदनादिके व्यापारे वर्तते न तस्यावद्यं तस्य कर्मोपचयो न भवतीत्यर्थः। तथा अबुधोऽजानानः कायव्यापारमात्रेण यश्च हिनस्ति प्राणिनं, तत्राऽपि मनोव्यापाराभावान्न कर्मोपचय इति। अनेन च श्लोकार्धेन यदुक्तं निर्युक्तिकृता यथा— "चतुर्विधं कर्म नोपचीयते भिक्षुसमय" इति, तत्र परिज्ञोपचितमविज्ञोपचिताख्यं भेदद्वयं साक्षादुपात्तं शेषन्त्वीर्य्यापथस्वप्नान्तिकभेदद्वयं च शब्देनोपात्तं तत्रेरणमीर्य्या-गमनं तत्संबद्धः पन्था ईर्य्यापथस्तत्प्रत्ययं कर्मेर्य्यापथम्-एतदुक्तम्भवति पथि गच्छतो यथाकथञ्चिदनभिसन्धेर्यत् प्राणिव्यापादनम्भवति तेन कर्मणश्चयो न भवति तथा स्वप्नान्तिकमिति— स्वप्नएव लोकोक्त्या स्वप्नान्तः स विद्यते यस्य तत्स्वप्नान्तिकं तदपि न कर्मबन्धाय, यथा स्वप्ने भुजिक्रियायां तृप्त्यभावस्तथा कर्मणोऽपीति,

---

अर्थात् शरीरसे जीवहिंसा नहीं करता है उसको कर्मबन्ध नहीं होता है। "कुट्ट" धातुका छेदन अर्थ है, वह छेदन जो करता है उसे आकुट्टी कहते हैं जो आकुट्टी नहीं है उसे 'अनाकुट्टी' कहते हैं। आशय यह है कि जो क्रोध आदि कारणवश केवल मनके व्यापारसे प्राणीकी हिंसा करता है परन्तु शरीरसे प्राणियोंके अङ्गोंका छेदन भेदन रूप व्यापार, नही करता है उसको अवद्य अर्थात् पापकर्मका उपचय नहीं होता है। तथा जो पुरुष, नहीं जानता हुआ केवल शरीरके व्यापारसे प्राणीकी हिंसा करता है उसमें भी मनका व्यापार नहीं होनेसे कर्मका उपचय नहीं होता है। निर्युक्तिकारने जो पहले यह कहा है कि—"चतुर्विध कर्म, उपचयको प्राप्त नहीं होता है यह भिक्षुओंका सिद्धान्त है" उसमें परिज्ञोपचित और अविज्ञोपचित ये दो भेद श्लोकके पूर्वार्धद्वारा साक्षात् गृहीत हैं और शेष ईर्य्यापथ और स्वप्नान्तिक ये दो भेद 'च' शब्दसे संगृहीत हैं। यहाँ गमनको 'ईर्य्या' कहते हैं और तत्सम्बन्धी मार्गको 'ईर्य्यापथ' कहते हैं। उस ईर्य्यापथके कारण जो कर्म होता है उसे 'ईर्य्यापथ' कहते हैं। आशय यह है कि—मार्ग जाते समय जो जाने विना प्राणीका घात हो जाता है उससे कर्मका उपचय नहीं होता है। तथा स्वप्नांतिक कर्म भी बन्धन दाता नहीं होता है लोकोक्तिके अनुसार स्वप्नकोही स्वप्नान्त कहते हैं, वह स्वप्नान्तकर्म जिसमें विद्यमान है उसे 'स्वप्नान्तिक' कहते हैं। वह स्वप्नान्तिक कर्म भी बन्धका कारण नहीं होता है। जैसे स्वप्नमें भोजन करनेपर भी तृप्ति नहीं होती है उसी तरह स्वप्नमें किए हुए

कथन्तर्हि तेषां कर्मोपचयो भवतीति ? उच्यते, यद्यसौ हन्यमानः प्राणी भवति हन्तुश्च यदि प्राणीत्येवं ज्ञानमुत्पद्यते तथैनं हन्मीत्येवं च यदि बुद्धिः प्रादुःष्याद् एतेषु च सत्सु यदि कायचेष्टा प्रवर्तते तस्यामपि यद्यसौ प्राणी व्यापाद्यते ततो हिंसा ततश्च कर्मोपचयो भवतीति, एषा मन्यतराभावेऽपि न हिंसा न च कर्मचयः। अत्र च पञ्चानां पदानां द्वात्रिंशद् भङ्गाः भवन्ति, तत्र प्रथमभङ्गे हिंसकोऽपरेष्वेकात्रिंशत्स्वहिंसकः तथा चोक्तम्—"प्राणी प्राणिज्ञानं घातकचित्तञ्च तद्गता चेष्टा। प्राणैश्च विप्रयोगः पञ्चभिरापाद्यते हिंसा" १। किमेकान्तेनैव परिज्ञोपचितादिना कर्मोपचयो न भवत्येव ? भवति काचिदव्यक्तमात्रेति दर्शयितुं श्लोकपश्चार्धमाह—'पुट्ठो'त्ति तेन केवलमनोव्यापाररूपपरिज्ञोपचितेन केवल कायक्रियोत्थेन वाऽविज्ञोपचितेनेर्यापथेन स्वप्नान्तिकेन च चतुर्विधेनाऽपि कर्मणा स्पृष्ट ईषच्छुप्तः संस्तत्कर्माऽसौ स्पर्शमात्रेणैव परमनुभवति न तस्याधिको विपाकोऽस्ति कुड्यापतितसिकतामुष्टिवत् स्पर्शानन्तरमेव परिशटती·

जीवघातसे भी कर्मबन्ध नहीं होता है। इन भिक्षुओंको किस प्रकार कर्मबन्ध होता है ? कहते हैं कि वह मारा जाता हुआ यदि प्राणी होता है और मारनेवालेको यदि यह प्राणी है" ऐसा ज्ञान होता है तथा मारनेवालेकी बुद्धि यह होती है कि "मैं इसे मारता हूँ" और इन सबके होते हुए यदि शरीरसे वह मारनेकी चेष्टा करता है तथा चेष्टा होनेपर भी यदि वह प्राणी मारदिया जाता है तब हिंसा होती है और तभी कर्मका भी उपचय होता है। पूर्वोक्त इन बातोंमेंसे किसी एकके भी न होनेपर न हिंसा होती है और न कर्मका ही उपचय होता है। यहाँ जो पाँच पद कहे गए हैं उनके ३२ भङ्ग होते हैं उनमें प्रथम भङ्गवाला पुरुष, हिंसक है शेष ३१ भङ्गोंमें हिंसा नहीं होती है। कहा भी है—प्राणी, प्राणीका ज्ञान, घातकका चित्त, घातककी क्रिया और प्राणवियोग इन पाँच बातोंसे हिंसा उत्पन्न होती है। क्या परिज्ञोपचित आदिके द्वारा एकान्त रूपसे कर्मका उपचय नहीं होता है ? कहते हैं कि उनसे कुछ अव्यक्त मात्रामें कर्मबन्ध होता है, यह दिखानेके लिए सूत्रकार श्लोकका उत्तरार्ध बताते हैं (पुट्ठोत्ति) केवलमनोव्यापार रूप परिज्ञोपचित कर्म, तथा केवल शरीरकी क्रियासे उत्पन्न अविज्ञोपचित कर्म, एवं ईर्य्यापथ तथा स्वप्नान्तिक कर्म इन चार प्रकारके कर्मोंसे थोड़ा स्पर्श पाया हुआ वह पुरुष तत्कर्मा होता है। वह स्पर्शमात्र उन कर्मोंका विपाक अनुभव करता है क्योंकि उनका विपाक अधिक नहीं होता है, जैसे दीवालपर मारी हुई बालुकी मुट्ठी स्पर्शके बादही बिखर जाती है

त्यर्थः। अतएव तस्य चयाभावोऽभिधीयते न पुनरत्यन्ताभाव इति। एवञ्च कृत्वा तद् अव्यक्तम् अपरिस्फुटं, खुरवधारणे अव्यक्तमेव स्पष्ट विपाकानुभवाभावात् तदेवमव्यक्तं सहावद्येन-गर्हेण वर्तते तत्परिज्ञोपचितादि कर्मेति ॥ २५ ॥

इसी तरह ये चतुर्विधकर्म स्पर्शके बाद ही नष्ट हो जाते हैं। इसीलिए उन कर्मोंके उपचयका अभाव कहते हैं परन्तु अभाव नहीं कहते हैं। इस प्रकार उक्त चतुर्विध कर्म, अव्यक्त हैं अर्थात् परिस्फुट नहीं हैं। यहाँ "खु" शब्द अवधारणार्थक है। इसलिए उक्त चतुर्विध कर्म अव्यक्त ही हैं क्योंकि उनका विपाक स्पष्ट अनुभव नहीं किया जाता है। अतः परिज्ञोपचित आदि कर्म, अव्यक्तरूपसे पापसहित हैं ॥२५॥
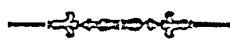
संति मे तउ आयाणा, जेहिं कीरइ पावगं।
अभिकम्माय पेसाय, मणसा अणुजाणिया ॥२६॥

छाया—सन्तीमानि त्रीण्यादानानि, यैः क्रियते पापकम्।
अभिक्रम्य च प्रेष्य च मनसाऽनुज्ञाय ॥

व्याकरण—(संति) क्रिया (इमे तउ आयाणा) कर्ता (जेहिं) करण (पावगं) कर्म (कीरइ) क्रिया (अभिकम्मा) पूर्वकालिकक्रिया (पेसा) पूर्वकालिकक्रिया (मणसा) करण (अणुजाणिया) पूर्वकालिक क्रिया।

अन्वयार्थ—(इमे) ये (तउ) तीन (आयाणा) कर्मबन्धके कारण (संति) हैं। (जेहिं) जिनसे (पावगं) पाप कर्म (कीरइ) किया जाता है (अभिकम्मा य) किसी प्राणीको मारनेके लिए आक्रमण करके (पेसाय) तथा प्राणीको मारनेके लिए नौकर आदिको भेजकर (मणसा अणुजाणिया) एवं मनसे अनुज्ञा देकर।

भावार्थ—ये तीन कर्मबन्धके कारण हैं जिनसे पापकर्म किया जाता है—किसी प्राणीको मारनेके लिए स्वयं उसपर आक्रमण करना तथा नौकर आदिको भेजकर प्राणीका घात कराना एवं प्राणीको घात करनेके लिए मनसे अनुज्ञा देना।

टीका—ननु च यद्यनन्तरोक्तं चतुर्विधं कर्म नोपचयं याति कथन्तर्हि कर्मोपचयो भवतीत्येतदाशङ्क्याह—

टीकार्थ—यदि पूर्वोक्त चतुर्विध कर्म उपचयको प्राप्त नहीं होता है तो कर्मका उपचय किस प्रकार होता है यह शङ्का करके उक्तमतवालोंकी ओरसे सूत्रकार कहते हैं—

सन्ति विद्यन्ते अमूनि त्रीणि आदीयते स्वीक्रियते अमीभिः कर्मेत्यादानानि, एतदेव दर्शयति यैरादानैः क्रियते विधीयते निष्पाद्यते पापकं कल्मषं, तानि चामूनि तद्यथा—अभिक्रम्येति आभिमुख्येन वध्यं प्राणिनं क्रान्त्वा—तद्घाताभिमुखं चित्तं विधाय यत्र स्वत एव प्राणिनं व्यापादयति तदेकं कर्मादानं अथाऽपरं च प्राणिघाताय प्रेष्यं समादिश्य यत्प्राणिव्यापादनं तद्द्वितीयं कर्मादानमिति, तथाऽपरं व्यापादयन्तं मनसाऽनुजानीत इत्येतत्तृतीयं कर्मादानं, परिज्ञोपचितादस्यायं भेदः—तत्र केवलं मनसा चिन्तनमिहत्वपरेण व्यापाद्यमाने प्राणिन्यनुमोदनमिति ॥ २६ ॥

टीकार्थ—ये तीन आदान हैं जिनके द्वारा कर्मबन्ध होता है उन्हें 'आदान' कहते हैं ? यही सूत्रकार दिखलाते हैं—जिन आदानोंके द्वारा पाप कर्म किए जाते हैं वे आदान ये हैं—(१) वध्य प्राणीको मारनेकी इच्छासे स्वयमेव उस प्राणीको मारना यह एक कर्मादान है (२) तथा प्रणीको मारने के लिए किसी नौकर आदिको भेजकर उस प्राणीका घात कराना यह दूसरा कर्मादान है। (३) तथा प्राणीका घात करते हुए पुरुषको मनसे अनुज्ञा देना यह तीसरा कर्मादान है। परिज्ञोपचित कर्मसे इसका भेद यह है—परिज्ञोपचित कर्ममें केवल मनसे चिन्तनमात्र होता है परन्तु इसमें दूसरे द्वारा मारे जाते हुए प्राणीके विषयमें उसके घातका अनुमोदन किया जाता है ॥ २६ ॥

एते उ तउ आयाणा जेहिं कीरइ पावगं ।
एवं भावविसोहीए, निव्वाणमभिगच्छइ ॥ २७ ॥

छाया—एतानि तु त्रीण्यादानानि यैः क्रियते पापकम् ।
एवं भावविशुद्ध्या तु निर्वाण मभिगच्छति ॥

व्याकरण—(एते) सर्वनाम, कर्ताका विशेषण । (उ) अव्यय (तउ) कर्ताका विशेषण (आयाणा) कर्ता । (जेहिं) करण (कीरइ) क्रिया (पावगं) कर्म (एवं) अव्यय (भावविसोहीए) करण (निव्वाणं) कर्म (अभिगच्छइ) क्रिया ।

अन्वयार्थ—(एते उ) ये (तउ) तीन (आयाणा) कर्मबन्धके कारण हैं । (जेहिं) जिनसे (पावगं) पापकर्म (कीरइ) किया जाता है । (एवं) इस प्रकार (भावविसोहीए) भावकी विशुद्धिसे (निव्वाणं) मोक्षको (अभिगच्छइ) प्राप्त करता है ।

भावार्थ—ये तीन कर्मबन्धके कारण हैं जिनसे पाप कर्म किया जाता है। जहाँ ये तीन नहीं हैं तथा जहाँ भावकी विशुद्धि है वहाँ कर्मबन्ध नहीं होता है अपितु मोक्षकी प्राप्ति होती है।

टीका—तदेवं यत्र स्वयं कृतकारितानुमतयः प्राणिघाते क्रियमाणे विद्यन्ते क्लिष्टाध्यवसायस्य प्राणातिपातश्च तत्रैव कर्मोपचयो नाऽन्यत्रेति दर्शयितुमाह—

तुरवधारणे, एतान्येव पूर्वोक्तानि त्रीणि व्यस्तानि समस्तानि वा आदानानि यैर्दुष्टाध्यवसायसव्यपेक्षैः पापकं कर्मोपचीयत इति। एवञ्च स्थिते यत्र कृतकारितानुमतयः प्राणिव्यपरोपणम्प्रति न विद्यन्ते तथा भावविशुद्ध्या अरक्तद्विष्टबुद्ध्या प्रवर्तमानस्य सत्यपि प्राणातिपाते केवलेन मनसा कायेन वा मनोऽभिसन्धिरहितेनोभयेन वा विशुद्धबुद्धेर्न कर्मोपचयः तदभावाच्च निर्वाणं सर्वद्वन्द्वोपरतिस्वभावम् अभिगच्छति आभिमुख्येन प्राप्नोतीति ॥२७॥

टीकार्थ—इस प्रकार जहाँ प्राणिघातके विषयमें स्वयं करना, कराना और अनुमोदन ये तीन होते हैं तथा क्लिष्ट अध्यवसायसे प्राणीका घात किया जाता है वहीं कर्मका उपचय होता है अन्यत्र नहीं होता यह दिखानेके लिए सूत्रकार कहते हैं—

यहाँ 'तु' शब्द अवधारणार्थक है अतः पूर्वोक्त ये ही तीन प्रत्येक तथा सम्पूर्ण, कर्मबन्धके कारण हैं। इन तीनोंमें अध्यवसाय दुष्ट रहता है इसलिए इनके द्वारा पाप कर्मका उपचय होता है। ऐसी स्थितिमें जहाँ प्राणीके घातके प्रति करना कराना और अनुमोदन ये तीन नहीं हैं, तथा रागद्वेष रहित बुद्धिसे जो प्रवृत्ति करता है, वहाँ केवल मनसे अथवा शरीरसे अथवा मानसिक अभिप्राय रहित दोनोंसे प्राणातिपात हो जानेपर भी भावविशुद्धिके कारण कर्मका उपचय नहीं होता है और कर्मका उपचय न होनेके कारण जीव सब झंझटोंसे रहित मोक्षको प्राप्त करता है ॥२७॥

पुत्तं पिया समारब्भ, आहारेज्ज असंजए।
भुंजमाणो य मेहावी, कम्मणा नोवलिप्पइ ॥२८॥

छाया—पुत्रं पिता समारभ्याहारयेदसंयतः।
भुञ्जानश्च मेधावी कर्मणा नोपलिप्यते।

व्याकरण—(पुत्तं) कर्म (पिया) कर्ता (समारब्भ) पूर्वकालिक क्रिया (आहारेज्ज) क्रिया (असंजए) कर्ताका विशेषण । (भुंजमाणो) कर्ताका विशेषण (मेहावी) कर्ताका विशेषण (कम्मणा) करण (न) अव्यय (उवलिप्पइ) क्रिया ।

अन्वयार्थ—(असंजए) संयमवर्जित (पिया) पिता (पुत्तं) पुत्रको (समारब्भ) मारकर (आहारेज्ज) खावे तो (भुंजमाणो य) खाता हुआ भी वह पिता (कम्मणा) कर्मसे (नोवलिप्पइ) उपलिप्त नहीं होता है (मेहावी) इसी तरह साधु भी कर्मसे उपलिप्त नहीं होता है ।

भावार्थ—जैसे विपत्तिके समय कोई गृहस्थ पिता अपने पुत्रको मारकर उसका माँस खाता है तो वह पुत्रका माँस खाकर भी कर्मसे उपलिप्त नहीं होता है इसी तरह राग द्वेष रहित साधु भी माँस खाता हुआ कर्मसे उपलिप्त नहीं होता है ।

भावशुद्ध्या प्रवर्तमानस्य कर्मबन्धो न भवतीत्यत्राऽर्थे दृष्टान्तमाह—

पुत्रमपत्यं पिता जनकः समारभ्य व्यापाद्य आहारार्थं कस्याश्चि-त्तथाविधायामापदि तदुद्धरणार्थमरक्तद्विष्टोऽसंयतो गृहस्थस्तत्पिशितं भुञ्जानोऽपि, च शब्दस्याऽपिशब्दार्थत्वादिति तथा मेधाव्यपि संयतोऽपीत्यर्थः तदेवं गृहस्थो भिक्षुर्वा शुद्धाशयः पिशिताश्यपि कर्मणा पापेन नोपलिप्यते नाश्लिष्यत इति । यथाचाऽत्र पितुः पुत्रं व्यापादयतस्तत्रारक्त-द्विष्टमनसः कर्मबन्धो न भवति तथाऽन्यस्याऽप्यरक्तद्विष्टान्तःकरणस्य प्राणिवधे सत्यपि न कर्मबन्धो भवतीति ॥ २८ ॥

टीकार्थ—भावशुद्धिसे प्रवृत्ति करनेवाले पुरुषको कर्मबन्ध नहीं होता है इस विषयमें शास्त्रकार अन्य दर्शनीकी ओर से कहते हैं—

जैसे राग द्वेष रहित कोई गृहस्थ पिता किसी बड़ी विपत्तिके समय उसके उद्धारार्थ आहारके लिए अपने पुत्रको मारकर उसका माँस खाता हुआ भी कर्म-बन्धको नहीं प्राप्त करता है क्योंकि पुत्रके ऊपर उसका द्वेष नहीं है इसी तरह साधु भी माँस खाता हुआ कर्मबन्धको प्राप्त नहीं होता है । यहाँ 'च' शब्द अपि शब्दके अर्थमें है । इस प्रकार चाहे गृहस्थ हो या साधु हो जिसका भाव शुद्ध होता है वह माँस खाता हुआ भी कर्म यानी पापसे लिप्त नहीं होता है । जैसे राग-द्वेष रहित पिताको पुत्रके घात करनेपर भी कर्मबन्ध नहीं होता है इसी तरह जिसका अन्तःकरण रागद्वेष रहित है उसके द्वारा प्राणीका घात होनेपर भी कर्मबन्ध नहीं होता है ॥२८॥

मणसा जे पउस्संति, चित्तं तेसिं ण विज्जइ ।
अणवज्जं मतहं तेसिं, ण ते संवुडचारिणो ॥ २६ ॥

छाया—मनसा ये प्रद्विषन्ति चित्तं तेषां न विद्यते ।
अनवद्य मतथ्यं तेषान्नते संवृतचारिणः ॥

व्याकरण—(मणसा) करण (जे) कर्त्ता (पउस्संति) क्रिया (चित्तं) कर्त्ता (तेसिं) सम्बन्धषष्ठ्यन्त । (ण) अव्यय (विज्जइ) क्रिया (अणवज्जं) अस्ति क्रियाका कर्त्ता (अतहं) अनवद्यका विशेषण । (तेसिं) सम्बन्धषष्ठ्यन्तपद । (ते) सर्वनाम, अन्यतीर्थीका विशेषण । (संवुडचारिणो) परतीर्थीका विशेषण ।

अन्वयार्थ—(जे) लोग (मनसा) मनसे (पउस्सति) किसी प्राणीपर द्वेष करते हैं (तेसिं) उनका (चित्तं) चित्त (ण विज्जइ) निर्मल नहीं है । (तेसिं अणवज्जमतहं) तथा उनको कर्मका उपचय न होना भी मिथ्या है । (ते ण संवुडचारिणो) तथा वे संवरके साथ विचरने वाले नहीं हैं ।

भावार्थ—जो, मनसे प्राणियोंपर द्वेष करते हैं उनका चित्त निर्मल नहीं है तथा मनसे द्वेष करनेपर पाप नहीं होता है यह उनका कथन भी मिथ्या है अतः वे संयमके साथ विचारनेवाले नहीं हैं ।

टीका—साम्प्रतमेतद्दूषणायाह—

येहि कुतश्चिन्निमित्तात् मनसा अन्तःकरणेन प्राद्वुष्यन्ति प्रद्वेष मुपयान्ति तेषां वधपरिणतातां शुद्धं चित्तं न विद्यते तदेवं यत्तैरभिहितं— यथा केवलमनः प्रद्वेषेऽपि अनवद्यं कर्मोपचयाभावइति तत् तेषाम् अतथ्य- मसदर्थाभिधायित्वं यतो न ते संवृतचारिणो मनसोऽशुद्धत्वात्, तथाहि— कर्मोपचये कर्तव्ये मन एव प्रधानं कारणं, यतस्तैरपि मनोरहितकेवल

टीकार्थ—अब इस मतको दूषित करनेके लिए शास्त्रकार कहते हैं ।

जो मनुष्य, किसी कारण वश मनसे प्राणी पर द्वेष करते हैं, उनका परिणाम प्राणीको वध करनेका है अतः उनका चित्त निर्मल नहीं है । तथा वे जो यह कहते हैं कि—"केवल मनके द्वारा द्वेप करने पर भी कर्मका उपचय नहीं होता है" यह उनका कथन मिथ्या है । इस कारण वे संयमका आचरण करनेवाले नहीं हैं क्योंकि उनका मन अशुद्ध है । वस्तुतः कर्मके उपचय करनेमें प्रधान कारण मनही है अतएव उक्त वादियोंने भी मनोव्यापाररहित केवल शरीरके व्यापारसे कर्मका उपचय न होना बताया है अतः जो जिसके होनेपर होता है और न होने पर नहीं होता है

कायव्यापारे कर्मोपचयाऽभावोऽभिहितः, ततश्च यत् यस्मिन् सति भवत्यसति तु न भवति तत्तस्य प्रधानं कारण मिति। ननु तस्याऽपि कायचेष्टारहितस्याकारणत्व मुक्तं, सत्यमुक्त मयुक्तन्तूक्तं यतो भवतैव "एवं भावविरुद्ध्या निर्वाणमभिगच्छती'ति भणता मनस एवैकस्य प्राधान्य मभ्यधायि तथाऽन्यदप्यभिहितम्।"

"चित्तमेव हि संसारो रागादिक्लेशवासितम्।
तदेव तैर्विनिर्मुक्तं भवान्त इति कथ्यते ॥"

तथाऽन्यैरप्यभिहितं "मतिविभव! नमस्ते यत्समत्वेऽपि पुंसाम्। परिणमसि शुभांशैः कल्मषांशैस्त्वमेव। नरकनगरवर्त्मप्रस्थिताः कष्टमेके, उपचितशुभशक्त्या सूर्य्यसंभेदिनोऽन्ये"। तदेवं भवदभ्युपगमेनैव क्लिष्टमनोव्यापारः कर्मबन्धायेत्युक्तम्भवति। तथेर्य्यापथेऽपि यद्यनुपयुक्तो याति ततोऽनुपयुक्ततैव क्लिष्टचित्ततेति कर्मबन्धो भवत्येव। अथोपयुक्तो याति

वह उसका प्रधान कारण है (मन होनेपर कर्मका उपचय होता है और न होनेपर नहीं होता है इसलिए कर्मके उपचयका मनही प्रधान कारण है)।

शङ्का—कहते हैं कि उक्तवादीने शरीर चेष्टाके विना केवल मनोव्यापारको कर्मोपचयका कारण न होना वताया है (फिर तुम, कर्मोपचयका प्रधान कारण मनको वे भी मानते हैं यह क्यों कहते हो?)।

समाधान—उक्तवादीने यह अवश्य कहा है परन्तु अयुक्त कहा है क्योंकि आपने (उक्तवादीने) ही कहा है कि "इस प्रकार चित्तकी विशुद्धिसे मोक्षकी प्राप्ति होती है" ऐसा कहते हुए आपने (उक्तवादीने) ही मोक्षका प्रधान कारण एक मनको ही बतलाया है। तथा उक्तवादीने और भी कहा है "चित्तमेव" अर्थात् राग आदि क्लेशोंसे वासित चित्त ही संसार है और वही चित्त, रागादि रहित होकर संसारका अन्त कहा जाता है। तथा दूसरे दार्शनिकोंने भी कहा है कि—"मतिविभव" अर्थात् हे मन! मैं, तुझको नमस्कार करता हूँ। यद्यपि सभी पुरुष, समान हैं परन्तु तूँ किसीका शुभ अंशमें और किसीका अशुभ अंशमें परिणत होते हो। यही कारण है कि कोई पुरुष, नरकरूपी नगरके मार्गका पथिक होता है और बढ़ी हुई शुभांशकी शक्तिसे कोई सूर्य्यका भेदन करता है अर्थात् मोक्षको प्राप्त करता है। इसप्रकार आपके मन्तव्यसे ही क्लिष्ट मनोव्यापार, कर्मबन्धनका कारण है यह सिद्ध होता है। तथा ईर्य्यापथमें भी यदि उपयोग न रखकर चलता है तो उपयोग न रखना ही चित्तकी क्लिष्टता है अतः उससे कर्मबन्ध होता ही है। यदि वह उपयोग

ततो ऽप्रमत्तत्वादबन्धक एव तथा चोक्तम्—

"उच्चालियंमि पाए इरियासमियस्स संकमट्ठाए ।
वावज्जेज्ज कुलिङ्गी मरेज्ज तं जोग मासज्ज ॥ १ ॥"
णेय तस्स तन्निमित्तो बन्धो सुहमोऽवि देसिओ समए ।
अणवज्जोउ पयोगेण सव्वभावेण सो जम्हा ॥ २ ॥

स्वप्नान्तिकेप्यशुद्धचित्तसद्भावा दीषद् बन्धो भवत्येव स च भवताऽभ्युपगतएव "अव्यक्तं तत्सावद्य"मित्यनेनेति । तदेवं मनसोऽपि क्लिष्टस्यैकस्यैव व्यापारे बन्धसद्भावात् यदुक्तं भवता "प्राणी प्राणिज्ञान"मित्यादि तत्सर्वं प्लवत इति । यदुक्तं "पुत्रं पिता समारभ्ये"त्यादि तदप्यनालोचिताभिधानं यतो मारयामीत्येवं यावन्न चित्तपरिणामोऽभूत्तावन्न कश्चिद् व्यापादयति, एवम्भूतचित्तपरिणतेश्च कथमसंक्लिष्टता ? चित्तसंक्लेशेचाऽवश्यंभावी कर्मबन्ध इत्युभयोः संवादोऽत्रेति । यदपि च तैः क्वचिदुच्यते, यथा "परव्यापादितपिशितभक्षणे परहस्ताकृष्टाङ्गारदाहाभाववन्न दोष" इति, तदपि उन्मत्तप्रलपितवदनाकर्णनीयं,

---

रखकर चलता है तो प्रमाद रहित होनेके कारण उसे कर्मबन्ध नहीं होता है। जैसाकि कहा है—ईर्य्या समिति से युक्त पुरुष पृथिवी पर रखनेके लिए जब अपने पैरको उठाता है तब उसके पैरके नीचे आकर यदि कोई सूक्ष्म जीव मर जाय तो उसको थोड़ा भी पाप नहीं होता है यह सिद्धान्तमें कहा है क्योंकि वह पुरुष सब प्रकारसे जीव रक्षामें उपयोग रखनेके कारण पाप रहित है। तथा चित्तकी अशुद्धिके कारण स्वप्नान्तिकमें भी कुछ कर्मबन्ध होता ही है। तथा आपने भी स्वप्नान्तिकमें अव्यक्त पाप होता है इत्यादि ग्रन्थके द्वारा यह स्वीकार किया है। इसप्रकार जबकि एक क्लिष्ट चित्तके व्यापार होनेपर कर्मबन्ध होता है तब आपने जो यह कहा है कि—"प्राणी प्राणिज्ञानम्" इत्यादि, यह सब असङ्गत है। तथा आपने यह जो कहा है कि "पुत्रं पिता समारभ्य" इत्यादि (अर्थात् रागद्वेष रहित पिता विपत्तिके समय पुत्रका मांस खाकर भी कर्मबन्धको नहीं प्राप्त करता है") यह कथन भी विचार शून्य है क्योंकि जबतक "मैं मारता हूँ" ऐसा चित्तका परिणाम नहीं होता है तब तक कोई मारता नहीं है और "मैं मारता हूँ" यह चित्तका परिणाम किसप्रकार असंक्लिष्ट हो सकता है ? चित्तकी क्लिष्टतासे अवश्य कर्मबन्ध होता है इस विषयमें आप और हम दोनोंकी सम्मति है। (अतः पुत्रघाती पिताको पापरहित बताना असंगत है।) तथा किसी स्थान पर उक्तवादीने जो यह कहा है कि "जैसे दूसरेके हाथसे अङ्गार पकड़ने पर हाथ नहीं जलता है उसी तरह दूसरेके द्वारा मारे हुए

यतः परव्यापादिते पिशितभक्षणेऽनुमतिरप्रतिहता तस्याश्च कर्मबन्ध इति। तथा चाऽन्यैरप्यभिहितम् "अनुमन्ता विशसिता संहर्ता क्रयविक्रयी, संस्कर्ता चोपभोक्ताच घातकश्चाऽष्टघातकाः १ यच्च कृतकारितानुमतिरूपमादानत्रयं तैरभिहितं तज्जैनेन्द्रमतलवास्वादनमेव तैरकारीति। तदेवं कर्म चतुष्टयं नोपचयं यातीत्येवं तदभिदधानाः कर्मचिन्तातो नष्टा इपि सुप्रतिष्ठित मिद मिति ॥२९॥

प्राणीके मांस खानेसे पाप नहीं होता है" यह भी उन्मत्तका प्रलापके समान सुनने योग्य नही है क्योंकि—दूसरे द्वारा मारे हुए प्राणीके मांस खाने पर भी उसमें अनुमति अवश्य होती है और अनुमति होनेपर कर्मबन्ध भी आवश्यक है। तथा दूसरे दर्शनवालोंने भी कहा है कि—अनुमोदन करनेवाला, पशुके अङ्गोंको काटकर अलग अलग करनेबाला, पशुको मारनेके लिए उसे वध्य स्थान पर ले जानेवाला, तथा पशुको मारनेके लिए उसे खरीदने वाला अथवा बेंचनेवाला तथा पशुका मांस पकानेवाला मांस खानेवाला, और मारनेवाला ये आठ, पशुके घातका पाप करते हैं। तथा उक्तवादियोंने पशुके घात करने और कराने तथा अनुमति देनेसे जो पाप होना कहा है यह उन्होंने जैनेन्द्र मतके अंशका आस्वादन किया है। अतः "चतुर्विध कर्म उपचयको नहीं प्राप्त होता है" यह कहनेवाले अन्यदर्शनी कर्मकी चिन्तासे रहित हैं यह सिद्ध है ॥ २९ ॥
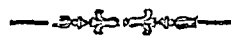
'इच्चेयाहि य दिट्ठीहिं, सातागारवणिस्सिया।
सरणंति मन्नमाणा सेवंती पावगं जणा ॥३०॥

छाया—इत्येताभिश्च दृष्टिभिः सातगौरवनिश्रिताः।
शरणमिति मन्यमानाः सेवन्ते पापकं जनाः ॥

व्याकरण—(इच्चेयाहि) दृष्टिका विशेषण। (य) अव्यय (दिट्ठीहिं) करण (सेवंती) क्रिया (सातागारवणिस्सिया) जनका विशेषण (सरणं) कर्म (मन्नमाणा) जनका विशेषण। (सेवंती) क्रिया (पावगं) कर्म (जणा) कर्ता।

अन्वयार्थ—(इच्चेयाहि) पूर्वोक्त इन (दिट्ठीहि) दर्शनोंके कारण (सातागारवणिस्सिया) सुखभोग तथा मान वडाईमें आसक्त अन्यदर्शनी जन (सरणंति मन्नमाणा) अपने दर्शनको अपना शरण मानते हुए (पावगं) पपका (सेवंती) सेवन करते हैं।

भावार्थ—पूर्वोक्त अन्यदर्शनी पूर्वोक्त इन दर्शनोंके कारण सुखभोग तथा मान वड़ाईमें आसक्त रहते हैं। वे अपने दर्शनको अपना रक्षक समझते हुए पापकर्मका सेवन करते हैं।

टीका—अधुनैतेषां क्रियावादिनामनर्थपरम्परां दर्शयितुमाह—

इत्येताभिः पूर्वोक्ताभिश्चतुर्विधं कर्म नोपचयं यातीतिदृष्टिभि रभ्युपगमैस्ते वादिनः सातगौरवनिश्रिताः सुखशीलतायामासक्ताः यत्किञ्चनकारिणो यथालब्धभोजिनश्च संसारोद्धरणसमर्थं शरणम् इदमस्मदीयं दर्शन मिति एवं मन्यमाना विपरीतानुष्ठानतया सेवन्ते कुर्वते पापमवद्यम् एवं व्रतिनोऽपि सन्तो जना इव जनाः प्राकृतपुरुषसदृशा इत्यर्थः ॥३०॥

टीकार्थ—अब शास्त्रकार इन क्रियावादियोंकी अनर्थपरम्परा बतानेके लिए कहते हैं—

चतुर्विध कर्म उपचयको प्राप्त नहीं होता है इस पूर्वोक्त मन्तव्यके कारण सुखभोग तथा मान बड़ाईमें आसक्त वे अन्यदर्शनी सब कुछ करते हैं और जैसा मिले वैसा ही भोजन खाते हैं। वे अपने दर्शनको संसारसे उद्धार करनेवाला मानते हैं और ऐसा मानते हुए विपरीत अनुष्ठानके द्वारा पापकर्मका सेवन करते हैं। इस प्रकार व्रतधारी होते हुए भी वे, प्राकृत (साधारण) पुरुषके समान ही हैं।
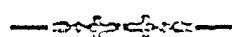
जहा अस्साविणिं णावं, जाइअंधो दुरूहिया।
इच्छई पारमागंतुं अंतरा य विसीयई ॥३१॥

छाया—यथा आस्राविणीं नावं जात्यन्धो दुरुह्य।
इच्छति पारमागन्तु मन्तरा च विषीदति ॥

व्याकरण—(जहा) अव्यय (अस्साविणिं) नावका विशेषण (नावं) कर्म (जाइअंधो) कर्ता (दुरूहिया) पूर्वकालिकक्रिया। (इच्छई) क्रिया (पारं) कर्म (आगन्तुं) प्रयोजनार्थक क्रिया। (अंतरा य) अव्यय (विसीयई) क्रिया।

अन्वयार्थ—(जहा) जैसे (जाइअंधो) जन्मान्ध पुरुष, (अस्साविणिं) जिसमें जल प्रवेश करता है ऐसी (नावं) नौका पर (दुरूहिया) चढ़कर (पारं) पार (आगंतु) जानेकी (इच्छई) इच्छा करता है परन्तु (अन्तरा य) वह मध्यमें ही (विसीयई) डूब जाता है।

भावार्थ—जैसे जन्मान्ध पुरुष, जिसमें जल प्रवेश करता है ऐसी नौकापर चढ़कर पार जाना चाहता है परन्तु वह बीच जलमें ही डूबकर मर जाता है।

टीका—अस्यैवार्थस्योपदर्शकं दृष्टान्तमाह—

आ-समन्तात्स्रवति तच्छीला वा आस्राविणी सच्छिद्रेत्यर्थः, तां तथाभूतां नावं यथा जात्यन्धः समारुह्य पारं तट मागन्तुं प्राप्तुमिच्छत्यसौ, तस्याश्चास्राविणीत्वेनोदकप्लुतत्वाद् अन्तराले जलमध्ये एव विषीदति वारिणि निमज्जति तत्रैव च पञ्चत्वमुपयातीति ॥३१॥

टीकार्थ—इसी अर्थको स्पष्ट करनेके लिए शास्त्रकार दृष्टान्त कहते हैं—

जिसमें चारों तरफसे जल प्रवेश करता है उसे 'आस्राविणी' कहते हैं अर्थात् जिसमें छिद्र है वह नाव आस्राविणी है। ऐसी नावपर चढ़कर जैसे जन्मान्ध पुरुष नदीके पार जाना चाहता है परन्तु आस्राविणी होनेके कारण वह नाव जलसे भर जाती है और वह जन्मान्ध पुरुष मध्य जलमें ही डूब जाता है और मर जाता है ॥३१॥

एवं तु समणा एगे, मिच्छदिट्ठी अणारिया।
संसारपारकंखी ते, संसारं अणुपरियट्टंति ॥३२॥

(गाथा ग्रं० ५९) त्तिबेमि इति प्रथमाध्ययने द्वितीयोद्देशकः।

छाया—एवन्तु श्रमणा एके मिथ्यादृष्टयोऽनार्य्याः।
संसारपारकाङ्क्षिणस्ते संसार मनुपर्य्यटन्ति ॥

इति ब्रवीमि

व्याकरण—(एवं तु) अव्यय (एगे, मिच्छदिट्ठी, अणारिया) श्रमणके विशेषण। (समणा) कर्ता (संसारपारकंखी) श्रमणका विशेषण (संसारं) कर्म (अणुपरियट्टंति) क्रिया।

अन्वयार्थ—(एवं तु) इस प्रकार (एगे) कोई (मिच्छदिट्ठी) मिथ्यादृष्टि (अणारिया) अनार्य्य (समणा) श्रमण (संसार पारकंखी) संसारसे पार जाना चाहते हैं परन्तु (ते) वे (संसारं) संसारमें ही (अणुपरियट्टंति) पार्य्यटन करते हैं।

भावार्थ—इसप्रकार कोई मिथ्यादृष्टि अनार्य्य श्रमण संसारसे पार जाना चाहते हैं परन्तु वे संसारमेंही भ्रमण करते हैं।

टीका—साम्प्रतं दार्ष्टान्तिकयोजनार्थमाह—

एवमिति यथाऽन्धः सच्छिद्रां नावं समारूढः पारगमनाय नालं तथा श्रमणा एके शाक्यादयो मिथ्या विपरीता दृष्टिर्येषान्ते मिथ्यादृष्टयस्तथा पिशिताशनानुमतेरनार्य्याः स्वदर्शनानुरागेण संसारपापकाङ्क्षिणो मोक्षाभिलाषुकाः अपि सन्तस्ते चतुर्विधकर्मचयानभ्युपगमेनाऽनिपुणत्वाच्छासनस्य संसारमेव चतुर्गतिसंसरणरूपमनुपर्य्यटन्ति भूयो भूयस्तत्रैव जन्मजरामरणदौर्गत्यादिक्लेशमनुभवन्तोऽनन्तमपि कालमासते न विवक्षित मोक्षसुखमाप्नुवन्ति, इति ब्रवीमीति पूर्ववदिति ३२ इति सूत्रकृताङ्गे समयाख्याध्ययनस्य द्वितीयोद्देशकः समाप्तः ।

टीकार्थ—इस दृष्टान्तको दार्ष्टान्तके साथ मिलानेके लिए शास्त्रकार कहते हैं—

जैसे जन्मान्ध मनुष्य, छिद्रवाली नावपर चढ़कर नदीको पार करनेमें समर्थ नहीं होता है इसी तरह विपरीत दृष्टिवाले तथा मांसाहारका समर्थन करनेके कारण अनार्य्य शाक्यभिक्षु आदि अपने दर्शनके अनुरागसे संसारसे पार जाना और मोक्ष सुख प्राप्त करना चाहते हैं परन्तु उनका शास्त्र, "चतुर्विध कर्म उपचयको प्राप्त नहीं होता है" यह शिक्षा देनेके कारण संसारसे पार करनेमें समर्थ नहीं है इसलिए वे चतुर्गतिक रूप संसारमेंही भ्रमण करते हैं। वे बार बार संसारमें ही जन्म, जरा, मरण और दुर्गति आदि क्लेशको भोगते हुए अनन्त काल तक संसारमें ही निवास करते हैं परन्तु वे मोक्षको नहीं प्राप्त करते हैं यह मैं कहता हूँ यह पूर्ववत जानना चाहिए ।

श्रीसूत्रकृताङ्ग सूत्रके प्रथम अध्ययनका द्वितीय उद्देशक समाप्त हुआ ।
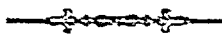
जं किंचि उ पूइकडं, सड्ढी मागंतु मीहियं ।
सहस्संतरियं भुंजे दुपक्खं चेव सेवइ ॥१॥

छाया—यत्किञ्चित्पूतिकृतं श्रद्धावताऽऽगन्तुकेभ्य ईहितं ।
सहस्रान्तरितं भुञ्जीत द्विपक्षञ्चैव सेवते ॥

व्याकरण—(जं, किंचि) कर्मका विशेषण (पूइकडं) कर्मका विशेषण (सड्ढी) उत्पादनरूप क्रियाका कर्ता (आगतुं) सम्प्रदान (ईहितं) कर्मविशेषण (सहस्संतरियं) कर्मविशेषण (भुंजे) क्रिया (दुपक्खं) कर्म (सेवइ) क्रिया ।

अन्वयार्थ—(जंकिंचिउपूइकडं) जो आहार थोड़ा भी—आधा कर्मके कणसे भी मिश्रित तथा अपवित्र है (सड्ढी) एवं श्रद्धावान् पुरुषने (आगंतुमीहियं) आनेवाले मुनियोंके लिए बनाया है (सहस्संतरियं भुंजे) उस आहारको जो पुरुष हजार घरका अन्तर देकर भी खाता है (दुपक्खं चेव सेवइ) वह गृहस्थ और साधु दोनोंके पक्षका सेवन करता है।

भावार्थ—जो आहार आधाकर्मी आहारके एक कणसे भी युक्त तथा अपवित्र है और श्रद्धावान् गृहस्थके द्वारा आनेवाले मुनियोंके लिए बनाया गया है उस आहारको जो पुरुष, हजार घरका अन्तर देकर भी खाता है वह साधु और गृहस्थ दोनोंके पक्षोंका सेवन करता है।

अथ प्रथमाध्ययने तृतीयोद्देशक आरभ्यते—

द्वितीयोद्देशकानन्तरं तृतीयः समारभ्यते अस्य चायमभिसम्बन्धः—अध्ययनार्थाधिकारः स्वसमयपरसमयप्ररूपणेति, तत्रोद्देशकद्वयेन स्वपरसमयप्ररूपणा कृता अत्राऽपि सैव क्रियते। अथवाऽऽद्ययोरुद्देशकयोः कुदृष्टयः प्रतिपादिताः तद्दोषाश्च तदिहाऽपि तेषामाचारदोषः प्रदर्श्यत इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्य चत्वार्य्यनुयोगद्वाराणि व्यावर्ण्यास्खलितगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयं तच्चेदम्।

अस्य चानन्तरसूत्रेण सहायं सम्बन्ध-इहानन्तरोद्देशकपर्य्यन्तसूत्रेऽभिहितम् "एवं तु श्रमणा एके इत्यादि तदिहाऽपि सम्बध्यते, एके श्रमणाः यत्किञ्चित् पूतिकृतं भुञ्जानाः संसारं पर्य्यटन्तीति। परम्परसूत्रे

अब प्रथम अध्ययनका तीसरा उद्देशक आरम्भ किया जाता है—

द्वितीय उद्देशक कहनेके पश्चात् अब तीसरा उद्देशक आरम्भ किया जाता है। इसका सम्बन्ध यह है—प्रथम अध्ययनका अर्थाधिकार स्वसमय और परसमयकी प्ररूपणा है। अतः पहलेके दो उद्देशकोंमें स्वसमय और परसमयकी प्ररूपणा की गई है अब इस उद्देशकमें भी वही की जाती है। अथवा पहलेके दो उद्देशकोंमें कुदृष्टियोंका कथन किया है और उनके दोष भी बताये हैं अब इस उद्देशकमें उनका आचारदोष बताया जाता है। इस सम्बन्धसे आये हुए इस उद्देशकके चार अनुयोग द्वारोंको बताकर अस्खलित आदि गुणोंके साथ सूत्रका उच्चारण करना चाहिए वह सूत्र यह है—

इस सूत्रका अनन्तर सूत्रके साथ सम्बन्ध यह है—अनन्तर उद्देशकके अन्तिम सूत्रमें कहा है कि "एवं तु श्रमणा एके" इत्यादि। इसका सम्बन्ध यहां भी होता है इसलिए इसका अर्थ यह हुआ कि कोई श्रमण जो थोड़ा भी अपवित्र पूतिकृत आहार खाते हैं वे संसार भ्रमण करते हैं। तथा परम्पर सूत्रमें कहा है कि

त्वभिहितं बुज्झिज्ज" इत्यादि, यत्किञ्चित्पूतिकृतं तद्बुध्येतेति। एवमन्यैरपि सूत्रै रुत्प्रेक्ष्य सम्बन्धो योज्यः। अधुना सूत्रार्थः प्रतन्यते यत्किञ्चिदिति आहारजातं स्तोकमपि आस्तां तावत्प्रभूतं तदपि पूतिकृतमाधाकर्मादि-सिक्थेनाप्युपसृष्टम् आस्तान्तावदाधाकर्म तदपि न स्वयंकृतमपितु श्रद्धावताऽन्येन भक्तिमताऽपरान् आगन्तुकानुद्दिश्य ईहितं चेष्टितं निष्पादितं तच्च सहस्रान्तरितमपि यो भुञ्जीत अभ्यवहरेदसौ द्विपक्षं गृहस्थपक्षं प्रव्रजितपक्षञ्चासेवते। एतदुक्तम्भवति—एवम्भूतमपि परकृत मपरागन्तुकयत्यर्थं निष्पादितं यदाधाकर्मादि तस्य सहस्रान्तरितस्यापि-योऽवयवस्तेनाप्युपसृष्ट माहारजातं भुञ्जानस्य द्विपक्षसेवन मापद्यते किं पुनः य एते शाक्यादयः स्वयमेव सकलमाहारजातं निष्पाद्य स्वयमेवचोपभुञ्जते? ते च सुतरां द्विपक्षसेविनो भवन्तीत्यर्थः। यदि वा द्विपक्षमिति ईर्य्यापथः साम्परायिकश्च, अथवा पूर्वबद्धाः निकाचिताद्यवस्थाः कर्मप्रकृतीर्नयत्य-पूर्वाश्चादत्ते, तथाचागमः "आहाकम्मं णं भुंजमाणे समणे कइ कम्मपगडीओ

"मनुष्यको बोध प्राप्त करना चाहिए इत्यादि" अतः जो आहार थोड़ा भी आधा कर्मी आदिसे युक्त है उसका बोध प्राप्त करना चाहिए यह सम्बन्ध यहाँ मिलाना चाहिए। इसी तरह दूसरे सूत्रोंके साथ भी इस सूत्रका सम्बन्ध स्वयं जानलेना चाहिये। अब इस सूत्रका अर्थ बतलाया जाता है—जो आधाकर्म आदि आहार बहुत है उसको तो कहनाही क्या है जो आहार थोड़ा भी आधाकर्म आहारके एक कणसे भी युक्त है, तथा श्रद्धालु गृहस्थके द्वारा आनेवाले मुनियोंके निमित्त बनाया गया है, स्वयं किया हुआ भी नहीं है ऐसे आहारको भी जो हजार घरका अन्तर देकर भी खाता है वह पुरुष गृहस्थ और साधु दोनोंके पक्षोंको सेवन करता है। आशय यह है कि जो आहार आगन्तुक यतियोंके लिए श्रद्धालु गृहस्थने बनाया है, हजार घर अन्तर देकर भी उस आहारके एक कणसे युक्त आहार भी जो खाता है वह साधु और गृहस्थ दोनोंके पक्षोंको सेवन करता है ऐसी दशामें स्वयं सम्पूर्ण आहार तैय्यार करके जो उसे खाते हैं ऐसे शाक्यभिक्षु आदिकी तो बातही क्या है? वे तो सुतरां साधु और गृहस्थ इन दोनोंके पक्षोंका सेवन करते हैं। अथवा ईर्य्यापथ और साम्परायिकको द्विपक्ष हैं। अथवा पूर्वोक्त पूतिकृत आहारको खानेवाला पुरुष, पहले बाँधी हुई कर्मप्रकृतिको निकाचित आदि अवस्थाओंमें पहुँचाता है और फिर नवीन कर्मप्रकृति बाँधता है। आगममें लिखा है कि— "आहाकम्मं" इत्यादि अर्थात् "हे भगवन्! जो श्रमण आधाकर्म आहारका सेवन

बंधइ ? गोयमा ! अट्ठकम्मपगडीओ बंधइ सिढिलबंधणबद्धाओ धणियबंधणबद्धाओ करेइ चियाओ करेइ उवचियाओ करेइ हस्सठिइयाओ दीहठिइयाओ करेइ' इत्यादि, ततश्चैवं शाक्यादयः परतीर्थिकाः स्वयूथ्या वा आधाकर्म भुञ्जानाः द्विपक्षमेवाऽऽसेवन्त इति सूत्रार्थः ॥ १ ॥

करता है वह कितनी कर्मप्रकृतियोंको बाँधता है? हे गोतम! वह श्रमण आठ कर्मप्रकृतियोंको बाँधता है। वह ढीले बन्धनमें बाँधे हुए कर्मोंको दृढ़ बन्धनमें बाँधता है तथा वह कर्मोंका चय और उपचय करता है एवं ह्रस्वस्थितिवाली कर्मप्रकृतिको दीर्घस्थितिवाली बनाता है।" (इस शास्त्रोक्त अर्थके अनुसार) आधाकर्मी आहारका सेवन करनेवाले शाक्यभिक्षु आदि परतीर्थी तथा स्वयूथिक लोग, साधु तथा गृहस्थ इन दोनोंके पक्षोंका सेवन करते हैं यह सूत्रार्थ है ?

तमेव अवियाणंता, विसमंसि अकोविया ।
मच्छावेसालिया चेव उदगस्सऽभियागमे ॥२॥
उदगस्स पभावेण, सुक्कं सिग्धं तामिंति उ ।
ढंकेहि य कंकेहि य, आमिसत्थेहिं ते दुही ॥३॥

छाया—तमेवाविजानन्तो विषमे ऽकोविदाः ।
मत्स्याः वैशालिकाश्चैवोदकस्याभ्यागमे ॥
उदकस्य प्रभावेण शुष्कं स्निग्धं तमेत्यतु ।
ढङ्कैश्च कङ्कैश्चामिषार्थिभिस्ते दुःखिनः ॥

व्याकरण—(तं) कर्म (एव) अव्यय (अवियाणंता) आधाकर्म आहार खानेवालेका विशेषण। (विसमंसि) अधिकरण (अकोविया) आधाकर्म आहार खानेवालेका विशेषण। (मच्छा) उपमान कर्ता (वेसालिया) मत्स्यका विशेषण। (उदगस्स) सम्बन्धषष्ठ्यन्त। (अभियागमे) भावलक्षण सप्तम्यन्तपद (पभावेणं) करण (सुकं सिग्धं) कर्मविशेषण (ढंकेहि कंकेहि) हेतुतृतीयान्त (अभिसत्थेहिं) ढंक कङ्कका विशेषण। (ते दुही) वैसालिकमत्स्यके विशेषण।

अन्वयार्थ—(तमेव) उस आधाकर्म आदि आहारके दोषोंको (अवियाणंता) नहीं जानते हुए तथा (विसमंसि अकोविया) संसार अथवा अष्टविध कर्मके ज्ञानमें अनिपुण वे अन्यतीर्थी (उदगस्सऽभियागमे) जलकी बाढ़ आनेपर (वेसालिया मच्छा चेव) वैशालिक मत्स्यकी तरह (दुःखी होते हैं। (उदगस्स पभावेण) जलके प्रभावसे (सुकं सिग्धं) सूखे हुए तथा

गीले स्थानको (तम्मिंतिउ) प्राप्त करके जैसे वैशालिक मत्स्य (आमिसत्थेहिं मांसार्थी (ढंकेहिं कंकेहिं) ढंक और कङ्कके द्वारा (दुही) दुःखी होते हैं (उसी तरह आधा कर्म आहार सेवन करनेवाले दुःखी होते हैं) ।

भावार्थ—आधा कर्म आहारके दोषोंको न जाननेवाले एवं चतुर्गतिक संसार तथा अष्टविध कर्मके ज्ञानमें अकुशल आधाकर्म आहार खानेवाले पुरुष इस प्रकार दुःखी होते हैं जैसे जलकी बाढ़ आनेपर जलके प्रभावसे सूखे और गीले स्थानपर गई हुई विशाल जातिवाली मछली मांसाहारी ढङ्क और कंक आदिके द्वारा दुःखी की जाती है ।

इदानीमेतेषां सुखैषिणा माधाकर्मभोजिनां कटुकविपाकाविर्भावनाय श्लोकद्वयेन दृष्टान्तमाह—

तमेवाधाकर्मोपभोगदोषमजानानाः विषम अष्टप्रकारकर्मबन्धो भवकोटिभिरपि दुर्मोक्षः चतुर्गतिसंसारोवा तस्मिन्नकोविदाः, कथमेष कर्मबन्धो भवति कथं वा न भवति, केनोपायेन संसारार्णवस्तीर्य्यत इत्यत्रा कुशला स्तस्मिन्नेव संसारोदरे कर्मपाशावपाशिताः दुःखिनो भवन्तीति । अत्र दृष्टान्तमाह—यथा मत्स्याः पृथुरोमाणो विशालः समुद्रस्तत्र भवाः वैशालिकाः विशालाख्यविशिष्टजात्युद्भवा वा वैशालिकाः विशाला एव वा वैशालिकाः बृहच्छरीरास्ते एवम्भूताः महामत्स्या उदकस्याभ्यागमे समुद्रवेला (या मागता) यां सत्यां प्रबलमरुद्वेगोद्भूतोत्तुङ्गकल्लोलमालापनुन्नाः सन्त उदकस्य प्रभावेन नदीमुखमागताः पुनर्वेलाऽपगमे

टीकार्थ—सुखका अन्वेषण करनेवाले इन आधाकर्म आहार सेवन करनेवाले पुरुषोंको जो कटु फल प्राप्त होता है उसे प्रकट करनेके लिए शास्त्रकार दो श्लोकोंके द्वारा दृष्टान्त बताते हैं—

आधाकर्म आहार सेवनके उस दोषको न जाननेवाले, तथा कोटि भवके द्वारा भी जिनसे मुक्ति पाना कठिन है ऐसे आठ प्रकारके कर्मबन्धनोंको जाननेमें अनिपुण अथवा चतुर्गतिक संसारके ज्ञानमें अप्रवीण, एवं यह कर्मबन्ध कैसे होता है और यह कैसे नहीं होता है तथा यह संसारसागर कैसे पार किया जा सकता है इस विषयके ज्ञानमें अकुशल वे पुरुष कर्मपाशमें बँधे हुए उसी संसार सागरमें दुःख पाते रहते हैं । इस विषयमें शास्त्रकार दृष्टान्त देते हैं—जैसे बड़ी रोमवाली समुद्रमें उत्पन्न अथवा विशाल नामक विशिष्ट जातिमें उत्पन्न मच्छली अथवा वृहत् शरीरवाली मच्छली समुद्रके तरङ्ग आनेपर वेगवान् पवनके द्वारा टकराई हुई ऊँची तरङ्गोंकी

तस्मिन्नुदके शुष्के वेगेनैवापगते सति बृहत्त्वाच्छरीरस्य तस्मिन्नेव धुनीमुखे विलग्ना अवसीदन्त आमिषगृध्नुभिर्ढङ्कैः कङ्कैश्च पक्षिविशेषै रन्यैश्च मांसवसार्थिभि र्मत्स्यबन्धादिभि र्जीवन्त एव विलुप्यमानाः महान्तं दुःखसमुद्घातमनुभवन्तोऽशरणाः घातं विनाशं यान्ति प्राप्नुवन्ति । तुरवधारणे, त्राणाभावाद्विनाशमेव यान्तीति श्लोकद्वयार्थः ॥ २ ॥ ३ ॥

माला (समूह) से ताडित होकर नदीके तटपर चली जाती है और उस तरङ्गके हट जानेपर वह जल, जब शीघ्रही सूख जाता है तब वह मच्छली बृहत् शरीर होनेके कारण उस नदीके तटपरही पड़ी हुई, मांसलोभी ढङ्क कङ्क एवं दूसरे चर्वी और मांसलोभी मनुष्योंके द्वारा जीवितही काटी जाती है और वह रक्षकरहित होकर दुःख पाती हुई मृत्युको प्राप्त होती है । यहां 'तु' शब्द एवकारार्थक है इसलिए रक्षक न होनेसे वह नाशको ही प्राप्त होती है यह दो गाथाओंका अर्थ है ।
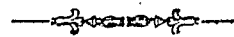
एवं तु समणा एगे वट्टमाणसुहेसिणो ।
मच्छा वेसालिया चेव, घातमेस्संति णंतसो ॥४॥

छाया—एवन्तु श्रमणा एके वर्तमानसुखैषिणः ।
मत्स्याः वैशालिकाश्चैव घातमेष्यन्त्यनन्तशः ॥

व्याकरण—(एवं, तु,) अव्यय । (वट्टमाणसुहेसिणो) (एगे) श्रमणके विशेषण । (वेसालिया) मत्स्यका विशेषण (मच्छा) उपमानकर्ता (समणा) कर्ता (च, इव) अव्यय (णंतसो) अव्यय (घातं) कर्म (एस्संति) क्रिया ।

अन्वयार्थ—(एवंतु) इस प्रकार (वट्टमाणसुहेसिणो) वर्तमान सुखकी इच्छा करनेवाले (एगे समणा) कोई श्रमण, (वेसालिया मच्छाचेव) वैशालिक मत्स्यके समान (णंतसो) अनन्तवार (घातमेस्संति) घातको प्राप्त करेंगे ।

भावार्थ—इसी तरह वर्तमान सुखकी इच्छा करनेवाले कोई श्रमण वैशालिक मत्स्यके समान अनन्तवार घातको प्राप्त होंगे ।

टीका—एवं दृष्टान्तमुपदर्श्य दार्ष्टान्तिके योजयितुमाह ।

टीकार्थ—इस प्रकार दृष्टान्त वताकर अव दृष्टान्तमें योजना करनेके लिए शास्त्रकार कहते हैं—

यथैतेऽनन्तरोक्ताः मत्स्या स्तथा श्रमणाः श्राम्यन्तीति श्रमणा एके शाक्यपाशुपतादयः स्वयूथ्या वा किम्भूतास्त इति दर्शयति—वर्तमान मेव सुख माधाकर्मोपभोगजनित मेषितुं शीलं येषान्ते वर्तमानसुखैषिणः समुद्रवायसवत् तत्कालावाप्तसुखलवाऽऽसक्तचेतसोऽनालोचिताधाकर्मोपभोगजनितातिकटुकदुःखौघानुभवाः, वैशालिकमत्स्या इव घातं विनाशम् एष्यन्ति अनुभविष्यन्ति अनन्तशोऽरहट्टघटीन्यायेन भूयो भूयः संसारोदन्वति निमज्जनं कुर्वाणाः न ते संसाराम्भोधेः पारगामिनो भविष्यन्तीत्यर्थः ॥ ४ ॥

जैसे पूर्वोक्त वैशालिक मत्स्य घातको प्राप्त होता है इसी तरह शाक्य पाशुपत आदि अथवा कोई स्वयूथिक श्रमण घातको प्राप्त करते हैं। जो तपस्या करता है अथवा परिश्रम करता है उसे 'श्रमण' कहते हैं। ये शाक्य पाशुपत आदि तथा स्वयूथिक कैसे हैं ? यह सूत्रकार दिखलाते हैं वर्तमान काल में ही जो सुख है, ऐसे आधाकर्म आहारके सेवनसे उत्पन्न सुखको वे अन्वेषण करते हैं। जैसे समुद्रका काक तात्कालिक सुखमें आसक्त रहता है इसी तरह शाक्य और पाशुपत आदि भी तात्कालिक अल्प सुखमें आसक्त रहते हैं। वे बिना विचारे आधाकर्मी आहारका उपभोग करके उसके फलस्वरूप अति कटुक दुःख समूहको भोगते हैं। वे पूर्वोक्त वैशालिक मत्स्यके समान घातको प्राप्त होंगे। जैसे अरहट यन्त्र बार बार कूपमें डूबता और तैरता रहता है उसी तरह वे भी संसार सागरमें बार-बार डूबते और उतराते रहेंगे। वे कभी भी संसार सागरको पार नहीं कर सकेंगे यह सूत्रार्थ है ॥४॥

इणमन्नं तु अन्नाणं, इह मेगेसि माहियं ।
देवउत्ते अयं लोए, बंभउत्तेति आवरे ॥५॥

छाया—इदमन्यत्त्वज्ञान मिहैकेषा माख्यातम् ।
देवोप्तोऽयं लोकः ब्रह्मोप्त इत्यपरे ॥

व्याकरण—(इणं) सर्वनाम, अज्ञानका विशेषण। (अन्नं) अज्ञानका विशेषण। (तु) अव्यय (अन्नाणं) कर्ता। (इह) अधिकरणशक्तिप्रधान अव्यय (एगेसिं) कर्तृषष्ठ्यन्त (आहियं) अज्ञानका विशेषण। (अयं) लोकका विशेषण सर्वनाम (देवउत्ते) लोकका विशेषण। (लोए) आक्षिप्त अस्ति क्रियाका कर्ता (बंभउत्ते) लोकका विशेषण। (इति) अव्यय (आवरे) आक्षिप्त कथन क्रियाका कर्ता।

अन्वयार्थ—(इणं) यह (अन्नं तु) दूसरा (अन्नाणं) अज्ञान है। (इह) इस लोकमें (एगेसिं) किन्हीने (आहियं) कहा है कि (अयं) यह (लोए) लोक (देवउत्ते) किसी देवके द्वारा उत्पन्न किया गया है (आवरे) और दूसरे कहते हैं कि—(बंभउत्तेति) यह लोक ब्रह्माका किया हुआ है।

भावार्थ—पूर्वोक्त अज्ञानके सिवाय दूसरा एक अज्ञान यह भी है—कोई कहते हैं कि "यह लोक किसी देवता द्वारा बनाया गया है" और दूसरे कहते हैं कि—"ब्रह्माने यह लोक बनाया है।"

टीका—साम्प्रतमपराज्ञाभिमतोपप्रदर्शनायाह—

टीका—इदमिति वक्ष्यमाणं, 'तु' शब्दः पूर्वेभ्यो विशेषणार्थः। अज्ञानमिति मोहविजृम्भणम् इह अस्मिन् लोके एकेषां न सर्वेषाम् आख्यातम् अभिप्रायः, किं पुनस्तदाख्यातमिति ? तदाह—देवेनोप्तो देवोप्तः, कर्षकेणेव बीजवपनं कृत्वा निष्पादितोऽयं लोक इत्यर्थः। देवै र्वा गुप्तो-रक्षितो देवगुप्तो देवपुत्रो वेत्येवमादिकमज्ञानमिति। तथा ब्रह्मणा उप्तो ब्रह्मोप्तोऽयंलोक इत्यपरे एवं व्यवस्थिताः। तथा हि तेषामयमभ्युपगमः—ब्रह्मा जगत्पितामहः स चैक एव जगदादावासीत्तेन च प्रजापतयः सृष्टाः तैश्च क्रमेणैतत्सकलं जगदिति ॥ ५ ॥

टीकार्थ—अब सूत्रकार दूसरे अज्ञानियोंका मत प्रदर्शित करनेके लिए कहते हैं-

यहाँ इदम् शब्दसे आगे कहा जानेवाला मत समझना चाहिए। 'तु' शब्द पूर्वोक्त मतोंसे इस मतकी विशेषता बतानेके लिए है। अर्थात् पूर्वोक्त मतोंसे भिन्न यह आगे कहा जानेवाला मत भी अज्ञान अर्थात् मोहका ही प्रभाव है। इस लोकमें सबका नहीं किन्तु किन्हींका यह कथन है। वह क्या कथन है ? सो सूत्रकार बतलाते हैं—जैसे किसान बीज बोकर धान्य उत्पन्न करता है इसी तरह किसी देवताने इस लोकको उत्पन्न किया है। अथवा कोई देवता इस लोककी रक्षा करता है। अथवा यह लोक किसी देवताका पुत्र है इत्यादि। यह सब अज्ञानका प्रभाव समझना चाहिए। तथा दूसरे कहते हैं कि—यह लोक ब्रह्माके द्वारा किया गया है। उनकी मान्यता यह है कि "ब्रह्मा जगत्के पितामह हैं। वह, जगत्के आदिमें एक ही थे। उन्होंने प्रजापतियोंको बनाया और प्रजापतियोंने क्रमशः इस सम्पूर्ण जगत्को उत्पन्न किया ॥ ५ ॥

ईसरेण कडे लोए, पहाणाइ तहावरे।
जीवाजीवसमाउत्ते, सुहदुक्खसमन्निए ॥ ६ ॥

छाया—ईश्वरेण कृतो लोकः प्रधानादिना तथाऽपरे।
जीवाजीवसमायुक्तः सुखदुःखसमन्वितः ॥

व्याकरण—(लोए) आक्षिप्त अस्ति क्रियाका कर्ता। (ईसरेण) उत्पत्ति क्रियाका कर्ता (कडे) लोकका विशेषण। (तहा) अव्यय (आवरे) कर्ता (पहाणाइ) कर्ता (जीवाजीव समाउत्ते, सुहदुक्खसमन्निए) लोकके विशेषण।

अन्वयार्थ—(जीवाजीवसमाउत्ते) जीव और अजीवसे युक्त (सुहदुक्खसमन्निए) सुख और दुःखके सहित (लोए) यह लोक (ईसरेण कडे) ईश्वर कृत है ऐसा कोई कहते हैं (तहावरे) तथा दूसरे कहते हैं कि यह लोक (पहाणाइ) प्रधानादिकृत है।

भावार्थ—ईश्वरकारणवादी, कहते हैं कि जीव, अजीव, सुख तथा दुःखसे युक्त यह लोक ईश्वरकृत है और साङ्ख्यवादी कहते हैं कि यह लोक प्रधानादिकृत है।

तथेश्वरेण कृतोऽयं लोक एवमेक ईश्वरकारणिका अभिदधति, प्रमाणयन्ति च ते—सर्वमिदं विमत्यधिकरणभावापन्नं तनुभुवनकरणादिकं धार्मित्वेनोपादीयते, बुद्धिमत्कारणपूर्वकमितिसाध्यो धर्मः, संस्थानविशेषत्वादिति हेतुः। यथा घटादिरिति दृष्टान्तोऽयं यद्यत्संस्थान विशेषवत्तत्तद् बुद्धिमत्कारणपूर्वकं दृष्टं यथा देवकुलकूपादीनि। संस्थान विशेषवच्च मकराकरनदीधराधरधराशरीरकरणादिकं विवादगोचरापन्नमिति, तस्माद् बुद्धिमत्कारणपूर्वकं, यश्च समस्तस्यास्य जगतः कर्ता स

ईश्वरको जगतका कर्ता माननेवाले दार्शनिक कहते हैं कि यह लोक ईश्वरका किया हुआ है। वे इस विषयको प्रमाणित करनेके लिए कहते हैं कि शरीर भुवन और इन्द्रिय आदिके विषयमें भिन्न भिन्न मत वादियोंका भिन्न भिन्न मत है इसलिए ये सब विवादके स्थान हैं। ये विवादके स्थान शरीर भुवन और इन्द्रिय आदि (पक्ष) किसी बुद्धिमान् कर्ता द्वारा किये हुए हैं (साध्य) क्योंकि इनकी अवयवरचना, विशेष प्रकारकी है। (हेतु) जिस जिस वस्तुकी अवयवरचना, विशेष प्रकारकी होती है वह वह वस्तु किसी बुद्धिमान् कर्ता द्वारा ही की हुई होती है। जैसे घट आदि तथा देवकुल और कूप आदि विशेष अवयव रचनावाले होनेके कारण किसी बुद्धिमान् कर्ता द्वाराही किये हुए हैं इसी तरह विवादके स्थान समुद्र, नदी, पर्वत, पृथिवी और शरीर आदि भी विशेष अवयव रचनावाले होनेके

सामान्यपुरुषो न भवतीत्यसावीश्वर इति । तथा सर्वमिदं तनुभुवनकरणादिकं धर्मित्वेनोपादीयते, बुद्धिमत्कारणपूर्वकमिति साध्यो धर्मः कार्य्यत्वाद् घटादिवत् । तथा स्थित्वा प्रवृत्तेर्वास्यादिवदिति । तथाऽपरे प्रतिपन्ना यथा—प्रधानादिकृतो लोकः, सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था

कारण किसी बुद्धिमान् कर्ता द्वाराही किये हुए हैं । जो इस समस्त जगत्‌का कर्ता है वह साधारण पुरुष नहीं हो सकता है अतः वह ईश्वर है । * तथा शरीर, भुवन और इन्द्रिय आदि, किसी बुद्धिमान् कर्ता द्वारा कृत हैं क्योंकि घट आदिके समान ये कार्य्य हैं । † तथा शरीर और इन्द्रिय आदि किसी बुद्धिमान् कर्ताके द्वारा किये हुए हैं क्योंकि कि ये बँसूला आदिके समान स्थित होकर कार्य्यमें प्रवृत्त होते हैं ‡ तथा दूसरे वादी अर्थात् साङ्ख्यमतवाले कहते हैं कि—यह लोक प्रधान (प्रकृति) आदिके द्वारा किया गया है । सत्त्व, रज और तमकी साम्य अवस्थाको

* यहां टीकाकारने ईश्वरकारणवादियोंकी ओरसे ईश्वर सिद्धिके लिए तीन हेतु बताये हैं। इनमें पहला हेतु यह है कि—पृथ्वी, समुद्र और पर्वत आदिकी रचना भिन्न-भिन्न प्रकारकी देखी जाती है, इससे प्रतीत होता है कि किसी बुद्धिमान कर्ताने सोच समझकर भिन्न-भिन्न आकारोंमें इन्हें बनाया है । जैसे घट, देवकुल और कूप आदिके आकार भिन्न-भिन्न हैं अतः वे बुद्धिमान् कर्ता द्वारा भिन्न-भिन्न आकारमें बनाये गए हैं इसी तरह पृथिवी समुद्र और पर्वत आदि यह समस्त जगत् भी बुद्धिमान् कर्ता द्वारा भिन्न-भिन्न आकारोंमें उत्पन्न किए गए हैं। इस प्रकार कोई पुरुष विशेष जगत्‌का कर्ता सिद्ध होता है । वह पुरुष विशेष हमलोगोंके समान साधारण पुरुष नहीं हो सकता क्योंकि साधारण पुरुषको इन वस्तुओंकी रचनाका ज्ञान संभव नहीं है अतः इनकी रचना करनेवाला सांसारिक जीवोंसे विलक्षण कोई पुरुषविशेष अवश्य मानना चाहिए । वह पुरुष ईश्वर है ।

† दूसरा हेतु यह है कि पृथ्वी समुद्र और पर्वत आदि कार्य्य हैं इसलिए इनका कर्ता कोई अवश्य है क्योंकि कार्य्य, विना कर्ताके नहीं हो सकता है जैसे घट आदि कार्य्य कुम्हारके विना नहीं होते इसीतरह यह पृथिवी समुद्र और पर्वत आदि कार्य्य भी किसी कर्ताके विना नहीं हो सकते हैं अतः इनका कर्ता कोई अवश्य है । वह कर्ता साधारण पुरुष नहीं हो सकता है इसलिए वह ईश्वर है ।

‡ तीसरा हेतु यह है कि जैसे बँसूला अपने आप कोई कार्य्य नहीं करता है किन्तु कारीगर जब चाहता है तब उसके द्वारा काम लेता है इसी तरह पृथिवी समुद्र और पर्वत आदि अपने आप कोई कार्य्य नहीं करते किन्तु मनुष्य आदि प्राणी जब चाहते हैं तब इनसे काम लेते हैं अतः जैसे बँसूला पराधीन प्रवृत्तिवाला होनेके कारण किसी कर्ता द्वारा किया हुआ है इसीतरह पराधीन प्रवृत्तिवाले होनेके कारण पृथिवी आदि भी किसीके किए हुए हैं। जिसने इन्हें किया है वह ईश्वर है ।

प्रकृतिः सा च पुरुषार्थं प्रति प्रवर्तते। आदिग्रहणाच्च "प्रकृतेर्महान् ततोऽहङ्कारस्तस्माच्च गणः षोडशक स्तस्मादपि षोड़शकात्पञ्चभ्यः पञ्चभूतानी" त्यादिकया प्रक्रियया सृष्टिर्भवतीति। यदि वा आदि

प्रकृति कहते हैं। वह प्रकृति पुरुष यानी आत्माके भोग और मोक्षके लिए क्रियामें प्रवृत्त होती है। यहाँ आदि शब्दसे यह जानना चाहिए कि—"उस प्रकृतिसे महान् अर्थात् बुद्धितत्त्व उत्पन्न होता है और बुद्धितत्त्वसे अहङ्कार और अहङ्कारसे सोलह पदार्थोंका गण उत्पन्न होता है उन गणोंमें से पांच तन्मात्राओंसे पाँच महाभूत उत्पन्न होते हैं, इस क्रमसे यह सम्पूर्ण सृष्टि उत्पन्न होती है। * अथवा यहां,

* साङ्ख्यवादीका कहना है कि इस जगत्के मूलकारण सत्व रज और तम ये तीन गुण हैं। इन्हीं गुणोंसे यह समस्त विश्व उत्पन्न हुआ है। अतएव यह सृष्टि त्रिगुणात्मक कहलाती है। इस जगत्में जितने पदार्थ पाये जाते हैं सभीमें इन तीन गुणोंकी सत्ता देखी जाती है। दृष्टान्तके लिए जैसे—एक सुन्दरी स्त्री है। उस स्त्रीमें सत्व रज और तम ये तीनों गुण पाये जाते हैं क्योंकि वह स्त्री अपने पतिको सुख उत्पन्न करती है सुख उत्पन्न करन सत्त्वगुणका कार्य्य है अतः उस स्त्रीमें सत्त्वगुणका अस्तित्व पाया जाता है। तथा वह स्त्री अपनी सौतको दुःख उत्पन्न करती है इसलिए उसमें रजोगुणका सद्भाव भी है क्योंकि दुःख उत्पन्न करना रजोगुणका कार्य्य है। तथा वह स्त्री कामी पुरुषोंको मोह उत्पन्न करती है इसलिए उसमें तमोगुण भी विद्यमान हैं क्योंकि मोह उत्पन्न करना तमोगुणका कार्य्य है। इसी तरह संसारके सभी पदार्थ सुख दुःख तथा मोह उत्पन्न करते हैं। इसलिए सभी पदार्थ सत्व रज और तम इस त्रिगुणात्मक प्रकृतिसे बने हैं यह सिद्ध होता है वह त्रिगुणात्मक प्रकृति सीधे इस विश्वको नहीं उत्पन्न करती है किन्तु उस प्रकृतिसे पहले बुद्धितत्त्व उत्पन्न होता है और बुद्धितत्त्वसे अहङ्कार उत्पन्न होता है और अहङ्कारसे सोलह गण उत्पन्न होते हैं और सोलह गणोंमें जो पञ्चतन्मात्राये हैं उनसे पथिव्यादि पंच महाभूत उत्पन्न होते हैं इस क्रमसे इस समस्त विश्वको वह प्रकृति उत्पन्न करती है यह साङ्ख्यवादियोंका कथन है जैसे कि ईश्वरकृष्णने सांख्यकारिकामें लिखा है कि "मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृति विकृतयः सप्त षोडशषकस्तुविकारो न प्रकृतिर्नविकृतिः पुरुषः" अर्थात् सत्त्व, रज, तम इन गुणोंकी साम्य अवस्थाको प्रकृति कहते हैं वह प्रकृति किसीसे भी उत्पन्न नहीं है किन्तु नित्य है इसलिए वह अविकृति है अर्थात् वह किसी भी तत्त्वका विकार नहीं है। तथा महत् अहङ्कार एवं गन्धतन्मात्रा, रसतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा और शब्दतन्मात्रा ये सात पदार्थ, दूसरे तत्त्वोंको उत्पन्न करते हैं इसलिये प्रकृति भी है और ये स्वयं दूसरे तत्त्वोंसे उत्पन्न है इसलिए ये विकृति भी है। तथा पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, मन, और पाँच महाभूत ये सोलह तत्त्व किसी दूसरे तत्त्वके उत्पादक नहीं है इसलिए ये किसी भी तत्त्वके प्रकृति नहीं है वल्कि ये स्वयं दूसरे तत्त्वोंसे उत्पन्न हुए हैं इसलिए ये विकृति है। इन सबोंसे भिन्न पुरुष तत्त्व न तो किसीकी प्रकृति (कारण) है और न किसीकी विकृति

ग्रहणात्स्वभावादिकं गृह्यते, ततश्चायमर्थः स्वभावेन कृतो लोकः कण्टकादि तैक्ष्ण्यवत्। तथाऽन्ये नियतिकृतो लोको मयूराङ्गरुहवदित्यादिभिः कारणैः कृतोऽयं लोको 'जीवाजीवसमायुक्तो जीवै रुपयोगलक्षणैस्तथाऽजीवैः—धर्माधर्माकाशपुद्गलादिकैः समन्वितः समुद्रधराधरादिक इति। पुनरपि लोकं विशेषयितुमाह सुखमानन्दरूपं दुःख मसातोदयरूप मिति ताभ्यां समन्वितो युक्त इति ॥ ६ ॥

आदि शब्दसे स्वभाव आदिका ग्रहण है। इसलिए इसका यह अर्थ है कि—जैसे कण्टककी तीक्ष्णता स्वभावकृत है उसी तरह यह समस्त जगत् स्वभावकृत है किसी कर्त्ता द्वारा किया हुआ नहीं है। तथा दूसरे लोग कहते हैं कि जैसे मयूरके रोम नियति वश चित्र होते हैं इसी तरह यह समस्त विश्व नियतिसे उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार पूर्वोक्त ईश्वरादि कारणोंसे उत्पन्न यह लोक जीव और अजीवसे भरा हुआ है अर्थात् समुद्र और पर्वतादि स्वरूप यह समस्त लोक, उपयोग स्वरूप जीव और धर्म, अधर्म, आकाश तथा पुद्गल आदि स्वरूप अजीवोंसे परिपूर्ण है। फिर भी शास्त्रकार लोकका विशेषण बतानेके लिए कहते हैं कि—आनन्दरूप सुख और असाताका उदयरूप दुःख इन दोनोंसे यह समस्त लोक परिपूर्ण है ॥ ६ ॥
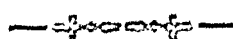
सयंभुणा कडे लोए इति वुत्तं महेसिणा।
मारेण संथुया माया, तेण लोए असासए ॥७॥

छाया—स्वयम्भुवा कृतो लोक इत्युक्तं महर्षिणा।
मारेण संस्तुता माया तेन लोकोऽशाश्वतः ॥

व्याकरण—(सयंभुणा) कर्तृतृतीयान्त। (कडे) प्रथमान्त लोकका विशेषण। (लोए) करण क्रियाका कर्म और अध्याहृत अस्ति क्रियाका कर्ता। (इति) अव्यय (वुत्तं) क्रिया (महेसिणा) वुत्तं का कर्ता। (मारेण) कर्तृतृतीयान्त (संथुया) मायाका विशेषण (माया) उत्पत्तिक्रियाका कर्म (तेण) हेतुतृतीयान्तपद। (लोए) अध्याहृत अस्ति क्रियाका कर्ता (असासए) लोकका विशेषण।

(कार्य्य) है। यही ईश्वरकृष्णकी कारिका का अर्थ है। इसमें सङ्ख्यसम्मत २५ तत्त्वोंका संक्षेपसे स्वरूप बतलाया है। और प्रकृति के द्वारा महदादिक्रमसे सृष्टि होना स्पष्ट कहा है यही यहां टीकाकारने संक्षेपसे लिखा है। अतः टीकाकारकी इस उक्तिमें यह कारिका प्रमाण समझनी चाहिए।

अन्वयार्थ—(सयंभुणा) स्वयम्भुने (लोए) लोकको (कडे) किया है (इति) यह (महेसिणा) हमारे महर्षिने (वुत्तं) कहा है। (मारेण) यमराजने (माया) माया (संथुया) रची है (तेण) इस कारण (लोए) लोक (असासए) अनित्य है।

भावार्थ—कोई अन्यतीर्थी कहते हैं कि विष्णुने इसलोकको रचा है, यह हमारे महर्षिने कहा है। यमराजने माया बनाई है इसलिए यह लोक अनित्य है।

टीका—किञ्च–'सयंभुणा' इत्यादि, स्वयम्भवतीति स्वयम्भूः विष्णुरन्यो वा। सचैक एवादावभूत्, तत्रैकाकी रमते, द्वितीयमिष्टवान्, तच्चिन्तानन्तरमेव द्वितीया शक्तिः समुत्पन्ना तदनन्तरमेव जगत्सृष्टिरभूदिति एवं महर्षिणा उक्तम् अभिहितम्। एवं वादिनो लोकस्य कर्तारमभ्युपगतवन्तः। अपि च तेन स्वयम्भुवा लोकं निष्पाद्यातिभारभयाद्यमाख्यो मारयतीति मारो व्यधायि, तेन मारेण संस्तुता कृता प्रसाधिता माया, तथा च मायया लोकाः म्रियन्ते। न च परमार्थतो जीवस्योपयोगलक्षणस्य व्यापत्तिरस्ति अतो मायैषा यथाऽयं मृतः। तथाचाऽयं लोकोऽशाश्वतः अनित्यो विनाशीति गम्यते ॥ ७ ॥

जो अपने आप होता है उसे "स्वयम्भू" कहते हैं। वह विष्णु हैं अथवा वह दूसरा कोई है। वह पहले एकही थे और एक ही रमण करते थे। उन्होंने दूसरेकी इच्छाकी। उनकी चिन्ताके बादही दूसरी शक्ति उत्पन्न हुई और वह शक्ति होनेके बाद ही यह जगत्की सृष्टि उत्पन्न हुई। ऐसा हमारे महर्षिने कहा है। इस प्रकार लोककी उत्पत्ति माननेवाले वादी, लोकका कर्ता स्वीकार करते हैं। फिर वे कहते हैं कि उस स्वयम्भूने लोकको उत्पन्न कर अत्यन्त भारके भयसे जगत्को मारनेवाला मार अर्थात् यमराजको बनाया उस यमराजने माया बनाई, उस मायासे लोग मरते हैं। वस्तुतः उपयोगरूप जीवका विनाश नहीं होता है इसलिए "यह मर गया" यह बात माया ही है परमार्थतः सत्य नहीं है। इस प्रकार यह लोक अशाश्वत-अनित्य अर्थात् विनाशी है यह प्रतीत होता है ॥ ७ ॥
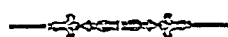
माहणा समणा एगे आह अंडकडे जगे।
असो तत्त मकासी य, अयाणंता मुसं वदे ॥ ८ ॥

छाया—ब्राह्मणाः श्रमणा एके आहुरण्डकृतं जगत्।
असौ तत्त्व मकार्षीच्चा जानन्तो मृषा वदन्ति ॥

व्याकरण—(एगे) ब्राह्मण और श्रमणका विशेषण। (माहणा) (समणा) आह क्रियाका कर्ता (जगे) कर्म (अंडकडे) जगत्का विशेषण (असो) अकार्षीत् क्रियाका कर्ता (तत्तं) कर्म (अकासी) क्रिया (य) अव्यय (अयाणंता) उक्तमतवादीका विशेषण, कर्ता, (मुसं) कर्म (वदे) क्रिया।

अन्वयार्थ—(एगे) कोई (माहणा समणा) ब्राह्मण और श्रमण (जगे) जगत्को (अंडकडे) अंडासे किया हुआ (आह) कहते हैं। (असो) उस (ब्रह्मा) ने (तत्तं) पदार्थ समूहको (अकासी) बनाया (अयाणंता) वस्तुतत्त्वको न जाननेवाले वे (मुसं) झूठही (वदे) ऐसा कहते हैं।

भावार्थ—कोई ब्राह्मण और श्रमण कहते हैं कि यह जगत् अण्डासे किया हुआ है। तथा वे कहते हैं कि ब्रह्मा ने तत्त्व समूहको बनाया। वस्तुतः वे अज्ञानी वस्तुतत्त्वको न जानते हुए मिथ्या ही ऐसा कहते हैं।

अपि च ब्राह्मणा धिग्जातयः श्रमणाः त्रिदण्डिप्रभृतय एके केचन पौराणिकाः न सर्वे, एवम्, आहु रुक्तवन्तो, वदन्ति च यथा—जगदे-तच्चराचर मण्डेन कृत मण्डकृत मण्डाज्जात मित्यर्थः। तथाहि ते वदन्ति—यदा न किञ्चिदपि वस्त्वासीत् पदार्थशून्योऽयं संसार स्तदा ब्रह्माऽप्सु-अण्ड मसृजत् तस्माच्च क्रमेण वृद्धात् पश्चाद् द्विधाभावमुपगतादूर्ध्वाधो विभागोऽभूत्। तन्मध्ये च सर्वाः प्रकृतयो ऽभूवन्, एवं पृथि-व्यप्तेजो वाय्वाकाशसमुद्रसरित्पर्वतमकराकरसंनिवेशादिसंस्थितिरभूदिति।

ब्राह्मण अर्थात् * धिग्जाति तथा त्रिदण्डी आदि श्रमण एवं सब नहीं किन्तु कोई कोई पौराणिक कहते हैं कि यह चराचर जगत् अण्डासे उत्पन्न हुआ है। वे कहते हैं कि जिस समय इस जगत्में कुछ भी नहीं था किन्तु यह संसार पदार्थसे शून्य था उस समय ब्रह्माने जलमें एक अण्डा उत्पन्न किया। वह अण्डा क्रमशः बढ़ता हुआ जब दो खण्डोंमें फट गया तब उससे ऊपर और नीचेके दो विभाग उत्पन्न हुए। उन दोनों विभागोंमें सब प्रजायें हुईं। इसी तरह पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश समुद्र, नदी, और पर्वत आदिकी उत्पत्ति हुई। तथा उन्होंने कहा है (आसीदिदम्) अर्थात् सृष्टिके पहले यह जगत अन्धकाररूप, अज्ञात और लक्षण

* ब्राह्मण शब्द, ब्राह्मण जातिमें प्रसिद्ध है। अतः उसे किसी दूसरे शब्दसे बतानेकी आवश्यकता नहीं है तथापि टीकाकारने "ब्राह्मणाःधिग्जातयः" यह लिखकर ब्राह्मणकी टीका 'धिग्जाति' की है। यह टीका "मघवा मूल विडौजा" टीकाके समान ही मूलसे भी कठिन है। तथा ब्राह्मण अर्थमें धिग्जाति शब्दका प्रयोग भी किसी कोष आदिमें प्रसिद्ध नहीं है अतः टीकाकारने किस आशयसे यहां ब्राह्मणकी टीका 'धिग्जाति' की है यह वही जाने।

तथा चोक्तम् "आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्। अप्रतर्क्य मविज्ञेयं, प्रसुप्तमिव सर्वतः"। १ एवम्भूते चाऽस्मिन् जगति असौ ब्रह्मा, तस्य भाव स्तत्त्वं पदार्थजातं तदण्डादिक्रमेण अकार्षीत् कृतवान् इति। ते च ब्राह्मणादयः परमार्थमजानानाः सन्तो मृषा वदन्त एवं वदन्ति। अन्यथा च स्थितं तत्त्वमन्यथा वदन्तीत्यर्थः ॥ ८ ॥

रहित था। उस समय यह जगत् तर्कका अविषय तथा अज्ञेय और चारो तर्फसे सोया हुआ सा था। ऐसी अवस्थामें ब्रह्माने अण्डा आदिके क्रमसे इस समस्त जगत्को बनाया। इस प्रकार परमार्थको न जानने वाले वे ब्राह्मण आदि झूठ ही इस जगत्को ब्रह्मासे किया हुआ बतलाते हैं। वस्तुतत्त्व तो और तरहका है परन्तु वे उसे और तरहका बतलाते हैं यह इस गाथाका अर्थ है ॥ ८ ॥
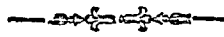
सएहिं परियाएहिं, लोयं बूया कडेति य।
तत्तं ते ण विजाणंति ण विणासी कयाइवि ॥९॥

छाया—स्वकैः पर्यायैर्लोक मब्रुवन् कृतमिति च।
तत्त्वन्ते न विजानन्ति न विनाशी कदाचिदपि ॥

व्याकरण—(सएहिं) पर्यायका विशेषण (परियाएहिं) हेतुतृतीयान्त (लोयं) कर्म (बुया) क्रिया (कडे) लोकका विशेषण (इति य) अव्यय (तत्तं) कर्म (ते) कर्ताका विशेषण सर्वनाम (ण) अव्यय (विजाणंति) क्रिया (ण) अव्यय (कयाइवि) अव्यय (विणासी) लोकका विशेपण।

अन्वयार्थ—(सएहिं) अपने (परियाएहिं) अभिप्रायसे (लोयं) लोकको (कडेति य) किया हुआ (बूया) वे बताते हैं। (ते) वे (तत्तं) वस्तुतत्त्वको (ण विजाणंति) नहीं जानते हैं (कयाइवि) कभी भी (ण विणासी) यह जगत् विनाशी नहीं है।

भावार्थ—पूर्वोक्त देवोप्तादिवादी अपनी इच्छासे जगत् को किया हुआ बतलाते हैं। वे वस्तुस्वरूपको नहीं जानते हैं क्योंकि यह जगत् कभी भी विनाशी नहीं है।

टीका—अधुनैतेषां देवोप्तादिजगद्वादिनामुत्तरदानायाऽऽह—

टीकार्थ—अब सूत्रकार, जगत् को देवता द्वारा किया हुआ आदि सिद्धान्तोंको माननेवाले दार्शनिकोंका उत्तर देनेके लिए कहते हैं।

स्वकैः स्वकीयैः पर्य्यायै रभिप्रायै र्युक्तिविशेषै रयंलोकः कृत इत्येव मब्रुवन् अभिहितवन्तः । तद्यथा देवोप्तो ब्रह्मोप्त ईश्वरकृतः प्रधानादिनिष्पादितः स्वयम्भुवा व्यधायि तन्निष्पादितमायया म्रियते तथाण्डजश्चायं लोक इत्यादि । स्वकीयाभिरूपपत्तिभिः प्रतिपादयन्ति यथाऽस्मदुक्तमेव सत्यं नान्यदिति । ते चैवंवादिनो वादिनः सर्वेऽपि तत्त्वं परमार्थं यथावस्थितलोकस्वभावं नाभि (नवि) जानन्ति न सम्यग् विवेचयन्ति, यथाऽयं लोको द्रव्यार्थतया न विनाशीति—निर्मूलतः कदाचन । नचायमादित आरभ्य केनचित् क्रियते ऽपित्वयं लोकोऽभूद्भवति भविष्यति च । तथाहि—तत्तावदुक्तं यथा 'देवोप्तोऽयं लोक' इति तदसङ्गतम् । यतो देवोप्तत्वे लोकस्य न किञ्चित्तथाविधं प्रमाण मस्ति, नचाप्रमाणक मुच्यमानं विद्वज्जनमनांसि प्रीणयति । अपि च—किमसौ देव उत्पन्नोऽनुत्पन्नो वा लोकं सृजेत् ? न तावदनुत्पन्नस्तस्य खरविषाण-

---

पूर्वोक्त अन्यदर्शनी अपनी इच्छासे अर्थात् युक्तियोंके द्वारा इस लोकको किया हुआ बतलाते हैं कोई इसे देवकृत कोई ब्रह्मकृत और कोई ईश्वरकृत कहते हैं। कोई इसे प्रधानादिकृत और कोई स्वयम्भूकृत कहते हैं। इस लोकको स्वयम्भूकृत कहनेवाले कहते हैं कि यह लोक स्वयम्भू द्वारा रचित मायासे मरता है। तथा कोई इस लोकको अण्डासे उत्पन्न बतलाते हैं इत्यादि। ये लोग अपनी-अपनी युक्तियोंके बलसे कहते हैं कि यह हमारा कहा हुआ सिद्धान्त ही सत्य है दूसरा मत सत्य नहीं है। वस्तुतः पूर्वोक्त इन सिद्धान्तोंको माननेवाले वादी, वस्तुतत्त्वको नहीं जानते हैं। इस लोकका यथार्थ स्वभाव क्या है ? यह वे अच्छी तरह विवेचना नहीं करते हैं। वस्तुतः यह लोक कभी भी एकान्त रूपसे नष्ट नहीं होता है क्योंकि द्रव्य रूपसे यह सदा स्थित रहता है। तथा यह लोक पहले-पहल किसीके द्वारा किया हुआ भी नहीं है किन्तु यह लोक पहले भी था और इस समय भी है तथा भविष्यमें भी रहेगा। तथापि देवोप्तवादियोंने जो इस लोकको देवकृत कहा है वह सर्वथा अयुक्त है क्योंकि यह लोक देवकृत है इस विषयमें कोई उस तरहका प्रबल प्रमाण नहीं है और जो बात विना प्रमाणकी होती है वह विद्वानोंके चित्तको सन्तुष्ट नहीं कर सकती है। दूसरी बात यह है कि जिस देवताने इस लोकको बनाया है वह देवता स्वयं उत्पन्न होकर इस लोकको बनाता है अथवा उत्पन्न हुए विनाही बनता है ? वह उत्पन्न हुए विना इस लोकको नहीं बना सकता है क्योंकि जो उत्पन्न नहीं है वह खरविषाणके समान स्वयमेव विद्यमान नहीं है फिर वह दूसरेको उत्पन्न कैसे कर-

स्यैवासत्त्वात्करणाभावः । अथोत्पन्नः सृजेत् तत्किं स्वतोऽन्यतो वा ? यदि स्वतएवोत्पन्न स्तथासति तल्लोकस्यापि स्वतएवोत्पत्तिः किं नेष्यते ? अथान्यतउत्पन्नः सन् लोककरणाय, सोऽप्यन्योऽन्यतः सोऽप्यन्योऽन्यत- इत्येवमनवस्था लता नभोमण्डलव्यापिन्यनिवारितप्रसरा प्रसर्पतीति । अथाऽसौ देवोऽनादित्वान्नोत्पन्न इत्युच्यते, इत्येवंसति लोकोऽप्यनादिरस्तु, को दोषः ? किञ्च असावनादिः सन्नित्योऽनित्यो वा स्यात् ? यदि नित्य स्तदा तस्य क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधान्नकर्तृत्वम्, अथाऽनित्य- स्तथासति स्वतएवोत्पत्त्यनन्तरं विनाशित्वादात्मनोऽपि न त्राणाय, कुतोऽन्यत्करणम्प्रति तस्य व्यापारचिन्तेति ? तथा किममूर्त्तो मूर्त्तिमान्वा ? यद्यमूर्त्तस्तदाऽऽकाशवदकर्तैव । अथ मूर्त्तिमान्, तथासति प्राकृत

सकता है ? । यदि वह देवता उत्पन्न होकर इस लोकको बनाता है तो क्या वह अपने आप ही उत्पन्न होत है अथवा किसी दूसरेके द्वारा उत्पन्न किया जाता है ? । यदि कहो कि वह अपने आपही उत्पन्न होता है तो उसके लोकको भी अपने आपही उत्पन्न क्यों नहीं मानते हो ? । यदि कहो कि वह देवता दूसरेसे उत्पन्न होकर इस लोकको बनाता है तो वह दूसरा देवता भी किसी तीसरे देवतासे उत्पन्न हुआ होगा और वह तीसरा देवता भी किसी चौथा देवता से उत्पन्न हुआ होगा इस प्रकार अनवस्था दोष आता है । वह अनवस्थारूपी लता अनिवारित रूपसे फैलती हुई समस्त आकाशको पूर्ण करेगी अतः सबका मूल कारण कोई सिद्ध न हो सकेगा । यदि कहो कि वह देवता अनादि होनेके कारण उत्पन्न नहीं होता है तो इसीतरह यह लोक ही अनादि क्यों न मान लिया जाय ? तथा जिस देवने इस लोकको बनाया है वह नित्य है अथवा अनित्य है ? यदि नित्य है तो अर्थ क्रियाके साथ विरोध होनेके कारण वह न तो एक साथ क्रियाओंका कर्ता हो सकता है और न क्रमशः कर्ता हो सकता है । (आशय यह है कि जो पदार्थ नित्य है उसका स्वभाव नहीं बदलता है और स्वभाव बदले विना पदार्थसे क्रियायें नहीं हो सकती हैं अतः वह एक स्वभाववाला नित्य देव, न तो एक साथ क्रियाओंको कर सकता है और क्रमशः कर सकता है । अतः वह जगत्का कर्ता नहीं हो सकता है) यदि वह देव अनित्य है तो उत्पत्तिके पश्चात् स्वयं विनाशी होनेके कारण वह अपनी रक्षा करनेमें भी समर्थ नहीं है फिर वह दूसरेको उत्पत्तिके लिए व्यापारचिन्ता क्या कर सकता है ? तथा जिस देवने इस लोकको बनाया है वह मूर्त्तिमान् है अथवा अमूर्त्त है ? यदि वह अमूर्त्त है तो आकाश की तरह वह अकर्ता ही है । यदि वह मूर्त्तिमान् है

पुरुषस्येवोपकरणसव्यपेक्षस्य स्पष्टमेव सर्वजगदकर्तृत्व मिति। देवगुप्त देवपुत्रपक्षौ त्वतिफल्गुत्वादपकर्णयितव्याविति। एतदेव दूषणं ब्रह्मोप्तपक्षेऽपि द्रष्टव्यं तुल्ययोगक्षेमत्वादिति तथा यदुक्तं—'तनुभुवनकरणादिकं विमत्यधिकरणभावापन्नं विशिष्टबुद्धिमत्कारणपूर्वकं, कार्य्यत्वाद् घटादिवदिति, तदयुक्तं तथाविधविशिष्टकारणपूर्वकत्वेन व्याप्त्यसिद्धेः, कारणपूर्वकत्वमात्रेण तु कार्य्यं व्याप्तं कार्य्यविशेषोपलब्धौ कारणविशेष प्रतिपत्ति र्गृहीतप्रतिबन्धस्यैव भवति, नचात्यन्तादृष्टे तथा प्रतीतिर्भवति। घटे तत्पूर्वकत्वं प्रतिपन्नमिति चेद् युक्तं तत्र घटस्य कार्यविशेषत्व प्रतिपत्तेः, नत्वेवं सरित्समुद्रपर्वतादौ बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वेन सम्बन्धो गृहीत इति। नन्वतएव घटादिसंस्थानविशेषदर्शनवत् पर्वतादावपि विशिष्टसंस्थानदर्शनाद् बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वस्य साधनं क्रियते, नैतदेवं युक्तं,

---

तो कार्य्यकी उत्पत्ति करनेके लिए साधारण पुरुषके समान वह भी उपकरणोंकी अपेक्षा करता है, ऐसी दशामें वह समस्त जगत्का कर्ता नहीं है यह स्पष्ट है। "यह लोक देवगुप्त है अथवा देवपुत्र है" यह मत तो अति तुच्छ होनेके कारण श्रवण करने योग्य भी नहीं है। यही दूषण ब्रह्मोप्त पक्षमें भी देना चाहिए क्योंकि ब्रह्मोप्त पक्ष भी देवगुप्त पक्षके समान ही है। तथा ईश्वरकारणवादियोंने जो यह कहा है कि—"नाना मतवादियोंके नाना मतका स्थानभूत यह शरीर भुवन और इन्द्रिय, किसी विशिष्ट बुद्धिमान्के द्वारा रचित हैं क्योंकि घटके समान ये कार्य्य हैं" यह अयुक्त है क्योंकि किसी विशिष्ट कारणमें कार्य्यकी व्याप्ति गृहीत नहीं होती है किन्तु कारणमें कार्य्यकी व्याप्ति गृहीत * होती है जो पुरुष यह जानता

---

* जैसे घट पट या मठको देखकर यही अनुमान किया जा सकता है कि—ये सब किसी कर्ता द्वारा निर्मित हैं क्योंकि ये कार्य्य है। परन्तु यह अनुमान नहीं किया जा सकता है कि ये घट पटादि अमुक व्यक्तिके द्वारा निर्मित है क्योंकि "यत्र यत्र क्रियाजन्यत्वं तत्र तत्र कर्तृजन्यत्वम्" जो जो कार्य्य हैं वे सब कर्ता द्वारा किए हुए हैं इसप्रकार ही कार्य्यकी व्याप्ति कारणमें गृहीत होती है परन्तु "यत्र यत्र क्रियाजन्यत्वं तत्र तत्र अमुकव्यक्तिजन्यत्वम्" अर्थात् जो जो कार्य्य होता है वह अमुक व्यक्तिके द्वारा निर्मित होता है इस प्रकार कार्य्यकी व्याप्ति कारणमें गृहीत नहीं होती है। घटको देखकर यही कहा जा सकता है कि इसे कुम्हारने बनाया है परन्तु इसे अमुक कुम्हारने बनाया है यह नहीं कहा जा सकता है इसी तरह जगत्को देखकर यही कहा जा सकता है कि यह जगत् कारणसे उत्पन्न हुआ है परन्तु यह जगत् अमुक कारणसे उत्पन्न हुआ है यह नहीं कहा जा सकता है क्योंकि कार्य्यकी व्याप्ति विशिष्ट कारणमें नहीं होती है यह ऊपर कहा जा चुका है।

यतो नहि संस्थानशब्दप्रवृत्तिमात्रेण सर्वस्य बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वाव-गतिर्भवति, यदि तु स्याद् मृद्विकारत्वाद् वल्मीकस्याऽपि घटवत् कुम्भकारकृतिः स्यात्, तथा चोक्तम्—"अन्यथा कुम्भकारेण मृद्विकारस्य कस्यचित्। घटादेः करणा त्सिद्धयेद् वल्मीकस्याऽपि तत्कृतिः। १ इति, तदेवं यस्यैव संस्थानविशेषस्य बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वेन सम्बन्धो गृहीत

है कि अमुक कार्य्य अमुक व्यक्ति ही करता है दूसरा नहीं कर सकता है वह पुरुष उस कार्य्यको देखकर उसके कर्ता उस विशिष्ट व्यक्तिका अनुमान कर सकता है परन्तु जो वस्तु अत्यन्त अदृष्ट है उसमें यह प्रतीति नहीं हो सकती है। अर्थात् जिसकी रचना करता हुआ कोई व्यक्ति कभी भी किसीसे नहीं देखा गया है उस वस्तुको देखकर उसके विशिष्ट कर्ताका अनुमान नहीं किया जा सकता है। यदि कहो कि घटको देखकर उसका कर्ता कुम्हार अनुमान किया जाता है और वह कुम्हार जैसे एक विशिष्ट जातिका पदार्थ है इसी तरह जगत्को देखकर उसका विशिष्ट कर्ता ईश्वर अनुमान किया जा सकता है तो यह ठीक नहीं क्योंकि घट एक विशेष प्रकारका कार्य्य है और उसका कर्ता कुम्हार उसे करता हुआ प्रत्यक्ष देखा जाता है इसलिए घटको देखकर कुम्हारका अनुमान किया जा सकता है परन्तु जगत्को देखकर ईश्वरका अनुमान नहीं किया जा सकता क्योंकि घटको बनाता हुआ कुम्हार जैसे प्रत्यक्ष देखा जाता है उस तरह नदी समुद्र और पर्वत आदिको बनाता हुआ कोई बुद्धिमात् कर्ता (ईश्वर) कभी नहीं देखा जाता है अतः जगत्को देखकर विशिष्ट बुद्धिमान् कर्ताका अनुमान नहीं किया जा सकता है। यदि कहो कि विशिष्ट अवयवरचनायुक्त होनेसे घटादि पदार्थ जैसे बुद्धिमान् कर्ता द्वारा निर्मित हैं इसी तरह विशिष्ट अवयवरचनायुक्त होनेसे पर्वतादि पदार्थ भी बुद्धिमान् कर्ता द्वारा निर्मित हैं यह साधन किया जा सकता है" तो यह भी युक्त नहीं है क्योंकि विशिष्ट अवयवरचना होने मात्रसे सभी पदार्थ बुद्धिमान् कर्ताद्वारा निर्मित हों यह प्रतीति नहीं होती है। यदि यह मानी जाय तो वल्मीक भी मिट्टीका विकार होनेके कारण घटके समान कुम्हारका बनाया हुआ सिद्ध होगा। जैसा कि कुम्हार, घट आदि मिट्टीके पदार्थोंको बनाता है यह देखकर यह नहीं कहा जा सकता है कि जो जो मिट्टीके बने हुए पदार्थ हैं उन सबोका कर्ता कुम्हार है क्योंकि ऐसा माननेसे वल्मीक भी मिट्टीका विकार होनेके कारण कुम्हार द्वारा निर्मित सिद्ध होगा इसी तरह अवयव रचना मात्र देखकर यह नहीं कहा जा सकता है कि जो जो अवयवरचना युक्त है वह बुद्धिमान् कर्ता द्वारा किया हुआ है। किन्तु जिस अवयवरचनाका बुद्धिमान् कर्ता द्वारा निर्मित होना जाना जा चुका है उसी अवयव

स्तद्दर्शनमेव तथाविधकारणानुमापकम्भवति न संस्थानमात्रमिति । अपिच—घटादिसंस्थानानां कुम्भकार एव विशिष्टः कर्तोपलक्ष्यते नेश्वरः यदि पुनरीश्वरः स्यात् किं कुम्भकारेणेति ? नैतदस्ति, तत्राऽपीश्वर एव सर्वव्यापितया निमित्तकारणत्वेन व्याप्रियते, नन्वेवं दृष्टहानि रदृष्टकल्पना स्यात् । तथा चोक्तम्—"शस्त्रौपधादिसम्बन्धाच्चैत्रस्य व्रणरोहणे । असम्बद्धस्य किं स्थाणोः' कारणत्वं न कल्प्यते ? । १ । तदेवं दृष्टकारणपरित्यागेनादृष्टपरिकल्पना न न्याय्येति । अपिच—देवकुलावटादीनां यः कर्ता स सावयवोऽव्याप्यनित्यो दृष्टः, तद्दृष्टान्तसाधितश्चेश्वर एवम्भूत एव प्राप्नोति, अन्यथाभूतस्य च दृष्टान्ताभावाद् व्याप्त्यसिद्धेर्नानुमानमिति ।

रचनाको देखकर उसके विशिष्ट कर्ताका अनुमान किया जा सकता है केवल अवयव रचनाको देखकर नहीं । तथा अवयवरचनाको देखकर ईश्वरका अनुमान भी नहीं हो सकता है क्योंकि घटादि पदार्थोंकी अवयवरचनाका विशिष्ट कर्ता कुम्हार ही देखा जाता है ईश्वर नहीं देखा जाता यदि घटका कर्ता भी ईश्वर ही है तो कुम्हारकी क्या आवश्यकता है ? यदि कहो कि ईश्वर सर्वव्यापी होनेके कारण निमित्त रूपसे घटादि रचनामें भी अपना व्यापार करता है तो इस प्रकार दृष्टकी हानि और अदृष्टकी कल्पनाका प्रसङ्ग आता है क्योंकि घटका कर्ता कुम्हार प्रत्यक्ष उपलब्ध होता है उसे न मानना दृष्टहानि है और घट बनाता हुआ ईश्वर कभी नहीं देखा जाता है उसे घटका निमित्त मानना अदृष्टकी कल्पना है । कहा भी (शस्त्रौषधादि) अर्थात चैत्र नामक पुरुषका व्रण (घाव) शस्त्रके प्रयोग करनेसे और औषधके लेप करनेसे मिटता है इसलिये उसके घावकी निवृत्तिमें शस्त्र और औषध ही कारण हैं दूसरे पदार्थ कारण नहीं हैं परन्तु उस घावके साथ जिसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है ऐसे स्थाणु (ठूँठ) को तुम घाव अच्छा होनेका कारण क्यों नहीं मान लेते ? अतः जिस वस्तुका जो कारण देखा जाता है उसे उसका कारण न मानकर जो उसका कारण नहीं देखा जाता है उसे उसका कारण मानना सर्वथा अन्याय है । तथा देवकुल और गढ्ढा आदिका जो कर्ता है वह सावयव, अव्यापक और अनित्य देखा जाता है इसलिए इनके दृष्टान्तसे सिद्ध किया हुआ ईश्वर भी सावयव, अव्यापक, तथा अनित्य ही सिद्ध होता है । इससे विपरीत यानी निरवयव व्यापक और नित्य ईश्वरकी सिद्धि के लिए कोई दृष्टान्त नहीं मिलता है इसलिए व्याप्तिकी सिद्धि न होनेसे निरवयव व्यापक और नित्य ईश्वरका अनुमान नहीं हो सकता है । जिस प्रकार यह कार्य्यत्व हेतु, ईश्वरकी सिद्धिके लिए समर्थ नहीं हैं इसी तरह पूर्वोक्त "स्थित होकर प्रवृत्त होना" आदि हेतु भी उक्त ईश्वरकी सिद्धिके लिए समर्थ नहीं है यह

अनयैव दिशा स्थित्वा प्रवृत्त्यादिकमपि साधन मसाधन मायोज्यं तुल्य-योगक्षेमत्वादिति। यदपिचोक्तं "प्रधानादिकृतोऽयंलोक "इति तदप्य-सङ्गतं, यतस्तत्प्रधानं किं मूर्त्तममूर्त्तंवा? यद्यमूर्त्तं न ततो मकराकरादे मूर्त्तस्योद्भवो घटते, नह्याकाशात्किञ्चिदुत्पद्यमान मालक्ष्यते, मूर्तामूर्तयोः कार्य्यकारणविरोधादिति। अथ मूर्त्तं तत्कुतः समुत्पन्नं? न तावत्स्वतो, लोकस्याऽपि तथोत्पत्तिप्रसङ्गात्। नाप्यन्यतोऽनवस्थापत्तेरिति। यथाऽनु-त्पन्नमेव प्रधानाद्यनादिभावेनाऽऽस्ते तद्वल्लोकोऽपि किं नेष्यते? अपिच— सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रधानमित्युच्यते, नचाविकृतात्प्रधानान्महदादे रुत्पत्तिरिष्यते भवद्भिः, नच विकृतं प्रधानव्यपदेशमास्कन्दतीत्यतो न प्रधानान्महदादेरुत्पत्तिरिति। अपिच अचेतनायाः प्रकृतेः कथं पुरुषार्थं प्रति प्रवृत्तिः? येनाऽत्मनो भोगोपपत्त्या सृष्टिः स्यादिति, प्रकृतेरयं स्वभाव इति चेदेवं तर्हि स्वभाव एव वलीयान् यस्तामपि प्रकृतिं नियमयति, तत-

---

स्वयं योजना करलेनी चाहिए क्योंकि यह हेतु भी कार्य्यत्व हेतुके समान ही इष्ट अर्थका साधक नहीं है। तथा यह जो पहले कहा है कि—"यह लोक प्रधानादि-कृत है" इत्यादि, यह भी असङ्गत है क्योंकि वह प्रधान मूर्त्त है अथवा अमूर्त्त है? यदि वह अमूर्त्त है तो उससे मूर्त्तिमान समुद्र आदि नहीं उत्पन्न हो सकते हैं क्योंकि अमूर्त्त आकाशसे किसी भी वस्तुकी उत्पत्ति नहीं देखी जाती है इसलिए मूर्त और अमूर्त्तका परस्पर कार्य्यकारणभाव विरुद्ध है। यदि वह प्रधान मूर्त्त है तो वह स्वयं किससे उत्पन्न हुआ? उसे स्वयं उत्पन्न तुम नहीं कह सकते क्योंकि प्रधानके समान ही यह लोक भी स्वयं उत्पन्न क्यों न माना जावे? वह प्रधान दूसरेसे उत्पन्न है यह भी नहीं कह सकते क्योंकि इसप्रकार अनवस्था दोष आता है अतः जैसे प्रधानको उत्पन्न हुए विना ही अनादि भावसे स्थित मानते हो इसी तरह लोकको ही अनादिभावसे स्थित क्यों नहीं मानते? तथा सत्त्व, रज, और तमकी साम्य अवस्थाको तुम प्रधान कहते हो उस अविकृत प्रधानसे महत् आदि पदार्थोंकी उत्पत्ति मानना तुमको इष्ट नहीं है किन्तु विकृत प्रधानसे जगत्की उत्पत्ति बतलाते हो और जो विकृत है वह प्रधान नहीं है इसलिए प्रधानसे महत् आदिकी उत्पत्ति मानना असङ्गत है। तथा प्रकृति अचेतन है वह पुरुषका प्रयोजन सिद्ध करनेके लिए कैसे प्रवृत्त हो सकती है जिससे आत्माका भोग सिद्ध होकर सृष्टिरचना हो सके? यदि कहो कि अचेतन होनेपर भी प्रकृतिका यह स्वभाव है कि वह पुरुषका प्रयोजन सिद्ध करनेके लिए प्रवृत्त होती है तब तो प्रकृतिसे स्वभाव ही बलवान् है

एव च लोकोऽप्यस्तु किमदृष्टप्रधानादिकल्पनयेति ? । अथादिग्रहणात् स्वभावस्याऽपि कारणत्वं कैश्चिदिष्यत इति चेदस्तु, न हि स्वभावोऽभ्युपगम्यमानो नः क्षति मातनोति। तथाहि—स्वो भावः स्वभावः स्वकीयोत्पत्तिः सा च पदार्थाना मिष्यत एवेति। तथा यदुक्तं "नियतिकृतोऽयंलोक" इति, तत्राऽपि नियमनं नियति र्येद्यथा भवनं नियतिरित्युच्यते, सा चालोच्यमाना न स्वभावादतिरिच्यते । यच्चाऽभ्यधायि—"स्वयम्भुवोत्पादितो लोक" इति तदप्यसुन्दरमेव, यतः स्वयम्भूरिति किमुक्तम्भवति ? किं यदाऽसौ भवति तदा स्वतन्त्रोऽन्यनिरपेक्ष एव भवति, अथानादिभवनात्स्वयम्भूरिति व्यपदिश्यते ? तद्यदि स्वतन्त्रभवनाऽभ्युपगमस्तद्वल्लोकस्यापि भवनं किं नाऽभ्युपेयते ? किं स्वयम्भुवा ? अथाऽनादि स्ततस्तस्याऽनादित्वे नित्यत्वं नित्यस्यचैकरूपत्वात्कर्तृत्वाऽनुपपत्तिः, तथा वीतरागत्वात्तस्य संसारवैचित्र्यानुपपत्तिः, अथ सरागोऽसौ ततोऽस्मदाद्यव्यतिरेकात्सुतरां

क्योंकि वह प्रकृतिको भी नियममें रखता है ऐसी दशामें तुम स्वभावको ही जगत्का कारण क्यों नहीं मानते अदृष्ट प्रकृति आदिकी कल्पनाका क्या प्रयोजन है ? यदि कहो कि "आदि शब्दसे कोई स्वभावको भो जगत्का कारण मानता है" तो मानने दो। स्वभावको जगत्का कारण माननेपर आर्हतोंकी कोई हानि नहीं है क्योंकि अपने भावको यानी अपनी उत्पत्तिको स्वभाव कहते हैं और पदार्थोंकी उत्पत्ति आर्हतोंको इष्ट ही है। तथा नियतिवादियोंने जो कहा है कि "यह लोक नियतिकृत है" तो इस पक्षमें भी कोई दोष नहीं है क्योंकि जो पदार्थ जैसा है उसका वैसा होना नियति है। विचार करनेपर वह नियति स्वभावसे अतिरिक्त नहीं प्रतीत होती है। तथा पहले जो यह कहा है कि—"यह लोक स्वयम्भू द्वारा रचित है" यह भी ठीक नहीं है क्योंकि 'स्वयम्भू' शब्दका अर्थ क्या है ? जिस समय वह स्वयम्भू होते हैं उस समय वह दूसरे किसी कारणकी अपेक्षा किये विना क्या स्वतन्त्र रूपसे होते हैं ? इसलिए वह 'स्वयम्भू' कहलाते हैं अथवा वह अनादि हैं इसलिए स्वयम्भू कहलाते हैं ? यदि वह अपने आप होनेके कारण 'स्वयम्भू' कहलाते हैं तो इसी तरह इस लोकको अपने आप उत्पन्न होना क्यों नहीं मानलेते ? उस स्वयम्भूकी क्या आवश्यकता है ? यदि वह स्वयम्भू अनादि होनेके कारण स्वयम्भू कहलाते हैं तो वह जगतके कर्ता नहीं हो सकते क्योंकि जो अनादि होता है वह नित्य होता है और नित्य पदार्थ एकरूप होता है इसलिए वह नित्य स्वयम्भू जगत्का कर्ता नहीं हो सकते। वह स्वयम्भू यदि वीतराग हैं तो वह इस विचित्र

विश्वस्याकर्ता । मूर्त्तामूर्त्तादिविकल्पाश्च प्राग्वदायोज्या इति । यदपि चात्राऽभिहितम्—'तेन मारः समुत्पादितः, स च लोकं व्यापादयति' तदप्यकर्तृत्वस्याभिहितत्वात्प्रलापमात्रमिति । तथा यदुक्तम् "अण्डादिक्रमजोऽयं लोक' इति तदप्यसमीचीनं, यतो यास्वप्सु तदण्डं निसृष्टं ताः यथाऽण्डमन्तरेणाभूवन् तथा लोकोऽपि भूत इत्यभ्युपगमे न काचिद् बाधा दृश्यते । तथाऽसौ ब्रह्मा यावदण्डं सृजति तावल्लोकमेव कस्मान्नोत्पादयति ? किमनया कष्टया युक्त्यसङ्गतया चाण्डपरिकल्पनया? एवमस्त्विति चेत् तथा केचिदभिहितवन्तो यथा ब्रह्मणो मुखाद् ब्राह्मणाः समजायन्त बाहुभ्यां क्षत्रिया उरुभ्यां वैश्याः पद्भ्यां शूद्रा इति, तदप्ययुक्तिसङ्गतमेव, यतो न मुखादेः कस्यचिदुत्पत्तिर्भवन्त्युपलक्ष्यते । अथाऽपि स्यात्तथासति वर्णानामभेदः स्याद्, एकस्मादुत्पत्तेः । तथा ब्राह्मणानां कठतैत्तिरीयककलापादिकश्च भेदो न स्याद्, एकस्मान्मुखादुत्पत्तेः । एवञ्चोपनयनादिसद्भावो न भवेद् भावे वा स्वस्रादिग्रहणा-

---

जगत्के कर्ता नहीं हो सकते और यदि वह सराग हैं तो हमलोगोंके समान ही वह सुतरां विश्वके कर्ता नहीं हैं। इसी तरह मूर्त्त और अमूर्त्त आदि विकल्पोंका भी यहाँ सञ्चार करना चाहिये। तथा यह जो कहा है कि—"उस स्वयम्भूने यमराजको उत्पन्न किया और वह यमराज लोकको मारता है" यह भी प्रलाप मात्र है क्योंकि स्वयम्भू, जगत्का कर्ता नहीं हो सकते यह कहा जा चुका है। तथा किसीने जो यह कहा है कि—"यह लोक अण्डा आदि क्रमसे उत्पन्न हुआ है यह भी असङ्गत है क्योंकि जिस जलमें उस स्वयम्भूने अण्डा उत्पन्न किया वह जल जैसे अण्डाके विनाही उत्पन्न हुआ था उसी तरह यह लोक भी अण्डाके विनाही उत्पन्न हुआ यह मानलेनेमें कोई बाधा नहीं है। तथा वह ब्रह्मा जबतक अण्डा बनाता है तबतक वह इसलोकको ही क्यों नहीं बना देता है ? अतः युक्तिविरुद्ध अण्डाकी कष्ट कल्पनाका क्या प्रयोजन है ? यदि कहो कि ऐसा ही हो, अर्थात् अण्डाके विना ही ब्रह्मा सृष्टि उत्पन्न करता है यही मानो क्योंकि किसीने कहा है कि—"ब्रह्माके मुखसे ब्राह्मण बाहुसे क्षत्रिय उरुसे वैश्य और पैरसे शूद्र हुए" परन्तु यह कथन भी युक्ति विरुद्ध है क्योंकि मुख आदिके द्वारा किसीकी उत्पत्ति नहीं देखी जाती है। यदि ऐसा हो तो ब्राह्मणादि वर्णोंका परस्पर भेद न रहेगा क्योंकि वे सभी एक ही ब्रह्मासे उत्पन्न हैं। तथा ब्राह्मणोंका कठ, तैत्तिरीयक, और कलाप आदि भेद भी नहीं हो सकेगा क्योंकि सभी एक ही मुखसे उत्पन्न हैं। तथा ब्राह्मणोंका उपनयन विवाह आदि संस्कार भी

पत्तिः स्याद् एवमाद्यनेकदोषदुष्टत्वादेवं लोकोत्पत्ति र्नाभ्युपगन्तव्या। ततश्च स्थितमेतत्—त एवंवादिनो लोकस्यानाद्यपर्य्यवसितस्योर्ध्वाधश्चतुर्दशरज्जुप्रमाणस्य, वैशाखस्थानस्थकटिन्यस्तकरयुग्मपुरुषाकृतेरधोमुखमल्लकाकारसप्तपृथिव्यात्मकाधोलोकस्य, स्थालाकारासंख्येयद्वीप समुद्राधारमध्यलोकस्य, मल्लकसमुद्गकाकारोर्ध्वलोकस्य, धर्माधर्माकाशपुद्गल जीवात्मकस्य, द्रव्यार्थतया नित्यस्य, पर्य्यायापेक्षया क्षणक्षयिणः, उत्पाव्ययध्रौव्याषादितद्रव्यसतत्त्वस्यानादिजीवकर्मसम्बन्धापादितानेकभवप्रपञ्चस्याष्टविधकर्मविप्रमुक्ताऽऽत्मलोकान्तोपलक्षितस्य तत्त्वमजानानाः मृषा वदन्तीति ॥ ९ ॥

नहीं हो सकेंगे। यदि हों तो बहिनके साथ विवाह मानना पड़ेगा। अतः इस प्रकारके अनेकों दोष होने कारण ब्रह्माके मुख आदिसे सृष्टिकी उत्पत्ति मानना ठीक नहीं है। अतः यह सिद्ध होता है कि पूर्वोक्त मतवादी लोग इस लोकका यथार्थस्वरूप न जानते हुए मिथ्या भाषण करते हैं। वस्तुतः यह लोक अनादि और अनन्त है। यह लोक ऊपर तथा नीचे चौदह रज्जु प्रमाणवाला है और रङ्गशालामें, कमरपर हाथ रखकर नाचनेके लिए खड़े हुए पुरुषके समान आकारवाला है। यह लोक, नीचे मुख किये हुए शरावके समान आकारवाले नीचेके सात लोकोंसे युक्त है। तथा थालीके समान आकारवाले असंख्यात द्वीप और समुद्रके अधारभूत मध्यलोकसे युक्त है। एवं शरावकी पेटीके समान यह ऊर्ध्व लोकसे युक्त है। यह लोक, धर्म अधर्म आकाश पुद्गल और जीवात्मक है। यह द्रव्यार्थरूपसे नित्य और पर्य्याय रूपसे क्षणक्षयी है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे युक्त होनेके कारण यह लोक द्रव्य स्वरूप है। अनादिकालिक जीव और कर्मके सम्बन्धसे उत्पन्न अनेक भवप्रपञ्चसे यह युक्त है। तथा आठ प्रकारके कर्मों से रहित मुक्त जीवोंका लोक इसके अन्तमें है। ऐसे जगत्का स्वरूप नहीं जाननेवाले अन्यदर्शनी मिथ्या भाषण करते हैं ॥९॥
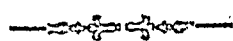
असगुन्नसमुप्पायं, दुक्खमेव विजाणिया।
समुप्पायमजाणंता, कहं नायंति संवरं ? ॥१०॥

छाया—अमनोज्ञसमुत्पादं दुःखमेव विजानीयात्।
समुत्पादमजानन्तः कथं ज्ञास्यन्ति संवरम् ॥

व्याकरण—(अमणुन्नसमुप्पायं) दुःखका विशेषण है । (दुक्खं) 'विजाणिया' क्रियाका कर्म है । (एव) अव्यय । (समुप्पायं) 'अजाणंता' का कर्म (अजाणंता) देवोप्तादिवादियोंका विशेषण (कहं) अव्यय । (नायंति) क्रिया (संवरं) कर्म ।

अन्वयार्थ—(दुक्खं) दुःख (अमणुन्नसमुप्पायमेव) अशुभ अनुष्ठानसे ही उत्पन्न होता है (विजाणिया) यह जानना चाहिए । (समुप्पायं) दुःखकी उत्पत्तिका कारण (अजाणंता) न जाननेवाले लोग (संवरं) दुःखकेरोकनेका उपाय (कहं) कैसे (नायंति) जान सकते हैं ।

भावार्थ—अशुभ अनुष्ठान करनेसे ही दुःखकी उत्पत्ति होती है । जो लोग दुःखकी उत्पत्तिका कारण नहीं जानते हैं वे दुःखके नाशका कारण कैसे जान सकते हैं ?

टीका—इदानीमेतेषामेव देवोप्तादिवादिनामज्ञानित्वं प्रसाध्य तत्फलदिदर्शयिषयाऽऽह—

मनोऽनुकूलं मनोज्ञं—शोभनमनुष्ठानं न मनोज्ञममनोज्ञम् असदनुष्ठानं तस्मादुत्पादः प्रादुर्भावो यस्य दुःखस्य तदमनोज्ञसमुत्पादम्, एवकारोऽवधारणे, स चैवं संबन्धनीयः अमनोज्ञसमुत्पादमेव दुःखमित्येवं विजानीयादवगच्छेत्प्राज्ञः । एतदुक्तम्भवति—स्वकृतासदनुष्ठानादेव दुःखस्योद्भवो भवति नान्यस्मादिति, एवं व्यवस्थितेऽपि सति अनन्तरोक्तवादिनोऽसदनुष्ठानोद्भवस्य दुःखस्य समुत्पादमजानानाः सन्तोऽन्यत ईश्वरादे दुःखस्योत्पादमिच्छन्ति, ते चैवमिच्छन्तः कथं केन प्रकारेण दुःखस्य संवरं दुःखप्रतिघातहेतुं ज्ञास्यन्ति । निदानोच्छेदेन हि

टीकार्थ—इन देवोप्तादिवादियोंको अज्ञानी सिद्ध करके अब सूत्रकार, इनको जो फल प्राप्त होता है वह दिखानेके लिए कहते हैं—

जो मनके अनुकूल है उसे 'मनोज्ञ' कहते हैं । शोभन अनुष्ठान 'मनोज्ञ' कहलाता है । जो मनोज्ञ नहीं है उसे अमनोज्ञ कहते हैं वह असत् अनुष्ठान है । उस असत् अनुष्ठानसे जिसकी उत्पत्ति होती है उसे "अमनोज्ञसमुत्पाद" कहते हैं । एवकार अवधारणार्थक है । उसका सम्बन्ध इस प्रकार करना चाहिए । अशुभ अनुष्ठान करनेसे ही दुःख उत्पन्न होता है यह बुद्धिमान् पुरुषको जानना चाहिए । आशय यह है कि—अपने किये हुए अशुभ अनुष्ठानसे ही दुःखकी उत्पत्ति होती है किसी दूसरेसे नहीं होती है । ऐसी व्यवस्था होनेपर भी पूर्वोक्त वादी, अशुभ अनुष्ठानसे होनेवाली दुःखकी उत्पत्ति नहीं जानते हुए ईश्वर आदि अन्य पदार्थके द्वारा दुःखकी उत्पत्ति मानते हैं । वे इस प्रकार दुःखकी उत्पत्ति माननेवाले

निदानेन उच्छेदो भवति । ते च निदानमेव न जानन्ति, तच्चाजानानाः कथं दुःखोच्छेदाय यतिष्यन्ते ? यत्नवन्तोऽपि च नैव दुःखोच्छेदनमवाप्स्यन्ति, अपि तु संसार एव जन्मजरामरणेष्टवियोगाद्यनेकदुःखव्राताघाताः भूयोभूयोऽरहट्टघटीन्यायेनानन्तमपि कालं संस्थास्यन्ति ॥ १० ॥

दुःखके नाशका कारण कैसे जान सकते हैं ? कारणके नाशसे कार्य्यका नाश होता है परन्तु वे अन्यतीर्थी दुःखके कारणको ही नहीं जानते हैं । दुःखके कारणको न जानते हुए वे दुःखके नाशके लिए किस तरह प्रयत्न कर सकेंगे ? । यदि वे प्रयत्न करें तो भी दुःखका नाश नहीं कर सकते हैं अपितु जन्म, जरा, मरण और इष्ट वियोगरूप अनेकों दुःखोंसे पीड़ित होते हुए वे लोग अरहटकी तरह अनन्तकाल तक संसारमें ही पड़े रहेंगे ॥ १० ॥
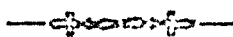
सुद्धे अपावए आया, इहमेगेसि माहियं ।
पुणो किड्डापदोसेणं सो तत्थ अवरज्झई ॥११॥

छाया—शुद्धोऽपापक आत्मा, इहैकेषामाख्यातम् ।
पुनः क्रीडाप्रद्वेषेण स तत्रापराध्यति ॥

व्याकरण—(सुद्धे) आत्माका विशेषण । (अपावए) आत्माका विशेषण । (आया) कर्ता (इह) अव्यय (एगेसिं) कर्तृषष्ठ्यन्त (आहियं) क्रिया (पुणो) अव्यय । (किड्डायदोसेणं) हेतुतृतीयान्त (सो) कर्ता (तत्थ) अव्यय (अवरज्झई) क्रिया ।

अन्वयार्थ—(इह) इस जगतमें (एगेसिं) किन्हीका (आहियं) कथन है कि (आया) आत्मा (सुद्धे) शुद्ध (अपावए) और पापरहित है (पुणो) फिर (सो) वह आत्मा (किड्डापदोसेणं) रागद्वेषके कारण (तत्थ) वहीं (अवरज्झई) बंध जाता है ।

भावार्थ—इस जगतमें किन्हीका कथन है कि आत्मा शुद्ध और पाप रहित है फिर भी वह राग द्वेषके कारण बँध जाता है ।

टीका—साम्प्रतं प्रकारान्तरेण कृतवादिमतमेवोपन्यस्यन्नाह—

इह अस्मिन् कृतवादिप्रस्तावे त्रैराशिकाः गोशालकमतानुसारिणो

टीकार्थ—अब सूत्रकार दूसरे प्रकारसे कृतवादियोंके मतको ही बताते हुए कहते हैं—

जो आत्माकी तीन राशि अर्थात् तीन अवस्थामें बतलाता है उसे त्रैराशिक कहते हैं । गोशालक मतके अनुयायी श्रमण आत्माकी तीन अवस्थायें मानते हैं

येषामेकविंशतिसूत्राणि पूर्वगतत्रैराशिकसूत्रपरिपाट्या व्यवस्थितानि । ते एवं वदन्ति—यथाऽयमात्मा शुद्धो मनुष्यभव एव शुद्धाचारो भूत्वा अपगताशेषमलकलङ्को मोक्षेऽपापको भवति—अपगताशेषकर्मा भवतीत्यर्थः । इदमेकेषां गोशालकमतानुसारिणामाख्यातम् । पुनरसावात्मा शुद्धत्वाकर्मकत्वराशिद्वयावस्थो भूत्वा क्रीडया प्रद्वेषेण वा स तत्र मोक्षस्थ एव अपराध्यति रजसा श्लिष्यते । इदमुक्तं भवति—तस्य हि स्वशासनपूजामुपलभ्यान्यशासनपराभवञ्चोपलभ्य क्रीडोत्पद्यते—प्रमोदः सञ्जायते, स्वशासनन्यक्कारदर्शनाच्च द्वेषः, ततोऽसौ क्रीडाद्वेषाभ्यामनुगतान्तरात्मा शनैः शनैर्निर्मलपटवदुपभुज्यमानो रजसा मलिनीक्रियते । मलीमसश्च कर्मगौरवाद्भूयः संसारेऽवतरति । अस्याश्चावस्थायां सकर्मकत्वात्तृतीयराश्यवस्थो भवति ॥ ११ ॥

इसलिए वे 'त्रैराशिक' हैं । इन श्रमणोंके पूर्वगत त्रैराशिक सूत्रोंके क्रमसे एकईस सूत्र हैं । इस कृतवादियोंके प्रकरणमें, गोशालक मतानुयायी श्रमण कहते हैं कि—यह आत्मा मनुष्यभवमें ही शुद्ध आचरण वाला होकर मोक्षमें समस्त मलकलङ्कसे रहित निष्पाप हो जाता है अर्थात् वह मोक्षमें समस्त कर्मोंसे रहित हो जाता है । यह गोशालक मतानुयायी श्रमण कहते हैं । इस प्रकार वह आत्मा शुद्धता और अकर्मता रूप दो अवस्थाओंमें स्थित होकर फिर राग अथवा द्वेषके कारण मोक्षमें ही कर्म रजसे लिप्त हो जाता है । आशय यह है कि—उस आत्माको अपने शासन की पूजा और परशासनका अनादर देखकर हर्ष उत्पन्न होता है तथा अपने शासनका अपमान देखकर द्वेष होता है इस कारण वह आत्मा रागद्वेषसे ,लिप्त होता हुआ जैसे उपभोग करनेसे निर्मल वस्त्र मलिन होता है उसी तरह धीरे धीरे कर्मरजसे मलिन कर दिया जाता है । इस प्रकार मलिन किया हुआ वह आत्मा कर्मके गौरव (भार) से फिर संसारमें उतरता है । इस अवस्थामें कर्मयुक्त होनेके कारण वह आत्मा, तीसरी राशिकी अवस्थामें अर्थात् सकर्मावस्थामें होता है ॥ ११ ॥
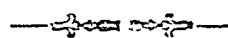
इह संवुडे मुणी जाए, पच्छा होइ अपावए ।
वियडंबु जहा भुज्जो, नीरयं सरयं तहा ॥१२॥

छाया—इह संवृतो मुनिर्जातः पश्चाद्भवत्यपापकः ।
विकटाम्बु यथा भूयो नीरजस्कं सरजस्कं तथा ॥

व्याकरण—(इह) अव्यय (संवुडे, जाए, अपावए) मुनिके विशेषण (पच्छा) अव्यय (मुणी) कर्ता (होइ) क्रिया। (जहा, भुज्जो, तहा) अव्यय (नीरयं, सरयं) विकटाम्बुके विशेषण (वियडंबु) कर्ता।

अन्वयार्थ—(इह) इस मनुष्य भवमें जो जीव, (संवुडे) यम नियम रत (मुणी जाए) मुनि होता है (पच्छा अपावए होइ) वह पीछे पाप रहित हो जाता है। (जहा) जैसे (नीरयं) निर्मल (वियडंबु) जल (भुज्जो) फिर (सरयं) मलिन हो जाता है (तहा) उसी तरह वह निर्मल आत्मा फिर मलिन हो जाता है।

भावार्थ—जो जीव मनुष्यभवको पाकर यम नियममें तत्पर रहता हुआ मुनि होता है वह पीछे पाप रहित हो जाता है। फिर जैसे निर्मल जल मलिन होता है। उसी तरह वह भी मलिन हो जाता है।

टीका—अधुनैतद्दूषयितुमाह—

किञ्च—इह अस्मिन् मनुष्यभवे प्राप्तः सन् प्रव्रज्यामभ्युपेत्य संवृतात्मा–यम नियमरतो जातः सन् पश्चादपापो भवति—अपगताशेषकर्म कलङ्को भवतीति भावः। ततः स्वशासनं प्रज्वाल्य मुक्त्यवस्थो भवति। पुनरपि स्वशासनपूजादर्शनान्निकारोपलब्धेश्च रागद्वेषोदयात् कलुषितान्तरात्मा विकटाम्बुवद् उदकवन्नीरजस्कं सद्वातोद्धतरेणुनिवहसम्पृक्तं सरजस्कं-मलिनं भूयो यथा भवति तथाऽयमप्यात्माऽनन्तेन कालेन संसारो

टीकार्थ—अब इस मतको दूषित करनेके लिए शास्त्रकार कहते हैं—

जो जीव, मनुष्य भवको प्राप्त करके प्रव्रज्या धारण कर यम नियममें रत रहता है वह पाप रहित हो जाता है। वह समस्त कर्मकलङ्कसे रहित होजाता है यह भाव है। इसके पश्चात वह पुरुष, अपने शासनको प्रज्वलित करके मुक्तिगामी होता है। फिर वह अपने शासनकी पूजा देखकर राग करता है और तिरस्कार देखकर द्वेष करता है। इस प्रकार राग द्वेषके उदयसे वह पुरुष इस प्रकार मलिनात्मा हो जाता है जैसे निर्मल जल पहले स्वच्छ होकर भी पीछे वायुके द्वारा उड़ाई हुई धूलिके संयोगसे मलिन हो जाता है। आशय यह है कि वह जीव अनन्तकालके पश्चात् संसारसे उद्विग्न होकर शुद्धाचारसम्पन्न होता है और शुद्धाचारसम्पन्न होकर मोक्षको प्राप्त करके कर्म रहित हो जाता है परन्तु वह फिर अपने शासनकी पूजा और तिरस्कार देखकर राग द्वेष करता है। राग द्वेष करनेके कारण वह फिर कर्म सहित हो जाता है। इस प्रकार त्रैराशिक मतमें आत्मा तीन राशि (अवस्थाओं) को प्राप्त करता है। कहा भी है—(दग्धेन्धनः) हे भगवन्। तुम्हारे शासनको न मानने वाले पुरुषोंपर मोहका साम्राज्य देखा जाता है। वे मूर्ख, कहते हैं कि

द्वेगाच्छुद्धाचारावस्थो भूत्वा ततो मोक्षावाप्तौ सत्यामकर्मावस्थो भवति। पुनः शासनपूजानिकारदर्शनाद्रागद्वेषोदयात् सकर्मा भवतीति। एवं त्रैराशिकानां राशित्रयावस्थो भवत्यात्मेत्याख्यातम्। उक्तञ्च—"दग्धेन्धनः पुनरुपैति भवं प्रमथ्य, निर्वाणमप्यनवधारितभीरुनिष्ठम्। मुक्तः स्वयं कृतभवश्च परार्थशूरस्त्वच्छासनप्रतिहतेष्विह मोहराज्यम्?॥१२॥

मुक्त जीव फिर संसारमें आता है परन्तु यह उनके मोहका प्रभाव है। जो काष्ठ जल गया है वह फिर नहीं जलता है इसी तरह संसारको मथन करके जो जीव, मुक्त हो गया है वह फिर संसारमें नहीं आता है तथापि वे अन्य तीर्थी मुक्त होकर फिर स्वयं संसारमें आना मानते हैं और दूसरेको मुक्ति दिलानेके लिए शूर बनते हैं॥१२॥

एताणुवीति मेधावी, बंभचेरे ण ते वसे।
पुढो पावाउया सव्वे, अक्खायारो सयं सयं॥ १३ ॥

छाया—एताननुचिन्त्य मेधावी, ब्रह्मचर्य्ये न ते वसेयुः।
पृथक् प्रावादुकाः सर्वे आख्यातारः स्वकं स्वकम्॥

व्याकरण—(मेधावी) कर्ता (एता) कर्म (अणुवीति) पूर्वकालिक क्रिया (बंभचेरे) अधिकरण (ण) अव्यय (ते) कर्ता (वसे) क्रिया (पुढो) अव्यय (पावाउया) कर्ता (सव्वे) प्रावादुकका विशेषण सर्वनाम। (सयं सयं) कर्म (अक्खायारो) क्रिया।

अन्वयार्थ—(मेधावी) बुद्धिमान् पुरुष (एताणुवीति) इन लोगोंको विचार कर यह निश्चय करे कि (ते बंभचेरे ण वसे) वे अन्यतीर्थी ब्रह्मचर्य्यमें स्थित नहीं है (सव्वे पावाउया) सब प्रावादुक (पुढो) अलग अलग (सयं सयं) अपने अपने सिद्धान्तको (अक्खायारो) अच्छा बतलाते हैं।

भावार्थ—बुद्धिमान् पुरुष, इन अन्यतोर्थियोंको विचार कर यह निश्चय करे कि ये लोग ब्रह्मचर्य पालन नहीं करते हैं तथा ये सभी प्रावादुक, अपने अपने सिद्धान्तको अच्छा बतलाते हैं।

एतान् पूर्वोक्तान् वादिनोऽनुचिन्त्य मेधावी प्रज्ञावान् मर्य्यादाव्यवस्थितो वा एतदवधारयेत् यथा—नैते राशित्रयवादिनो देवोप्तादिलोक-

मर्य्यादामें स्थित अथवा बुद्धिमान् पुरुष, पूर्वोक्त इन प्रावादुकोंको विचार कर यह निश्चय करे कि "ये राशित्रयवादी (आत्माकी तीन अवस्था मानने वाले) और

वादिनश्च ब्रह्मचर्य्ये तदुपलक्षिते वा संयमानुष्ठाने वसेयुः अवतिष्ठेरन्निति। तथाहि—तेषामयमभ्युपगमो यथा स्वदर्शनपूजानिकारदर्शनात्कर्मबन्धो भवति, एवञ्चावश्यं—तद्दर्शनस्य पूजया तिरस्कारेण चोभयेन वाप्यान्यं तत्सम्भवाच्च कर्मोपचयस्तदुपचयाच्च शुद्ध्यभावः शुद्ध्यभावाच्च मोक्षाभावः। न च मुक्तानामपगताशेषकर्मकलङ्कानां कृतकृत्यानामवगताशेषयथावस्थित-वस्तुतत्त्वानां समस्तुतिनिन्दानामपगतात्मात्मीयपरिग्रहाणां रागद्वेषानुषङ्गः तदभावाच्च कुतः पुनः कर्मबन्धः? तद्वशाच्च संसारावरतरणमित्यर्थः। अतस्ते यद्यपि कथञ्चिद् द्रव्यब्रह्मचर्य्ये व्यवस्थिता स्तथापि सम्यग्-ज्ञानाभावान्न ते सम्यगनुष्ठानभाज इति स्थितम्। अपि च सर्वेऽप्येते-प्रावादुकाः स्वकं स्वकम् आत्मीयमात्मीयं दर्शनं स्वदर्शनानुरागादाख्या-तारः शोभनत्वेन प्रख्यापयितार इति नच तत्र विदितवेद्येनास्था विधेयेति ॥ १२ ॥

इस लोकको देवता द्वारा उत्पन्न माननेवाले।लोग ब्रह्मचर्य्यमें अथवा संयमके अनुष्ठानमें स्थित नहीं हैं" इन लोगोका सिद्धान्त है कि "अपने दर्शनकी पूजा और तिरस्कार देखनेसे मुक्तजीवको कर्मबन्ध होता है" परन्तु इनके दर्शनकी पूजा और तिरस्कार तथा पूजा और तिरस्कार ये दोनोंही हुए बिना नहीं रह सकते हैं और इनके होने पर कर्मका उपचय भी अवश्य होगा और कर्मके उपचय होनेसे शुद्धिका अभाव होगा, शुद्धिके अभाव होनेसे मोक्ष नहीं हो सकता है। अतः यह सिद्धान्त ठीक नहीं है क्योंकि जिनके समस्त कर्मकलङ्क नष्ट हो चुके हैं, तथा समस्त पदार्थोंका यथार्थ स्वरूप जो जानते हैं, जो कृतकृत्य हो चुके हैं, स्तुति और निन्दाको जो समान समझते हैं, "यह मैं हूँ और यह मेरा है" यह परिग्रह जिनका नष्ट हो चुका है ऐसे मुक्त जीवोंको रागद्वेष होना कदापि सम्भव नहीं है और रागद्वेष न होनेसे उनको कर्मबन्ध कैसे हो सकता है? और कर्मबन्ध न होनेसे वे मुक्तजीव फिर संसारमें कैसे आसकते हैं? अतः इस असत् सिद्धान्तको माननेवाले वे अन्यतीर्थी यद्यपि द्रव्य ब्रह्मचर्य्यमें कथञ्चित् स्थित रहते हैं तथापि सम्यग् ज्ञान न होनेसे वे सम्यक् अनुष्ठानमें प्रवृत्त नहीं है। तथा ये सभी प्रावादुक अपने अपने दर्शनके अनुरागसे अपने अपने दर्शनको अच्छा बतलाते हैं परन्तु वस्तुस्वरूपको जाननेवाले पुरुषको इनके दर्शनोंमें श्रद्धा न करनी चाहिए ॥ १२ ॥

सए सए उवट्ठाणे, सिद्धिमेव न अन्नहा ।
अहो इहेव वसवत्ती सव्वकामसमप्पिए ॥१४॥

छाया—स्वके स्वक उपस्थाने सिद्धिमेव नान्यथा ।
अध इहैव वशवर्ती सर्वकामसमर्पितः ॥

व्याकरण—(सए सए) उपस्थानका विशेषण । (उवट्ठाणे) अधिकरण (सिद्धिं) कर्म (एव) अव्यय (न, अन्नहा) अव्यय । (अहो) अव्यय (इह, एव) अव्यय (वस वत्ती) कर्ता (सव्वकामसमप्पिए) कर्ताका विशेषण ।

अन्वयार्थ—(सए सए) अपने अपने (उवट्ठाणे) अनुष्ठानमें ही (सिद्धिं) सिद्धि होती है (अन्नहा न) अन्यथा नहीं होती है (अहो) मोक्ष प्राप्तिके पूर्व (इहेव) इसी जन्ममें ही (वसवत्ती) जितेन्द्रिय होना चाहिए । (सव्वकामसमप्पिए) उसकी सब कामनायें सिद्ध होती हैं ।

भावार्थ—मनुष्योंको अपने-अपने अनुष्ठानसे ही सिद्धि मिलती है औरतरहसे नहीं मिलती है । मोक्ष प्राप्तिके पूर्व मनुष्यको जितेन्द्रिय होकर रहना चाहिए इस प्रकार उसकी सब कामनायें पूर्ण होती हैं ।

टीका—पुनरन्यथा कृतवादिमतमुपदर्शयितुमाह ते कृतवादिनः शैवैक दण्डिप्रभृतयः स्वकीये स्वकीये उपतिष्ठन्त्यस्मिन्नित्युपस्थानं—स्वीयमनुष्ठानं दीक्षागुरुचरणशुश्रूषादिकं तस्मिन्नेव सिद्धिम् अशेषसांसारिकप्रपञ्च रहितस्वभावामभिहितवन्तो नान्यथा नाऽन्येन प्रकारेण सिद्धिरवाप्यत इति तथाहि—शैवाः दीक्षात एव मोक्ष इत्येवं व्यवस्थिताः एकदण्डिकास्तु पञ्चविंशतितत्त्वपरिज्ञानान्मुक्तिरित्यभिहितवन्तः तथाऽन्येऽपि वेदान्तिकाः ध्याना-ध्ययनसमाधिमार्गानुष्ठानात् सिद्धिमुक्तवन्त इत्येवमन्येऽपि यथास्वं

फिर शास्त्रकार कृतवादियोंका मत औरतरहसे बतानेके लिए कहते हैं । वे कृतवादी—शैव और एकदण्डी वगैरह कहते हैं कि—“दीक्षा ग्रहण करना, और गुरुचरणकी सेवा आदि अपने-अपने अनुष्ठानोंसे ही मनुष्य, समस्त सांसारिक प्रपञ्चोंसे रहित मुक्तिको प्राप्त करता है । दूसरे प्रकारसे सिद्धिकी प्राप्ति नहीं होती है” क्योंकि शैवलोग दीक्षासे ही मोक्ष मानते हैं और एकदण्डी लोग पचीस तत्त्वोंके ज्ञानसे मुक्ति बतलाते हैं तथा दूसरे वेदान्ती भी कहते हैं कि—ध्यान अध्ययन और समाधिमार्गके अनुष्ठानसे सिद्धि होती है । इसी तरह दूसरे दार्शनिक भी अपने-अपने दर्शनसे मोक्षमार्गका प्रतिपादन करते हैं । तथा वे कहते हैं कि—

दर्शनान्मोक्षमार्गं प्रतिपादयन्तीति । अशेषद्वन्द्वोपरमलक्षणायाः सिद्धि प्राप्ते रधस्तात् प्रागपि यावदद्यापि सिद्धिप्राप्ति र्न भवति तावदिहैव जन्मन्य-स्मदीयदर्शनोक्तानुष्ठानानुभावादष्टगुणैश्वर्य्यसद्भावो भवतीति दर्शयति आत्मवशे वर्तितुं शीलमस्येति वशवर्ती वशेन्द्रिय इत्युक्तम्भवति । नह्यसौ सांसारिकैः स्वभावैरभिभूयते सर्वे कामा अभिलाषा अर्पिताः सम्पन्ना यस्य स सर्वकामसमर्पितो यान् यान् कामान् कामयते तेऽस्य सर्वे सिद्ध्यन्तीति यावत्, तथाहि सिद्धेरारादष्टगुणैश्वर्य्यलक्षणा सिद्धि र्भवति । तद्यथा अणिमा, लघिमा महिमा प्राकाम्य मीशित्वं वशित्वमप्रतिघातित्वं यत्र कामावसायित्वमिति ॥१४॥

समस्त द्वन्द्व की निवृत्ति रूप मोक्ष प्राप्तिके पूर्व इसी जन्ममें हमारे दर्शनके अनुष्ठानसे आठ प्रकारकी ऐश्वर्य्यवाली सिद्धि प्राप्त होती है यही यहाँ शास्त्रकार दिखलाते हैं। जो पुरुष अपने वशमें रहता है अर्थात् जो इन्द्रियोंके वशमें नहीं है वह पुरुष, सांसारिक स्वभावसे अभिभूत नहीं होता है उसकी सब कामनायें पूर्ण होती हैं। वह पुरुष, जो जो कामनायें करता है वे सब सिद्ध होती हैं। उस पुरुषको मोक्ष पानेके पहले आठ प्रकारकी ऐश्वर्य्यवाली जो सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं वे ये हैं— अणिमा[१], लघिमा[२], महिमा[३], प्राकाम्य[४], ईशित्व[५], वशित्व[६], अप्रतिघातित्व[७], और यत्रका मावसायित्व[८] ॥१४॥

---

(१) योगविद्याके प्रभावसे योगिजनको ऐसी सिद्धि प्राप्त होती है कि वे अपने शरीरको परमाणुके समान सूक्ष्म बना देते हैं। इसी शक्तिको 'अणिमा' कहते हैं।

(२) (लघिमा) योग विद्याके प्रभावसे अपने शरीरको रूईके समान हल्का बनादेनेकी शक्तिको लघिमा कहते हैं।

(३) (महिमा) योग बलसे अपने शरीरको बड़ासे बड़ा बना देना 'महिमा' कहलाता है।

(४) (प्राकाम्य) योग विद्याके प्रभावसे इच्छाकी सफलताको 'प्राकाम्य' कहते हैं।

(५) (ईशित्व) शरीर और मनपर पूरा अधिकार हो जाना 'ईशित्व' कहलाता है।

(६) (वशित्व) योग विद्याके प्रभावसे प्राणियोंको वशीभूत करलेना वशित्व कहलाता है।

(७) (अप्रतिघातित्व) योगके प्रभावसे किसी वस्तुसे न रोका जाना 'अप्रतिघातित्व' कहलाता है।

(८) (यत्र कामावसायित्व) जिस वस्तुको भोगनेकी इच्छा हो उसे इच्छा पूरी होनेतक नष्ट न होने देना (यत्रकामावसायित्व) कहलाता है।

सिद्धा य ते अरोगा य, इहमेगेसिमाहियं ।
सिद्धिमेव पुरोकाउं, सासए गढिया नरा ॥१५॥

छाया—सिद्धाश्चतेऽरोगाश्च इहैकेषामाख्यातम् ।
सिद्धिमेव पुरस्कृत्य, स्वाशये ग्रथिताः नराः ॥

व्याकरण—(सिद्धा) कर्ता (य) अव्यय (ते अरोगा) कर्ताका विशेषण । (इह) अव्यय (एगेसिं) कर्तृषष्ठयन्त (आहियं) क्रिया (सिद्धिं) कर्म (एव) अव्यय (पुरोकाउं) पूर्वकालिक क्रिया (सासए) अधिकरण (गढिया) नरका विशेषण (नरा) कर्ता।

अन्वयार्थ—(ते) वे (सिद्धा) सिद्ध पुरुष (अरोगा य) नीरोग होते हैं । (इह) इस लोकमें (एगेसिं) कोई (आहियं, कहते हैं (सिद्धिमेव पुरोकाउं) सिद्धिको ही सामने रखकर (नरा) मनुष्य (सासए) अपने दर्शनमें (गढिया) गूँथे हुए हैं ।

भावार्थ—अन्यदर्शनी कहते हैं कि हमारे दर्शनके अनुष्ठानसे सिद्धिको जो प्राप्त करते हैं वे नीरोग होते हैं। वे अन्यदर्शनी सिद्धिको आगे रखकर अपने दर्शनमें गूँथे हुए हैं ।

टीका तदेवमिहैवास्मदुक्तानुष्ठायिनोऽष्टगुणैश्वर्य्यलक्षणा सिद्धिर्भवत्यमुत्रचाशेषद्वन्द्वोपरमलक्षणा सिद्धिर्भवतीति दर्शयितुमाह—

ये ह्यस्मदुक्त मनुष्ठानं सम्यगनुतिष्ठन्ति तेऽस्मिन् जन्मन्यष्टगुणैश्वर्य्यरूपां सिद्धिमासाद्य पुनर्विशिष्टसमाधियोगेन शरीरत्यागं कृत्वा सिद्धाश्च अशेषद्वन्द्वरहिता अरोगा भवन्ति, अरोगग्रहणश्चोपलक्षणम् अनेकशारीरमानसद्वन्द्वै र्न स्पृश्यन्ते शरीरमनसोरभावादिति । एवम्

टीकार्थ—इस प्रकार वे अन्यदर्शनी कहते हैं कि हमारे दर्शनमें कहे हुए नियमोंका अनुष्ठान करनेवाले पुरुषको इसी जन्ममें आठ गुण ऐश्वर्य्यवाली सिद्धि प्राप्त होती है और परलोकमें सम्पूर्ण द्वन्द्वकी निवृत्तिरूप मोक्ष प्राप्त होता है यह दिखानेके लिए शास्त्रकार कहते हैं—

अन्यदर्शनी कहते हैं कि—जो पुरुष हमारे दर्शनमें कहे हुए नियमको अच्छी तरहसे अनुष्ठान करते हैं वे इसी जन्ममें आठ प्रकारकी ऐश्वर्य्यवाली सिद्धिको प्राप्त करके फिर विशिष्ट समाधियोगके द्वारा शरीरको छोड़कर सिद्ध हो जाते हैं अर्थात् वे समस्त द्वन्द्व रहित नीरोग हो जाते हैं। यहां अरोग ग्रहण उपलक्षण है इसलिए वे अनेक प्रकारके शारीरिक और मानसिक दुःखोंसे स्पर्श नहीं किए जाते हैं क्योंकि उनके शरीर और मन नहीं होते हैं। इस प्रकार शैव आदि

इह अस्मिन् लोके सिद्धिविचारे वा एकेषां शैवादीनामिदमाख्यातं, ते च शैवादयः सिद्धिमेव पुरस्कृत्य मुक्तिमेवाङ्गीकृत्य स्वकीये आशये स्वदर्शनाभ्युपगमे ग्रथिताः संबद्धा अध्युपपन्नास्तदनुकूलाः युक्तीः प्रतिपादयन्ति। नराः इव नराः प्राकृतपुरुषाः शास्त्रावबोधविकलाः स्वाभिप्रेतार्थसाधनाय युक्तीः प्रतिपादयन्ति एवं तेऽपि पण्डितम्मन्याः परमार्थमजानानाः स्वाग्रहप्रसाधिकाः युक्ती रुद्घोषयन्तीति, तथा चोक्तम्—आग्रही वत निनीषति युक्तिं, तत्र यत्र मतिरस्य निविष्टा। पक्षपातरहितस्य तु युक्ति र्यत्र तत्र मतिरेति निवेशम् ॥ १ ॥ १५ ॥

सिद्धिके विषयमें बतलाते हैं। वे शैव आदि सिद्धिको ही आगे रखकर अपने दर्शनमें आसक्त रहते हुए अपने शास्त्रके अनुकूल युक्तियोंका प्रतिपादन करते हैं। जैसे शास्त्रज्ञानरहित साधारण पुरुष, अपने अभीष्ट अर्थकी सिद्धिके लिए युक्तियोंका प्रतिपादन करते हैं उसी तरह परमार्थको न जाननेवाले, और अपनेको पण्डित माननेवाले शैव आदि अपने आग्रहको सिद्ध करनेके लिए युक्तियोंकी घोषणा करते हैं। कहा भी है—(आग्रही वत) अर्थात् आग्रही पुरुष, युक्तिको अपनी मान्यताके पास ले जाना चाहता है परन्तु पक्षपातरहित पुरुष, जो अर्थ युक्तियुक्त होता है उसीको स्वीकार करता है ॥ १५ ॥

असंवुडा अणादीयं भमिहिंति पुणो पुणो।
कप्पकालमुवज्जंति ठाणा आसुरकिब्बिसिया ॥१६॥

इति बेमि।

छाया—असंवृता अनादिकं भ्रमिष्यन्ति पुनः पुनः।
कल्पकालमुत्पद्यन्ते स्थाना आसुरकिल्बिषिकाः ॥ इति ब्रवीमि।

व्याकरण—(असंवुडा) कर्ता (अणादीयं) कर्म (भमिहिंति) क्रिया (पुणो पुणो) अव्यय। (कप्पकालं) क्रियाविशेषण (आसुरकिब्बिसिया ठाणा) कर्ता। (उवज्जंति) क्रिया।

अन्वयार्थ—(असंवुडा) इन्द्रियविजयसे रहित वे अन्यदर्शनी (आणादीयं) आदि रहित संसारमें (पुणो पुणो) वार वार (भमिहिंति) भ्रमण करेंगे। तथा (कप्पकालं) चिरकाल तक (आसुरकिब्बिसिया ठाणा) असुरस्थानमें किल्बिषीरूपसे (उवज्जंति) वे उत्पन्न होते हैं।

भावार्थ—इन्द्रिय विजयसे रहित वे अन्यदर्शनी बार बार संसारमें भ्रमण करते रहेंगे वे बाल तपके प्रभावसे असुर स्थानोंमें वहुत कालतक किल्विषी देवता होते हैं।

टीका—साम्प्रतमेतेषामनर्थप्रदर्शनपुरःसरं दूषणाभिधित्सयाऽऽह।

ते हि पाखण्डिकाः मोक्षाभिसन्धिना समुत्थिता अपि असंवृता इन्द्रिय नो इन्द्रियैरसंयता इहाप्यस्माकं लाभ इन्द्रियानुरोधेन सर्वविषयोपभोगाद् अमुत्र मुक्त्यवाप्तेः तदेवं मुग्धजनं प्रतारयन्तोऽनादिसंसारकान्तारं भ्रमिष्यन्ति पर्य्यटिष्यन्ति स्वदुश्चरितोपात्तकर्मपाशावशापि (पाशि) ताः पौनः पुन्येन नरकादियातनास्थानेषूत्पद्यन्ते। तथाहि—नेन्द्रियैर-नियमितै रशेषद्वन्द्वप्रच्युतिलक्षणा सिद्धिरवाप्यते। याऽप्यणिमाद्यष्टगुण लक्षणैहिकी सिद्धिरभिधीयते साऽपि मुग्धजनप्रतारणाय दम्भकल्पैवेति। याऽपि च तेषां बालतपोऽनुष्ठानादिना स्वर्गावाप्तिः साऽप्येवंप्राया भवतीति दर्शयति। कल्पकालं प्रभूतकालम् उत्पद्यन्ते संभवन्ति आसुराः—असुरस्थानोत्पन्ना नागकुमारादयः तत्राऽपि न प्रधाना किन्तर्हि? किल्बिषिकाः अधमाः प्रेष्यभूता अल्पर्धयोऽल्पभोगाः स्वल्पायुःसामर्थ्या-

---

टीकार्थ—अब इनका अनर्थ दिखाते हुए शास्त्रकार दूषण बतानेके लिए कहते हैं—

वे पाषण्डी मोक्ष प्राप्तिके लिए उद्यत होकर भी इन्द्रिय और मनको वशमें नहीं रखते हैं। (वे समझते हैं कि) इस लोकमें भी हमें लाभ है क्योंकि इन्द्रियोंके अनुरोधसे सब विषयोंका उपभोग करनेसे परलोकमें मुक्तिकी प्राप्ति होती है। इस प्रकार भोले जीवको प्रतारण करते हुए वे पापण्डी आदिरहित संसाररूप कान्तारमें भ्रमण करते रहेंगे। वे, अपने दुराचारके कारण उत्पन्न कर्मपाशमें वद्ध होकर वार वार नरक आदि यातनास्थानोंमें उत्पन्न होते हैं क्योंकि इन्द्रियोंको वशीभूत किए विना समस्त दुःखोंकी निवृत्तिरूप मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती है। वे जो अणिमा आदि आठ प्रकारकी ऐहिक (इस लोककी) सिद्धियोंका वर्णन करते हैं वह भी भोले जीवोंको प्रतारण करनेके लिए दम्भतुल्य ही है। उन पापण्डियोंको वालतपके प्रभावसे जो स्वर्गकी प्राप्ति होती है वह भी इस प्रकारकी होती है यह दिखाते हैं—वे वहुत काल तक असुरस्थानोंमें नागकुमार आदि अल्प ऋद्धिवाले अल्प आयु और अल्प शक्तियुक्त अधम प्रेष्यभूत (नौकर)

ह्युपेताश्च भवन्तीति । इति उद्देशकपरिसमाप्त्यर्थे, ब्रवीमीति पूर्ववत् १६ । ७५ इति समयाख्याध्ययनस्य तृतीयोद्देशकः समाप्तः ।

देवता होते हैं प्रधान देवता नहीं होते हैं । इति शब्द उद्देशककी समाप्तिके लिए है 'ब्रवीमि' पूर्ववत् है । इति समयाध्ययनस्य तृतीयोद्देशकः समाप्तः ।

अथ प्रथमाध्ययने चतुर्थ उद्देशकः प्रारभ्यते

एते जिया भो ! न सरणं, बाला पंडियमाणिणो ।
हिच्चा णं पुव्वसंजोगं, सिया किच्चोवएसगा ॥ १ ॥

छाया—एते जिताः भोः ! न शरणं बालाः पण्डितमानिनो ।
हित्वा तु पूर्वसंयोगं सिताः कृत्योपदेशकाः ॥

व्याकरण—(एते) सर्वनाम, पूर्वोक्त अन्यतीर्थियोंका बोधक । (जिया) अन्यतीर्थीका विशेषण । (भो) सम्बोधनार्थक अव्यय । (न) अव्यय (सरणं) अन्यतीर्थीका विशेषण । (बाला पंडियमाणिणो) अन्यतीर्थीके विशेषण (हिच्चा) पूर्वकालिक क्रिया (णं) अव्यय (पुव्वसंजोगं) कर्म (सिया किचोवएसगा) अन्यतीर्थीका विशेषण ।

अन्वयार्थ—(भो) हे शिष्यों ! (एते) ये अन्यतीर्थी (जिया) काम क्रोध आदिसे जीते जा चुके हैं (न सरणं) अतः ये लोग अपने शिष्यकी रक्षा करनेमें समर्थ नहीं है । (बाला) ये अज्ञानी हैं तथापि (पंडियमाणिणो) अपनेको पण्डित मानते हैं । (पुव्व संजोगं हिचा) ये लोग अपने बान्धव आदि पूर्वपरिग्रहसे सम्बन्ध छोड़कर (सिया) दूसरे परिग्रह और आरम्भमें आसक्त हैं । (किच्चोवएसगा) ये लोग गृहस्थके कृत्यका उपदेश करते हैं ।

भावार्थ—ये अन्यदर्शनी काम क्रोधादिसे पराजित हैं अतः हे शिष्य ! ये लोग संसारसे रक्षा करनेमें समर्थ नहीं हैं । ये लोग अज्ञानी हैं तथापि अपनेको पण्डित मानते हैं । ये लोग अपने बन्धु बान्धवोंसे सम्बन्ध छोड़कर भी परिग्रहमें आसक्त रहते हैं तथा गृहस्थके कर्त्तव्यका उपदेश देते हैं ।

टीका—उक्तस्तृतीयोद्देशकः, अधुना चतुर्थः समारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः—अनन्तरोद्देशकेऽध्ययनार्थत्वात्स्वपरसमयवक्तव्यतोक्तेहापि

टीकार्थ—तीसरा उद्देशक कहा जा चुका अब चौथा उद्देशक प्रारम्भ किया जाता है । इसका सम्बन्ध यह है—पूर्व उद्देशकमें, प्रथम अध्ययनका अर्थाधिकार होनेके कारण स्वपरसमयवक्तव्यता कही गई है वही इस उद्देशकमें भी कही

सैवाभिधीयते, अथवाऽनन्तरोद्देशके तीर्थिकानां कुत्सिताचारत्वमुक्तमिहाऽपि तदेवाभिधीयते । तदनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्योपक्रमादीनि चत्वार्य्यनुयोगद्वाराण्यभिधाय सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारणीयं तच्चेदम्—

अस्य चानन्तरसूत्रेण सहायं सम्बन्धः तद्यथा, अनन्तरसूत्रेऽभिहितं—'तीर्थिका असुरस्थानेषु किल्बिषिकाः जायन्त' इति, किमिति ? यत एते जिताः परीषहोपसर्गैः, परम्परसूत्रसम्बन्धस्त्वयम्—आदाविदमभिहितं 'बुध्येत त्रोटयेच्च' ततश्चैतदपि बुध्येत—यथैते पञ्चभूतादिवादिनो गोशालकमतानुसारिणश्च जिताः परीषहोपसर्गैः कामक्रोधलोभमान मोहमदाख्येनारिषड्वर्गेण चेति एव मन्यैरपि सूत्रैः सम्बन्ध उत्प्रेक्ष्यः तदेवं कृतसम्बन्धस्यास्य सूत्रस्येदानीं व्याख्या प्रतन्यते । 'एत' इति, पञ्चभूतैकात्मतज्जीवतच्छरीरादिवादिनः कृतवादिनश्च गोशालकमतानुसारिणस्त्रैराशिकाश्च जिता अभिभूता रागद्वेषादिभिः शब्दादिविषयैश्च तथा प्रबलमहामोहोत्थाज्ञानेन च, भो इति विनेयामन्त्रणम् एवं त्वं गृहाण यथैते तीर्थिकाः असम्यगुपदेशप्रवृत्तत्वान्न कस्यचिच्छरणं भवितु-

---

जाती है । अथवा अनन्तर उद्देशकमें अन्य तीर्थियोंका कुत्सित आचार कहा गया है, वही यहां भी कहा जाता है । इस सम्बन्धसे अवतीर्ण इस उद्देशकके उपक्रम आदि चार अनुयोग द्वारोंका वर्णन करके सूत्रानुगममें सूत्रका उच्चारण करना चाहिए । वह सूत्र यह है—

इस सूत्रका अनन्तर सूत्रके साथ सम्बन्ध यह है—अनन्तर सूत्रमें कहा है कि "परतीर्थी असुरस्थानोंमें किल्विषी होते हैं" । क्यों होते हैं ? समाधान यह है कि वे परीषह और उपसर्गोंसे पराजित हैं । परस्पर सूत्रके साथ सम्बन्ध यह है । पहले पहल कहा गया है कि वोध प्राप्त करना चाहिए और बन्धनको तोड़ना चाहिए अतः यह भी समझना चाहिए कि—"पञ्चभूत आदि वादी तथा गोशालकमतानुयायी आदि परतीर्थी, परीषह, उपसर्ग तथा काम क्रोध लोभ मान मोह और मदनामक छः शत्रुओंसे पराजित हैं" इसी तरह दूसरे सूत्रोंके साथ सम्बन्ध भी जानना चाहिए । इस प्रकार सम्बन्ध किये हुए इस सूत्रकी विस्तृत व्याख्या की जाती है । पञ्चभूतवादी, एकात्मवादी, तज्जीवतच्छरीरवादी, कृतवादी तथा त्रैराशिक गोशालक मतानुयायी ये सब राग द्वेष आदि तथा शब्दादिविपय और प्रबल महामोहसे उत्पन्न अज्ञानके द्वारा पराजित हैं । 'भो' शब्द शिष्यके सम्बोधनके लिए है । हे शिष्य ! तुमको यह जानना चाहिए कि—ये अन्यतीर्थी असत् उपदेशमें प्रवृत्त

मर्हन्ति न कश्चित् त्रातुं समर्था इत्यर्थः किमित्येवं यतस्ते बालाइव बालाः यथा शिशवः सदसद्विवेकवैकल्याद् यत् किञ्चनकारिणो भाषिणश्च तथैतेऽपि स्वयमज्ञाः सन्तः परानपि मोहयन्ति। एवम्भूता अपि च सन्तः पण्डितमानिन, इति। क्वचित् पाठो 'जत्थ बालेऽवसीयइ'त्ति, यत्र अज्ञाने बालः अज्ञो लग्नः सन् अवसीदति, तत्र ते व्यवस्थिताः यतस्ते न कस्यचित् त्राणायेति। यच्च तैं विरूपमाचरितं तदुत्तरार्धेन दर्शयति—हित्वा त्यक्त्वा णमिति वाक्यालङ्कारे पूर्वसंयोगो धनधान्यस्वजनादिभिः संयोगस्तं त्यक्त्वा किल वयं निःसङ्गाः प्रव्रजिता इत्युत्थाय पुनः सिताः—बद्धाः परिग्रहारम्भेष्वासक्तास्ते गृहस्थाः तेषां कृत्यं करणीयं पचनपाचनकण्डनपेषणादिको भूतोपमर्दकारी व्यापार स्तस्योपदेशस्तं गच्छन्तीति कृत्योपदेशगाः कृत्योपदेशका वा। यदिवा 'सिया' इति आर्षत्वाद् बहुवचनेन व्याख्यायते स्युः भवेयुः कृत्यं—कर्तव्यं सावद्यानुष्ठानं तत्प्रधानाः कृत्याः—गृहस्थास्तेषामुपदेशः—संरम्भसमारम्भारम्भरूपः स विद्यते येषान्ते कृत्योप-

हैं इसलिए ये दूसरेकी रक्षा करनेमें समर्थ नहीं हो सकते हैं। ऐसा क्यों? क्योंकि ये लोग बालकके समान अज्ञानी हैं। जैसे बालक सत् और असत्का विवेक न होनेके कारण सब कुछ कर डालते हैं और सब कुछ कह देते हैं इसी तरह ये अज्ञानी भी स्वयं अज्ञानी होते हुए दूसरेको भी मोहित करते हैं। ये, अज्ञानी होकर भी अपनेको भी पण्डित मानते हैं। कहीं कहीं "जत्थ बालेऽवसीयइ' यह पाठ मिलता है। इसका अर्थ यह है—जिस अज्ञानमें पड़ कर अज्ञ जीव दुःखित होते हैं उसी अज्ञानमें ये अन्यतीर्थी पड़े हैं अतः किसीकी रक्षा करनेमें ये लोग समर्थ नहीं हो सकते हैं। ये अन्यतीर्थी जो विपरीत आचरण करते हैं सो इस गाथाका उत्तरार्धके द्वारा बताया जाता है। 'णं' शब्द वाक्यके अलङ्कारमें आया है। ये अन्यतीर्थी धन, धान्य, और बन्धु बान्धव आदिके सम्बन्धको छोड़कर "हम निःसङ्ग तथा प्रव्रजित हैं" यह कहते हुए मोक्षके लिए उद्यत होते हैं परन्तु पीछेसे परिग्रह और आरम्भमें आसक्त रहने वाले गृहस्थोंके कर्तव्यका अर्थात् पचन पाचन कण्डन (कूटना)। और पेषण (पीसना) आदि जीवोंके विनाशक व्यापारका उपदेश करते हैं। अथवा इस गाथामें 'सिया' इस पदको आर्ष होनेके कारण बहुवचन मानकर व्याख्या की जाती है। इसका अर्थ यह है कि "वे अन्यतीर्थी होते हैं" कृत्य नाम कर्तव्यका अर्थात् सावद्य अनुष्ठानका है। वह सावद्य अनुष्ठान जो प्रधान रूपसे करते हैं वे 'कृत्य' कहलाते हैं। कृत्य नाम गृहस्थोंका है। उन गृहस्थोंको

देशिकाः प्रव्रजिता अपि सन्तः कर्तव्यै गृहस्थेभ्यो न भिद्यन्ते गृहस्था इव तेऽपि सर्वावस्थाः पञ्चशूनाव्यापारोपेता इत्यर्थः ॥१॥

ये लोग संरम्भ समारम्भ और आरम्भ रूप व्यापारोंका उपदेश करते हैं इसलिए ये 'कृत्योपदेशिक' हैं। ये, प्रव्रज्या धारण किये हुए भी गृहस्थोंसे भिन्न नहीं किन्तु उनके समान ही सब अवस्थावाले और पांच *शूनाके व्यापारसे युक्त हैं ॥१॥

तं च भिक्खू परिन्नाय, वियं तेसु ण मुच्छए ।
अणुक्कसे अप्पलीणे मज्झेण मुणि जावए ॥ २ ॥

छाया—तञ्च भिक्षुः परिज्ञाय विद्वांस्तेषु न मूर्च्छेत् ।
अनुत्कर्षोऽप्रलीनः मध्येन मुनि र्यापयेत् ॥

व्याकरण—भिक्खू) कर्ता (वियं) भिक्षुका विशेषण (तं) अन्यतीर्थीका वोधक सर्वनाम कर्म द्वितीयान्त । (च) अव्यय । (परिन्नाय) पूर्वकालिक क्रिया (ण) अव्यय (तेसु) अन्यतीर्थीका परामर्शक सर्वनाम अधिकरण (मुच्छए) क्रिया । (अणुक्कसे, अप्पलीणे) मुनिका विशेषण (मज्झेण) करणतृतीयान्त (मुणि) कर्ता (जावए) क्रिया ।

अन्वयार्थ—(वियं भिक्खू) विद्वान् साधु (तं च) उन अन्य तीर्थियोंको (परिन्नाय) जानकर (तेसू ण मूच्छए) उनमें मूर्च्छा न करे । (मुणि) वस्तुस्वभावको जाननेवाला मुनि (अणुक्कसे) किसी प्रकारका मद न करता हुआ (अप्पलीणे) तथा किसीके साथ सम्बन्ध न रखता हुआ (मज्झेण) मध्यस्थवृत्तिसे (जावए) व्यवहार करे ।

भावार्थ—विद्वान् साधु अन्यतीर्थियोंको जानकर उनमें मूर्च्छा न करे । तथा किसी तरहका मद न करता हुआ संसर्गरहित मध्यस्थवृत्तिसे रहे ।

टीका—एवम्भूतेषु च तीर्थिकेषु सत्सु भिक्षुणा यत्कर्तव्यं तद्दर्शयितुमाह

टीकार्थ—ऐसे अन्य तीर्थियोंके होते हुए साधुका जो कर्तव्य है उसे दिखानेके लिए शास्त्रकार कहते हैं—

* पञ्चशूना गृहस्थस्य चुल्ली पेपण्युपस्करः ।
कण्डनी चोदकुम्भश्च वध्यन्ते यास्तु वाहयन् ॥ (मनुस्मृति)

गृहस्थके घरमें पांच बुचड़खाने होते हैं वे ये हैं—चुल्ली, चक्की, झाड़ू, ऊखली, जलका स्थान। इनके द्वारा जीवोंकी हिंसा होती है, अतः ये पांच बुचड़खानेके समान हैं इन्हींको 'पञ्चशूना' कहते हैं ।

तं पाखण्डिकलोकमसदुपदेशदानाभिरतं 'परिज्ञाय' सम्यगवगम्य यथैते मिथ्यात्वोपहतान्तरात्मानः सद्विवेकशून्याः नात्मने हितायालं नान्यस्मै इत्येवं पर्यालोच्य भावभिक्षुः संयतो 'विद्वान्' विदितवेद्यः तेषु 'न मूर्छयेत्' न गार्ध्यं विदध्यात्, न तैः सह संपर्कमपि कुर्यादित्यर्थः। किं पुनः कर्तव्य मिति पश्चार्द्धेन दर्शयति—'अनुत्कर्षवानिति' अष्टमदस्थानानामन्यतमेना प्युत्सेकमकुर्वन् तथा अप्रलीनः असंबद्धस्तीर्थिकेषु गृहस्थेषु पार्श्वस्थादिषु वा संश्लेषमकुर्वन् मध्येन रागद्वेषयोरन्तरालेन संचरन् मुनिः जगत् त्रयवेदी यापयेद् आत्मानं वर्तयेत्। इदमुक्तम्भवति—तीर्थिकादिभिः सह सत्यपि कथञ्चित्सम्बन्धे त्यक्ताहङ्कारेण तथा भावतस्तेष्वप्रलीयमानेनारक्त द्विष्टेन तेषु निन्दामात्मनश्च प्रशंसां परिहरता मुनिनाऽऽत्मा यापयितव्य इति ॥ २ ॥

टीकार्थ—पाखण्डी लोग असत् उपदेश देनेमें रत हैं यह अच्छी तरह जानकर तथा ये पूर्वोक्त मिथ्यादृष्टि मिथ्यात्वसे मलिनचित्त और सद्विवेकसे रहित हैं अतः ये लोग अपना तथा दूसरेका कल्याण करनेमें समर्थ नहीं हैं यह जानकर विद्वान्, संयमी, वस्तुस्वरूपके ज्ञाता, भावभिक्षु उन अन्यतीर्थियोंमें मूर्च्छा न करे। उनके साथ सम्पर्क भी न करे यह अर्थ है। उनके साथ मुनि, क्या करे यह इस गाथाके उत्तरार्ध द्वारा बतलाते हैं। तीन लोक को जाननेवाला मुनि, आठ प्रकारके मदस्थानोंमें से किसी प्रकारका भी मद न करता हुआ एवं परतीर्थी, गृहस्थ अथवा पार्श्वस्थ आदिके साथ सम्बन्ध न करता हुआ मध्यवृत्तिसे अर्थात् राग द्वेष रहित होकर व्यवहार करे। भाव यह है कि परतीर्थी आदिके साथ यदि कथञ्चित् सम्बन्ध हो जाय तो साधु अहङ्कार छोड़कर तथा भावसे उनके साथ सम्बन्ध न रखता हुआ एवं राग द्वेष रहित और आत्मप्रशंसा और उनकी निन्दा न करता हुआ अपना काल व्यतीत करे ॥ २ ॥
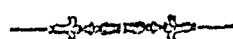
सपरिग्गहा य सारंभा, इहमेगेसिमाहियं।
अपरिग्गहा अणारंभा, भिक्खू ताणं परिव्वए ॥३॥

छाया—सपरिग्रहाश्च सारम्भा इहैकेषामाख्यातम्।
अपरिग्रहाननारम्भान् भिक्षुस्त्राणं परिव्रजेत्॥

व्याकरण—(सपरिग्गहा, सारंभा) प्राप्ति क्रियाका कर्ता। (य) अव्यय (इह) अव्यय (एगेसिं) कथन क्रियाका कर्ता (आहियं) क्रिया (अपरिग्गहा, अणारंभा) कर्म (भिक्खू) कर्ता (ताणं) कर्म विशेषण (परिव्वए) क्रिया।

अन्वयार्थ—(सपरिग्गहा) परिग्रह रखनेवाले (य) और (सारंभा) आरंभ करनेवाले जीव, मोक्ष प्राप्त करते हैं यह (इह) मोक्षके विषयमें (एगेसिमाहियं) कोई कहते हैं। (भिक्खू) परन्तु भावभिक्षु (अपरिग्गहा अणारंभा) परिग्रह और आरंभ वर्जित पुरुषके (ताणं) शरणमें (परिव्वए) जावे।

भावार्थ—कोई अन्यतीर्थी कहते हैं कि परिग्रह रखने वाले और आरम्भ करने वाले जीव, मोक्ष प्राप्त करते हैं परन्तु भावभिक्षु परिग्रह रहित और अरम्भ-वर्जित पुरुषके शरणमें जावे।

टीका—किमिति ते तीर्थिकास्त्राणाय न भवन्तीति दर्शयितुमाह—

टीका—सह परिग्रहेण धनधान्यद्विपदचतुष्पदादिना वर्तन्ते तदभावेऽपि शरीरोपकरणादौ मूर्च्छावन्तः सपरिग्रहाः, तथा सहारम्भेण जीवोपमर्दादिकारिणा व्यापारेण वर्तन्त इति तदभावेऽप्यौद्देशिकादिभोजित्वात् सारम्भाः—तीर्थिकादयः, सपरिग्रहारम्भकत्वेनैव च मोक्षमार्गं प्रसाधयन्तीति दर्शयति—इह परलोकचिन्तायाम् एकेषां केषाञ्चिद् आख्यातं भाषितं, यथा किमनया शिरस्तुण्डमुण्डनादिकया क्रियया ? परं गुरोरनुग्रहात् परमाक्षरावाप्तिस्तद्दीक्षावाप्तिर्वा यदि भवति ततो मोक्षो भवतीत्येवं

परोतीर्थी अपनी तथा दूसरेकी रक्षा क्यों नहीं कर सकते हैं ? यह दिखलानेके लिए शास्त्रकार कहते हैं।

जो धन धान्य द्विपद और चतुष्पद आदि परिग्रह रखते हैं वे सपरिग्रह कहलाते हैं, तथा धन धान्य आदि न होनेपर भी जो शरीर और उपकरण आदिमें मूर्च्छा रखते हैं वे भी 'सपरिग्रह' हैं। जो जीवोंका विनाश करनेवाला व्यापार करते हैं वे 'सारम्भ' कहलाते हैं। तथा जीवोंका विनाश करनेवाले व्यापार न करने पर भी जो उद्देशिक आहार खाते हैं वे भी 'सारम्भ' हैं। अन्यतीर्थियोंका सिद्धान्त है कि—"सपरिग्रह और सारम्भ पुरुष भी मोक्षमार्गका साधन करते हैं"। यह शास्त्रकार दिखलाते हैं। परलोकके विषयमें किसीका कथन है कि—शिर और मूँछ मुँड़ानेकी क्या आवश्यकता है ? केवल गुरुकी कृपासे परम अक्षरकी प्राप्ति अथवा दीक्षाकी प्राप्ति हो जानेसे ही मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार भाषण करनेवाले वे अन्यतीर्थी संसार सागरसे रक्षाके लिए समर्थ नहीं हो सकते हैं। जो

भाषमाणास्ते न त्राणाय भवन्तीति । ये तु त्रातुं समर्थास्तान् पश्चार्द्धेन दर्शयति—अपरिग्रहाः न विद्यन्ते धर्मोपकरणादृते शरीरोपभोगाय स्वल्पोऽपि परिग्रहो येषां ते अपरिग्रहाः, तथा न विद्यते सावद्य आरम्भो येषां तेऽनारम्भाः ते चैवंभूताः कर्मलघवः स्वयं यानपात्रकल्पाः संसार महोदधेर्जन्तूत्तारणसमर्थास्तान् भिक्षुः भिक्षणशील उद्देशिकाद्यपरिभोजी त्राणं शरणं परि-समन्ताद् व्रजेद् गच्छेदिति ॥३॥

लोग संसार सागरसे जीवोंकी रक्षा करनेमें समर्थ हैं उन्हें उत्तरार्ध द्वारा शास्त्रकार बतलाते हैं—जो पुरुष, धर्मोपकरणके सिवाय अपने शरीरके भोगके लिए थोड़ा भी परिग्रह नहीं रखते हैं तथा जो पुरुष सावद्य आरम्भ नहीं करते हैं वे कर्मलघु पुरुष संसार सागरसे जीवोंको पार उतारनेके लिए नौकाके समान समर्थ हैं । अतः उद्देशिक आदि आहारको वर्जित करनेवाला शुद्धभिक्षान्नभोजी भावभिक्षु सर्वतो-भावेन उन्हींके शरणमें जावे ॥ ३ ॥
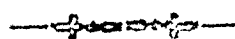
कडेसु घासमेसेज्जा, विऊ दत्तेसणं चरे ।
अगिद्धो विप्पमुक्को अ ओमाणं परिवज्जए ॥ ४ ॥

छाया—कृतेषु ग्रासमेषयेत्, विद्वान् दत्तैषणां चरेत् ।
अगृद्धो विप्रमुक्तश्च अपमानं परिवर्जयेत् ॥

व्याकरण—(कडेसु) अधिकरण (घासं) कर्म (एसेज्जा) क्रिया (विऊ) कर्ता (दत्तेसणं) कर्म (चरे) क्रिया (अगिद्धो, विप्पमुक्को) कर्ताके विशेषण (अ) अव्यय (ओमाणं) कर्म (परिवज्जए) क्रिया ।

अन्वयार्थ—(कडेसु) दूसरे द्वारा किए हुए आहारमेंसे (विऊ) विद्वान् पुरुष (घासं) आहारकी (एसेज्जा) गवेषणा करे । (दत्तेसणं) तथा दिए हुए आहारको लेनेकी इच्छा (चरे) करे । एवं (अगिद्धो, विप्पमुक्को) गृद्धिरहित तथा रागद्वेष वर्जित होकर (ओमाणं परिवज्जए) दूसरे का अपमान न करे ।

भावार्थ—विद्वान् साधु दूसरे द्वारा बनाये हुए आहारकी गवेषणा करे तथा दिए हुए आहारको ही ग्रहण करनेकी इच्छा करे । तथा आहारमें मूर्च्छा और राग द्वेष न करे । एवं दूसरेका अपमान कभी न करे ।

टीका—कथं पुनस्तेनापरिग्रहेणानारम्भेण च वर्तनीय मित्येतद्दर्शयितुमाह—

गृहस्थैः परिग्रहारम्भद्वारेणाऽऽत्मार्थं ये निष्पादिता ओदनादयस्ते कृता उच्यन्ते तेषु कृतेषु परकृतेषु परनिष्ठितेष्वित्यर्थः अनेन च षोडशोद्गमदोषपरिहारः सूचितः, तदेवमुद्गमदोषरहितं ग्रस्यत इति ग्रासः—

टीकार्थ—परिग्रह और आरम्भवर्जित साधुको कैसे रहना चाहिए यह दिखानेके लिए शास्त्रकार कहते हैं।

गृहस्थने परिग्रह और आरम्भके द्वारा अपने लिए जो भात आदि आहार बनाया है उसे 'कृत' कहते हैं। उस कृत आहार अर्थात् अन्यके द्वारा बनाये हुए आहारमेंसे साधु आहार लेनेकी इच्छा करे। यहां कृत आहारको ग्रहण करनेके विधानसे सोलह प्रकारके उद्गम * दोषोंका परिहार सूचित किया गया है।

* "उद्गमन मुद्गमः पिण्डादेः प्रभवे" आहार उपजानेके दोषको "उद्गम" कहते हैं। यह सोलह प्रकारका होता है। जैसेकि—

"आहाकम्मुद्देसिय पूईकम्मे य मीसजाए य।
ठवणा पाहुडियाए, पाओअर कीय पामिच्चे" ॥ १ ॥
परियट्टिए अभिहडे उब्भिन्ने मालोहडे इय।
अच्छिज्जे अणिसिट्ठे अज्झोयरए य सोलसमे ॥ २ ॥

साधुको देनेके लिए बनाया हुआ आहार 'आधाकर्म' कहलाता है। यह पहला दोष है। जिस साधुको देनेके लिए आहार बनाया गया है वह आहार यदि वही साधु लेवे तो आधाकर्म दोष होता है और दूसरा साधु वह आहार लेवे तो उसे औद्देशिक दोष होता है। यह दोष दूसरा है। (पूईकम्मे) पवित्र आहारमें यदि आधाकर्म आहारका एक कण भी मिल जाय तो हजार घरका अन्तर देकर भी वह आहार लेने पर पूतिकर्म दोष आता है। यह दोष तीसरा है। (मिश्रजात) जो आहार साधु तथा अपने दोनोंके लिए सामिल करके बनाया गया है वह 'मिश्रजात' है। जो आहार साधुको देनेके लिए रख हुआ है और दूसरेको नहीं दिया जाता है उसे 'स्थापना' दोष कहते हैं। साधुके लिए पाहुनको आगा पीछा करना "प्राभृतिका" दोष कहलाता है। अंधकारसे पूर्ण स्थानमें प्रकाश करके साधुको आहार देना 'प्रादुष्करण' दोष है। साधुके लिए वस्त्र पात्र आदि मोल लेकर साधुको देना 'क्रीतदोष' है। साधुके लिए आहार आदि उधार लाकर साधुको देना 'अपमित्य' कहलाता है। साधुको देनेके लिए अपनी वस्तु दूसरेको देकर उसके बदलेमें दूसरेकी वस्तु लेकर साधुको देना 'परिवर्तित' दोष कहलाता है साधुके सामने जाकर आहार आदि देना 'अभिहृत' दोष कहलाता है। बर्तनके मुखपर लगे हुए लेपको छुड़ाकर उसमेंसे आहार निकालकर साधुको देना 'उद्भिन्न' दोष है। पीढा या सीढी लगाकर ऊपर नीचे या तिरिछी रखी हुई वस्तुको निकालकर साधुको देना

दोषरहिते आहारे स भिक्षुः एषणां ग्रहणैषणां चरेदनुतिष्ठेदिति । अनेनाऽपि दशैषणादोषाः परिगृहीता इति मन्तव्यं, तथा अगृद्धः अनभ्युपपन्नोऽमूर्च्छित स्तस्मिन्नाहारे रागद्वेषविप्रमुक्तः, अनेनाऽपि च ग्रासैषणा दोषाः पञ्च

और निमित्तादि दोष रहित आहारको लेनेकी इच्छा करे। इस उपदेशके द्वारा दश प्रकार के ग्रहणैषणा * दोषोंका त्याग भी यहाँ जानना चाहिए। तथा साधु उस आहारमें मूर्च्छा और राग द्वेष न करे, यह कह कर पांच प्रकारके ग्रासैषणा †

हैं उस मन्त्रके प्रयोगसे आहार आदि लेना 'मन्त्रदोष कहलाता है। (चूर्णदोष) एक वस्तुमें दूसरी वस्तु मिलानेसे अनेक सिद्धियां होती हैं जैसे अदृष्ट अञ्जन आदि चूर्ण प्रसिद्ध हैं। उन चूर्णोंके प्रयोगसे आहार आदि लेना 'चूर्ण दोप' कहलाता है। (योग दोष) पैरके ऊपर लेप करनेसे जो सिद्धि होती है उसे बताकर आहार आदि लेना 'योग दोष' कहलाता है। (मूलकर्म) गर्भपात आदिके लिए औषध वताकर आहार आदि लेना (मूलकर्म) कहलाता है। ये १६ दोष उत्पाद कहलाते हैं।

* (ग्रहणैषणा) ग्रहणैषणा दोष दश प्रकारके होते हैं ये साधु और श्रावक दोनोंको लगते हैं। वे ये हैं—"संकिय मक्खिय निक्खित्त पिहिय साहरिय दायगुम्मीसे। अपरिणयलित्त छड्डिय एसण दोसा दस हवंति"। साधु और गृहस्थको आहारके विषयमें शङ्का हो जानेपर उस आहारको ग्रहण करना शङ्कितदोष कहलाता है। सचित्त जलके द्वारा हाथकी रेखा अथवा केश जिसके भींगे हैं उस गृहस्थके हाथसे आहार लेना 'म्रक्षित' दोष है। असूझती वस्तुपर पड़ी हुई सूझती वस्तुको लेना 'निक्षिप्त' दोष है। सचित्त वस्तुसे ढँकी हुई अचित्त वस्तुको लेना 'पिहित' दोष है। जिस पात्रमें असूझती वस्तु रक्खी हो उस पात्रमें से उस असूझती वस्तुको निकालकर दूसरे पात्रमें उसे रखकर उसी पात्रसे आहार लेना (संहृत) दोष है। अथवा जिस घरमें पश्चात् कर्म होनेकी सम्भावना हो उस घरमें एक पात्रसे निकालकर दूसरे पात्रमें डालकर आहार दिया जाय और पश्चात् कच्चे पानीसे उस पात्रको धोनेकी शङ्का हो तो उस दशामें उस पात्रसे आहार लेना 'संहृत' दोष है। अंधा लँगड़ा और लूल्हा प्राणी अजयणाके साथ जो आहार दें उसे लेना 'दायक' दोष है। असूझती वस्तुमें मिली हुई सूझती वस्तु लेना 'उन्मिश्र' दोष है। पूरा पके विना वस्तुको लेना अपरिणत दोष है। तुरंतकी लिपी हुई जमीनको लाँघकर आहार आदि लेना लिप्त दोष है। आहार देते हुए मनुष्यके हाथसे आहारके छिंटे पड़ें तो उस आहारको लेना छर्दित दोप है।

† भोजनके समय साधुओंको जो दोप वर्जनीय है उन्हें 'ग्रासैपणा दोप' कहते हैं। वे पाँच प्रकारके हैं। वे ये हैं—(१) स्वादके लिए एक वस्तुमें दूसरी वस्तु मिलाना, जैसे दूधमें शक्कर और मिश्री आदि मिलाना, यह 'संयोजनाग्र' दोप कहलाता है। (२) मर्य्यादासे अधिक आहार करना, जैसे पुरुषको ३२ कवल और स्त्रीको २८ कवल तथा नपुंसकको २४ कवलसे अधिक भोजन करना 'प्रमाण दोप' कहलाता है। अच्छे आहारकी प्रशंसा करते हुए आहार करना 'इंगाल दोप' है। बुरे आहारकी निन्दा करते हुए आहार करना 'धूमदोप' है। छः कारणोंके विना आहार करना कारण दोप है।

निरस्ता अवसेयाः । स एवम्भूतो भिक्षुः परेषामपमानं—परावमदर्शित्वं परिवर्जयेत् परित्यजेत् न तपोमदं ज्ञानमदञ्च कुर्य्यादितिभावः ॥४॥

दोषोंको वर्जित करनेका उपदेश किया है । इस प्रकार वर्तता हुआ साधु किसीका अपमान न करे । तथा विद्वान् मुनि तपस्या और ज्ञानका मद नकरे ॥ ४ ॥
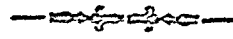
लोगवायं णिसामिज्जा, इहमेगेसि माहियं ।
विपरीयपन्नसंभूयं, अन्नउत्तं तयाणुयं ॥५॥

छाया—लोकवादं निशामयेद् इहैकेषामाख्यातम् ।
विपरीतप्रज्ञासम्भूत मन्योक्तं तदनुगम् ॥

व्याकरण—(लोगवायं) कर्म (णिसामिज्जा) क्रिया (इह) अव्यय (एगेसिं) कर्तृषष्ठयन्त (आहियं) क्रिया । (विपरीयपन्नसंभूयं, अन्नउत्तं, तदनुगं) ये लोकवादके विशेषण हैं ।

अन्वयार्थ—(लोगवायं) लोकवाद अर्थात् पौराणिकोंके सिद्धान्तको (णिसामिज्जा) सुनना चाहिए (इह) इस लोकमें (एगेसिं) किन्हींका (आहियं) कथन है । (विपरीयपन्नसंभूयं) वस्तुतः पौराणिकोंका सिद्धान्त विपरीतबुद्धिसे रचित है तथा (अन्न उत्तं तयाणुगं) अन्य अविवेकियोंने जो कहा है उसका अनुगामी है ।

भावार्थ—कोई कहते हैं कि पाषण्डी अथवा पौराणिकोंकी बात सुननी चाहिए परन्तु पौराणिक और पौराणिकोंकी बात विपरीतबुद्धिसे उत्पन्न और दूसरे अविवेकियोंकी बातके समानही मिथ्या है ।

एवं निर्युक्तिकारेणोद्देशकार्थाधिकाराभिहितं 'किच्चुवमायचउत्थे' इत्येतत्प्रदर्श्येदानीं परवादिमत मेवोद्देशार्थाधिकाराभिहितं दर्शयितुमाह— लोकानां पाषण्डिनां पौराणिकानां वा वादो लोकवादः—यथा स्वमभि-

उद्देशकोंका अर्थाधिकार बताते हुए निर्युक्तिकारने कहा है कि 'किचुवमायचउत्थे' अर्थात् परतीर्थी गृहस्थके तुल्य हैं यह चतुर्थ उद्देशकका अर्थाधिकार है उसे बताकर अब परवादियोंका मतही बताते हैं क्योंकि चतुर्थ उद्देशकका भी यह अर्थाधिकार है । पाषण्डी अथवा पौराणिकोंके वाद—कथाको 'लोकवाद' कहते हैं । अथवा अपनी इच्छानुसार विपरीत मान्यताको 'लोकवाद' कहते हैं । उस लोकवादको सुनना चाहिए, जानना चाहिए यह अर्थ है । यही शास्त्रकार दिखाते

प्रायेणान्यथा वाऽभ्युपगमस्तं निशामयेत् शृणुयाज्जानीयादित्यर्थः तदेव दर्शयति 'इह' अस्मिन् संसारे एकेषां केषाञ्चिदिदमाख्यात मभ्युपगमः। तदेव विशिनष्टि विपरीता परमार्थादन्यथाभूता या प्रज्ञा तया सम्भूतं समुत्पन्नं तत्त्वविपर्यस्तबुद्धिग्रथितमिति यावत्, पुनरपि विशेषयति— अन्यै रविवेकिभिर्यदुक्तं तदनुगं, यथावस्थितार्थविपरीतानुसारिभि र्यदुक्तं विपरीतार्थाभिधायितया तदनुगच्छतीत्यर्थः॥ ५॥

हैं--इस संसारमें किन्हींका यह सिद्धान्त है। वह लोकवाद कैसा है ? सो शास्त्रकार विशेषणके द्वारा बतलाते हैं। वह लोकवाद, परमार्थसे विपरीतबुद्धिके द्वारा रचित है अर्थात् वह तत्त्वज्ञानसे विपरीत ज्ञानके द्वारा सम्पादित है। फिर शास्त्रकार लोकवादका विशेषण बतलाते हैं—दूसरे अविवेकियोंने जो असत्य अर्थ बतलाया है, उसीका लोकवाद भी अनुगामी है। आशय यह है कि—पदार्थोंका सच्चा स्वरूप न बताकर विपरीत स्वरूप बतानेवाले अविवेकियोंने जो मिथ्या अर्थ बतलाया है उसके समानही विपरीत अर्थ बतानेके कारण वह लोकवाद भी उसीका अनुगामी है॥ ५॥

अणंते निइए लोए सासए, ण विणस्सती।
अंतवं णिइए लोए इति धीरोऽतिपासइ॥ ६॥

छाया—अनन्तो नित्यो लोकः शाश्वतो न विनश्यति।
अन्तवान्नित्यो लोक इति धीरोऽतिपश्यति॥

व्याकरण—(अणंते, निइए, सासए) ये सब लोकके विशेषण हैं। (लोए) कर्ता (ण) अव्यय (विणस्सती) क्रिया। (अंतवं, णिइए) लोकके विशेषण हैं (इति) अव्यय (धीरो) कर्ता (अतिपासइ) क्रिया।

अन्वयार्थ—(लोए) यह लोक (अणंते) अनन्त (निइए) नित्य (सासए) और शाश्वत है (ण विणस्सइ) यह नष्ट नहीं होता है (लोए) तथा यह लोक (अंतवं) अन्तवाला (निइए) तथा नित्य है (इति) यह (धीरो) धीर पुरुष (अतिपासइ) अत्यन्त देखते हैं।

भावार्थ—यह लोक अनन्त, नित्य और शाश्वत है इसका विनाश नहीं होता है तथा यह लोक अन्तवान् (सीमित) और नित्य है यह व्यास आदि धीर पुरुष देखते हैं।

तमेव विपर्य्यस्तबुद्धिरचितं लोकवादं दर्शयितुमाह—नास्यान्तोऽस्तीत्यनन्तः न निरन्वयनाशेन नश्यतीत्युक्तं भवतीति, तथाहि यो यादृगिह भवे स तादृगेव परभवेऽप्युत्पद्यते, पुरुषः पुरुष एवाङ्गना अङ्गनैवेत्यादि यदि वा अनन्तोऽपरिमितो निरवधिक इति यावत् तथा नित्य इति अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावो लोक इति तथा शश्वद्भवतीति शाश्वतो द्व्यणुकादिकार्य्यद्रव्यापेक्षयाऽशश्वद्भवन्नपि न कारणद्रव्यं परमाणुत्वं परित्यजतीति तथा न विनश्यतीति दिगात्माकाशाद्यपेक्षया । तथाऽन्तोऽस्यास्तीत्यन्तवान् लोकः 'सप्तद्वीपा वसुन्धरे' ति परिमाणोक्तेः, स च तादृक् परिमाणो नित्य इत्येवं धीरो कश्चित्साहसिकोऽन्यथाभूतार्थप्रतिपादनाद् व्यासादिरिवातिपश्यतीत्यतिपश्यति । तदेवंभूतमनेकभेदभिन्नं लोकवादं निशामयेदिति प्रकृतेन सम्बन्धः । तथा

विपरीत बुद्धिके द्वारा रचित उसी लोकवादको दिखानेके लिए शास्त्रकार कहते हैं । जिसका अन्त नहीं है उसे अनन्त कहते हैं आशय यह है कि इस लोकका निरन्वय नाश नहीं होता है क्योंकि इस भवमें जो जैसा है वह परभवमें भी वैसाही उत्पन्न होता है । पुरुष पुरुषही होता है और स्त्री स्त्री ही होती है । अथवा यह लोक, अनन्त अर्थात् परिमाण रहित यानी अवधिवर्जित है । तथा यह लोक नित्य यानी उत्पत्तिविनाशरहित स्थिर एक स्वभाववाला है । एवं यह, सदा वर्तमान रहता है इसलिए शाश्वत है । यह लोक द्व्यणुक आदि कार्य्यद्रव्यकी अपेक्षासे यद्यपि शाश्वत नहीं है तथापि इसका कारणद्रव्य कदापि परमाणुत्वको नहीं छोड़ता है इसलिए यह शाश्वत है । यह लोक कभी नष्ट नहीं होता है यह बात, दिशा आत्मा और आकाश आदिकी अपेक्षासे कही गई है । जिसका अन्त यानी सीमा होती है उसे अन्तवान् कहते हैं । यह लोक अन्तवान् है क्योंकि पृथिवी सात द्वीप वाली है ऐसा पौराणिकोंने इसका परिमाण बतलाया है । इस प्रकारका परिमाणवाला यह लोक नित्य है इस प्रकार पदार्थोंका मिथ्या स्वरूप बतानेके कारण व्यास आदिके समान कोई धीर अर्थात् साहसिक पुरुष देखता है । इस प्रकारके अनेक लोकवादोंको सुनना चाहिए यह प्रकृत गाथाके साथ सम्बन्ध करना चाहिए । तथा पुत्ररहित पुरुषके लिए कोई लोक नहीं है, ब्राह्मण ❀

❀ "ब्राह्मण देवता हैं कुत्ते यक्ष हैं" इत्यादि बातें आलङ्कारिक हैं । इनको आलङ्कारिक रूपमें न मानकर ज्यों का त्यों माननेका यहां खण्डन है परन्तु आलङ्कारिकरूपमें माननेका कोई विरोध नहीं है ।

'अपुत्रस्य न सन्ति लोकाः ब्राह्मणाः देवाः' श्वानो यक्षाः गोभि र्हतस्य गोघ्नस्य वा न सन्ति लोका' इत्येवमादिकं निर्युक्तिकं लोकवादं निशामयेदिति ॥ ६ ॥

देवता हैं। कुत्ते यक्ष हैं, गायके द्वारा मारे हुए पुरुषको तथा गाय मारनेवालेको कोई लोक नहीं मिलता है इत्यादि युक्तिरहित लोकवाद सुनना चाहिए (यह कोई कहते हैं) ॥ ६ ॥

अपरिमाणं वियाणाई, इहमेगेसि माहियं।
सव्वत्थ सपरिमाणं, इति धीरोऽतिपासई ॥७॥

छाया—अपरिमाणं विजानाति, इहैकेषा माख्यातम्।
सर्वत्र सपरिमाणमिति धीरोऽतिपश्यति ॥

व्याकरण—(अपरिमाणं) कर्म (वियाणाई) क्रिया (इह) अव्यय (एगेसिं) कर्तृवाचक षष्ठयन्त (आहियं) क्रिया (सव्वत्थ) अव्यय (सपरिमाणं) कर्म (इति) अव्यय (धीरो) कर्ता (अतिपासई) क्रिया।

अन्वयार्थ—(अपरिमाणं) परिमाणरहित अर्थात् अपरिमितपदार्थको (वियाणाई) जानता है। (इह) इस लोकमें (एगेसिं) किन्हींका (आहियं) कहना है। (सव्वत्थ) सर्वत्र (सपरिमाणं) परिमाणसहित जानता है (इति) यह (धीरो) धीर पुरुष (अतिपासई) अत्यन्त देखता है।

भावार्थ—किसीकी मान्यता है कि अतीन्द्रिय पदार्थोंको जाननेवाला पुरुष अवश्य है परन्तु सब पदार्थोंका ज्ञाता सर्वज्ञ पुरुष नहीं है। परिमित पदार्थोंको जाननेवाला ही पुरुष है यह धीर पुरुष देखते हैं।

किञ्च न विद्यते परिमाणम् इयत्ता क्षेत्रतः कालतो वा यस्य तदपरिमाणं, तदेवम्भूतं विजानाति कश्चित्तीर्थिकतीर्थकृत्, एतदुक्तम्भवति अपरिमितज्ञोऽसावतीन्द्रियद्रष्टा, न पुनः सर्वज्ञ इति, यदि वा—अपरिमि-

क्षेत्र या कालसे जिसकी सीमा नहीं है उसे अपरिमाण कहते हैं। अन्यतीर्थीका तीर्थङ्कर उस अपरिमाण यानी सीमातीत पदार्थको देखता है। आशय यह है कि अन्यतीर्थीका तीर्थङ्कर अतीन्द्रिय अर्थको देखनेवाला होकर भी परिमित पदार्थको ही देखता है परन्तु सर्वज्ञ नहीं है अथवा अन्यतीर्थीका तीर्थङ्कर अपरिमितज्ञानी होकर भी जो अतीन्द्रिय अर्थ मोक्षादिके उपयोगी हैं उन्हींको

तज्ञ इत्यभिप्रेतार्थातीन्द्रियदर्शीति, तथा चोक्तम्—"सर्वं पश्यतु वा मा वा इष्टमर्थन्तु पश्यतु। कीटसंख्यापरिज्ञानं तस्य नः क्वोपयुज्यते?" इति 'इह' अस्मिल्लोके एकेषां सर्वज्ञापन्हववादिनाम् इदमाख्यातम् अयमभ्युपगमः, तथा सर्वक्षेत्रमाश्रित्य कालं वा परिच्छेद्यं कर्मतापन्नमाश्रित्य सह-परिमाणं-सपरिच्छेदं धीः-बुद्धिः तया राजत इति धीर इत्येवमसौ अतीव पश्यतीत्यतिपश्यति, तथाहि—ते ब्रुवते दिव्यं वर्षसहस्रमसौ ब्रह्मा स्वपिति तस्यामवस्थायां न पश्यत्यसौ तावन्मात्रञ्च कालं जागर्ति तत्र च पश्यत्यसाविति, तदेवम्भूतो बहुधा लोकवादः प्रवृत्तः ॥७॥

देखता है समस्त पदार्थोंको नहीं देखता है यह अन्यतीर्थीका कथन है। जैसा कि वे कहते हैं—(सर्वं पश्यतु वा) अर्थात् तीर्थङ्कर सब पदार्थोंको देखें अथवा न देखें किन्तु इष्ट अर्थको देखना चाहिए क्योंकि कीड़ोंकी संख्याका ज्ञान हमारे किस काममें आसकता है? यह सर्वज्ञ नहीं माननेवाले अन्यतीर्थियोंका मत है। किसी अन्यतीर्थीका मत है कि—धीर पुरुष सब देश और सब कालमें परिमित पदार्थको ही देखता है जैसा कि वे कहते हैं—ब्रह्मा दिव्य एक हजार वर्ष तक सोते हैं उस समय वह कुछ नहीं देखते हैं और उतने ही कालतक वे जागते हैं उस समय वे देखते हैं इस प्रकार बहुधा लोकवाद प्रचलित है ॥७॥

जे केइ तसा पाणा, चिट्ठंति अदु थावरा।
परियाए अत्थि से अञ्जू, जेण ते तसथावरा ॥८॥

छाया—ये केचित् त्रसाः प्राणा स्तिष्ठन्त्यथवा स्थावराः।
पर्यायोऽस्ति तेषा मञ्जू येन ते त्रसस्थावराः ॥

व्याकरण—(जे केइ) सर्वनाम त्रस और स्थावरके विशेषण (तसा थावरा) कर्ता (पाणा) त्रस स्थावरके विशेषण (अदु) अव्यय। (चिट्ठंति) क्रिया (से) सम्बन्धषष्ठ्यन्त (परियाए) कर्ता (अंजू) क्रियाविशेषण (अत्थि) क्रिया (जेण) हेतुतृतीयान्त (ते तसथावरा) कर्ता।

अन्वयार्थ—(जे केइ) जो कोइ (तसा) त्रस (अदु) अथवा (थावरा) स्थावर (पाणा) प्राणी (चिट्ठंति) स्थित हैं (से) उनका (अंजू) अवश्य (परियाए) पर्य्याय (अत्थि) होता है (जेन) जिससे (ते) वे (तसथावरा) त्रससे स्थावर और स्थावरसे त्रस होते हैं।

भावार्थ—इस लोकमें जितने त्रस और स्थावर प्राणी हैं वे अवश्य एक दूसरे पर्य्यायमें जाते हैं अतएव कभी त्रस स्थावर होते हैं और स्थावर त्रस होते हैं।

अस्य चोत्तरदानायाह—ये केचन त्रस्यन्तीति त्रसाः द्वीन्द्रियादयः प्राणाः प्राणिनः सत्त्वा स्तिष्ठन्ति त्रसत्वमनुभवन्ति, अथवा स्थावराः स्थावरनामकर्मोदयाद् (याः) पृथिव्यादयस्ते, यद्ययं लोकवादः सत्यो भवेत् यथा यो यादृगस्मिन् जन्मनि मनुष्यादिः सोऽन्यस्मिन्नपि जन्मनि तादृगेव भवतीति, ततः स्थावराणां त्रसानाञ्च तादृशत्वे सति दानाध्ययनजपनियमतपोऽनुष्ठानादिकाः क्रियाः सर्वा अप्यनर्थिका आपद्येरन्। लोकेनाऽपि चान्यथात्व मुक्तं तद्यथा—"स वै एष शृगालो जायते यः सपुरीषो दह्यते" तस्मात् स्थावरजङ्गमानां स्वकृतकर्मवशात् परस्परसंक्रमणाद्यनिवारितमिति। तथा 'अनन्तो नित्यश्च लोकः' इति यदभिहितं, तत्रेदमभिधीयते—यदि स्वजात्यनुच्छेदेनास्य नित्यताऽभिधीयते ततः परिणामानित्यत्वमस्मदभीष्टमेवाभ्युपगतं न काचित् क्षतिः, अथाप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावत्वेन नित्यत्वमभ्युपगम्यते तन्न घटते, तस्याध्यक्षबाधितत्वात्, नहि क्षणभाविपर्य्यायानालिङ्गितं किञ्चिद्वस्तु प्रत्यक्षेणा-

---

अव शास्त्रकार इसका उत्तर देनेके लिए कहते हैं। जो भय पाते हैं उन्हें 'त्रस' कहते हैं। द्वीन्द्रिय आदि प्राणी त्रस हैं। ये द्वीन्द्रिय आदि प्राणी त्रसत्वको अनुभव करते हैं। एवं जिनमें स्थावरनाम कर्मका उदय है वे पृथिवी आदि प्राणी स्थावर कहलाते हैं। जो मनुष्य आदि प्राणी इस जन्ममें जैसा है वह दूसरे जन्ममें भी वैसा ही होता है' यह लोकवाद यदि सत्य हो तब तो दान, अध्ययन, जप, नियम और तप आदि समस्त क्रियायें व्यर्थ होगीं। परन्तु यह नहीं होता। लौकिकों ने भी जीवोंका अन्यथाभाव कहा है। जैसे कि—वह पुरुष शृगाल होता है जो विष्ठा के सहित जलाया जाता है। अतः स्थावर और जङ्गम सभी प्राणी अपने किए हुए कर्मके अनुसार एक दूसरे में जाते हैं अर्थात् त्रस स्थावर होते हैं और स्थावर त्रस होते हैं। तथा लौकिकोंने जो यह कहा है कि "यह लोक अनन्त और नित्य है" इसका समाधान दिया जाता है। पदार्थोंकी अपनी अपनी जातिका नाश नहीं होता है इसलिए यदि इस जगतको नित्य कहते हो तब तो कोई क्षति नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर आर्हतमतप्रसिद्ध परिणामानित्यत्व पक्षको ही तुम स्वीकार करते हो। यदि ऐसा न मानकर तुम उत्पत्ति विनाश रहित स्थिर एक स्वभाववाले पदार्थोंको मानकर जगत्‌की नित्यता कहते हो तो यह सत्य नहीं है क्योंकि जगत्‌में कोई भी पदार्थ उत्पत्तिविनाशरहित स्थिर एक स्वभाववाला नहीं देखा जाता है अतः ऐसी मान्यता प्रत्यक्ष प्रमाणसे बाधित है। इस जगत्‌में ऐसा एक भी पदार्थ

वसीयते, निष्पर्य्यायस्य च खपुष्पस्येवासद्रूपतैव स्यादिति । तथा शश्वद्भवनं कार्य्यद्रव्यस्याऽऽकाशात्मादेश्चाविनाशित्वं यदुच्यते द्रव्यविशेषापेक्षया-तदप्यसदेव, यतः सर्वमेव वस्तूत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तत्वेन निर्विभागमेव प्रवर्तते, अन्यथा वियदरविन्दस्येव वस्तुत्वमेव हीयेतेति । तथा यदुक्तम्–'अन्तवान् लोकः सप्तद्वीपावच्छिन्नत्वादित्येतन्निरन्तराः सुहृदः प्रत्येष्यन्ति न प्रेक्षापूर्वकारिणः, तद्ग्राहकप्रमाणाभावादिति । तथा यदप्युक्तम् 'अपुत्रस्य न सन्ति लोका इत्यादीत्येतदपि बालभाषितं, तथाहि किं पुत्रसत्तामात्रेणैव विशिष्टलोकावाप्तिरुत तत्कृतविशिष्टानुष्ठानात् ? तद्यदि सत्तामात्रेण ततः इन्द्रमहकामुकगर्तावराहादिभि र्व्याप्ताः लोकाः भवेयुः, तेषां पुत्रबहुत्वसम्भवात् अथानुष्ठानमाश्रीयते, तत्र पुत्रद्वये सत्येकेन शोभनमनुष्ठित मपरेणाशोभनमिति तत्र का वार्ता ? स्वकृतानुष्ठानञ्च निष्फलमापद्येतेत्येवं

दृष्टिगोचर नहीं होता है जो क्षण क्षण उत्पन्न होनेवाले पर्य्यायोंसे युक्त न हो। वस्तुतः पर्य्याय रहित पदार्थ आकाशके पुष्पकी तरह असत्स्वरूप ही सिद्ध होगा। तथा कार्य्यद्रव्यको और आकाश तथा आत्मा आदिको जो अविनाशी कहते हो यह भी द्रव्यविशेषकी अपेक्षासे मिथ्या ही है क्योंकि सभी पदार्थ उत्पत्तिविनाश तथा ध्रौव्य इन तीनोंसे युक्त होकर विभाग रहित ही प्रवृत्त होते हैं। यदि ऐसा न माना जाय तो आकाशके पुष्पके समान पदार्थका वस्तुत्व ही न रहेगा। तथा लौकिकोंने जो यह कहा है कि "सात द्वीपोंसे युक्त होनेके कारण यह लोक अन्तवाला है" यह भी तुम्हारे मूर्ख मित्र ही मान सकते हैं, परन्तु जो विचार कर कार्य्य करनेवाले हैं वे नहीं मान सकते हैं क्योंकि इस बातको सिद्ध करनेवाला कोई प्रमाण नहीं है। तथा लौकिकोंने जो यह कहा है कि "पुत्रहीन पुरुषके लिए कोई लोक नहीं है" यह भी बालकका भाषणके समान ही युक्तिरहित है क्योंकि पुत्रकी सत्तामात्रसे विशिष्ट लोककी प्राप्ति होती है अथवा पुत्रके द्वारा किए हुए विशिष्ट अनुष्ठानसे होती है ? यदि पुत्रके सद्भाव मात्रसे विशिष्ट लोककी प्राप्ति कहो तब तो समस्त लोक कुत्ते और सुअरोंसे पूर्ण हो जायँगे क्योंकि इनके पुत्र बहुत होते हैं। यदि पुत्रके द्वारा किए हुए शुभ अनुष्ठानसे विशिष्ट लोककी प्राप्ति मानो तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि जिस पुरुषके दो पुत्र हैं उनमें एकने शुभ अनुष्ठान किया है और दूसरे ने अशुभ अनुष्ठान किया है तो वह पिता एक पुत्रके शुभ अनुष्ठानके प्रभावसे उत्तम लोकमें जायगा अथवा दूसरे पुत्रके द्वारा किए हुए अशुभ अनुष्ठानके कारण अशुभ लोकमें जायगा ? तथा उस पिताने जो कर्म किये हैं वे तो निष्फल ही होंगे अतः

यत्किञ्चिदेतदिति। तथा 'श्वानो यक्षा' इत्यादि युक्तिविरोधित्वादनाकर्णनीयमिति। यदपि चोक्तम् 'अपरिमाणं विजानाती'ति तदपि न घटामियर्ति यतः सत्यप्यपरिमितज्ञत्वे यद्यसौ सर्वज्ञो न भवेत् ततो हेयोपादेयोपदेशदानविकलत्वान्नैवासौ प्रेक्षापूर्वकारिभिराद्रियेत, तथाहि—तस्य कीटसंख्यापरिज्ञानमप्युपयोग्येव, यतो यथैतद्विषयेऽस्यापरिज्ञानमेव मन्यत्राप्या (पीत्या) शङ्कया हेयोपादेये प्रेक्षापूर्वकारिणः प्रवृत्ति र्न स्यात्। तस्मात् सर्वज्ञत्वमेष्टव्यम्। तथा तदुक्तं 'स्वापबोधविभागेन परिमितं जानाती' त्येतदपि सर्वजनसमानत्वे यत्किञ्चिदिति। यदपि च कैश्चिदुच्यते—यथा 'ब्रह्मणः स्वप्नावबोधयो र्लोकस्य प्रलयोदयौ भवत' इति तदप्ययुक्ति सङ्गतमेव प्रतिपादितं चैतत्प्रागेवेति न प्रतन्यते। नचात्यन्तं सर्वजगत-उत्पादविनाशौ विद्येते 'न कदाचिदनीदृशं जगदि'तिवचनात्। तदेवमनन्तादिकं लोकवादं परिहृत्य यथावस्थितवस्तुस्वभावाविर्भावनं पश्चार्द्धेन दर्श-

---

"पुत्र रहितके लिए कोई लोक नही" यह कथन अविवेक पूर्ण है। तथा "कुत्ते यक्ष हैं" यह कथन तो युक्तिविरुद्ध होनेके कारण सुनने योग्य भी नहीं है। तथा लौकिकोंने जो यह कहा है कि "तीर्थङ्कर अपरिमित पदार्थको जानते हैं परन्तु सर्वज्ञ नहीं हैं" यह भी ठीक नहीं है क्योंकि अपरिमितपदार्थदर्शी होकर भी जो पुरुष सर्वज्ञ नहीं है वह हेय (त्यागने योग्य) और उपादेय (ग्रहण करने योग्य) पदार्थोंके उपदेश देनेमें समर्थ नहीं हो सकता है अतः बुद्धिमान् पुरुष उसका आदर नहीं कर सकते हैं। उस पुरुषके कीटसंख्याका ज्ञान भी उपयोगी ही है क्योंकि वह जैसे कीड़ोंके विषयमें नहीं जानता है उसी तरह दूसरे पदार्थोंके विषयमें भी नहीं जानता होगा ऐसी आशङ्काके कारण बुद्धिमान् पुरुष उसके द्वारा कहे हुए हेय और उपादेयके विषयमें प्रवृत्त नहीं हो सकते हैं अतः सर्वज्ञ मानना आवश्यक है।

तथा यह जो कहा है कि "ब्रह्मा सोते समय कुछ नहीं जानता है परन्तु जागते समय जानता है" तो यह बात भी कोई अपूर्व नहीं है क्योंकि सभी प्राणी सोते समय कुछ नहीं जानते हैं और जागते समय जानते हैं। तथा लौकिकोंने यह जो कहा है कि—"ब्रह्माके सोने पर जगत्का प्रलय और जागने पर उदय होता है" यह भी अयुक्त है क्योंकि इसका विवेचन हम पहले ही कर आये हैं अतः यहां विस्तारकी कोई आवश्यकता नहीं है। वस्तुतः इस जगत्का कभी भी अत्यन्त विनाश अथवा अत्यन्त उत्पत्ति नहीं होती है "यह जगत् कभी भी और तरहका नहीं होता

यति–ये केचन त्रसाः स्थावराः वा तिष्ठन्त्यस्मिन् संसारे तेषां स्वकर्मपरिणत्याऽस्त्यसौ पर्यायः 'अंजू' इति प्रगुणोऽव्यभिचारी तेन पर्यायेण स्वकर्मपरिणतिजनितेन ते त्रसाः सन्तः स्थावराः सम्पद्यन्ते, स्थावरा अपि च त्रसत्व मश्नुवते तथा त्रसा स्त्रसत्वमेव स्थावराः स्थावरत्वमेवानुवन्ति न पुन र्यो यादृगिह स तादृगेवामुत्रापि भवतीत्ययं नियम इति ॥ ८ ॥

है" यह वचन है । इस प्रकार "यह जगत् अनन्त है" इत्यादिक लोकवादको छोड़कर शास्त्रकार पदार्थके यथार्थ स्वरूपका प्रकाश गाथाका उत्तरार्धके द्वारा करते हैं—

इस संसारमें जो त्रस और स्थावर प्राणी हैं वे अपने अपने कर्मका फल भोगनेके लिए अवश्य एक दूसरे पर्य्यायमें जाते हैं यह बात निश्चित और आवश्यक है । त्रस प्राणी अपने कर्मका फल भोगनेके लिए स्थावर पर्य्यायमें जाते हैं और स्थावर प्राणी त्रसपर्य्यायमें जाते हैं । परन्तु त्रस दूसरे जन्ममें भी त्रस ही होते हैं और स्थावर स्थावर ही होते हैं अर्थात् जो इस जन्ममें जैसा है वह दूसरे जन्ममें भी वैसा ही होता है यह नियम नहीं है ॥ ८ ॥
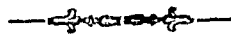
उरालं जगतो जोगं, विवज्जासं पलिंतिय ।
सव्वे अक्कंतदुक्खा य, अओ सव्वे अहिंसिया ॥९॥

छाया—उदारं जगतो योगं विपर्य्यासं पल्ययन्ते ।
सर्वेऽकान्तदुःखाश्च, अतः सर्वेऽहिंसिताः ॥

व्याकरण—(जगतो) सम्बन्धषष्ठ्यन्तपद । (जोगं) कर्म (उरालं, विवज्जासं) योगके विशेषण (पलिंति) क्रिया (य) अव्यय (सव्वे) प्राणियोंका बोधक सर्वनाम (अक्कंतदुक्खा) प्राणियोंका विशेषण । (य) अव्यय (अओ) अव्यय (सव्वे, अहिंसिया) प्राणीके विशेषण ।

अन्वयार्थ—(जगतो) औदारिक जीवोंका (जोगं) अवस्थाविशेष (उरालं) स्थूल है । (य) और वह (विवज्जासं) विपर्य्ययको (पलिंति य) प्राप्त होता है । (सव्वे) सभी प्राणीको (अक्कंतदुक्खा) दुःख अप्रिय है । (अओ) इसलिए (सव्वे) सभी प्राणीकी (अहिंसिया) हिंसा नहीं करनी चाहिए ।

भावार्थ—औदारिक जन्तुओंका अवस्थाविशेष स्थूल है क्योंकि सभी प्राणी एक अवस्थाको छोड़कर दूसरी अवस्थामें जाते रहते हैं । तथा सभी प्राणीको दुःख अप्रिय है इसलिए किसीकी हिंसा नहीं करनी चाहिये ।

अस्मिन्नेवार्थे दृष्टान्ताभिधित्सयाऽऽह—'उराल' मिति स्थूल मुदारं 'जगत' औदारिकजन्तुग्रामस्य योगं व्यापरं चेष्टामवस्थाविशेषमित्यर्थः, औदारिकशरीरिणो हि जन्तवः प्राक्तनादवस्थाविशेषाद् गर्भकललार्बुदरुपाद् विपर्य्यासभूतं बालकौमारयौवनादिकमुदारं योगं परि समन्तादयन्ते गच्छन्ति पर्य्ययन्ते, एतदुक्तं भवति—औदारिकशरीरिणो हि मनुष्यादे र्बालकौमारादिकः कालकृतोऽवस्थाविशेषोऽन्यथाचान्यथा च भवन् प्रत्यक्षेणैव लक्ष्यते, न पुन र्यादृक् प्राक् तादृगेव सर्वदेति, एवं सर्वेषां स्थावरजङ्गमाना मन्यथाऽन्यथा च भवनं द्रष्टव्यमिति । अपि च—सर्वे जन्तव आक्रान्ता अभिभूताः दुःखेन शारीरमानसेनासातोदयेन दुःखाक्रान्ताः सन्तोऽन्यथाऽवस्थाभाजो लभ्यन्ते, अतः सर्वेऽपि यथाऽहिंसिताः भवन्ति तथा विधेयम् । यदिवा—सर्वेपि जन्तवः अकान्तम् अनभिमतं दुःखं येषान्तेऽकान्तदुःखाः 'च' शब्दात् प्रियसुखाश्च अतस्तान् सर्वान् न हिंस्यादित्यनेन चान्यथात्वदृष्टान्तो दर्शितो भवत्युपदेशश्च दत्त इति ॥ ९ ॥

संसारी प्राणी भिन्न भिन्न पर्य्यायोंमें बदलते रहते हैं इस बातको स्पष्ट करनेके लिए शास्त्रकार दृष्टान्त बतलाते हैं। औदारिक शरीरवाले सब जीवोंका योग व्यापार यानी अवस्थाविशेष उदार अर्थात् स्थूल है । औदारिक शरीरवाले प्राणी, गर्भ कलल और अर्बुदरूप पूर्व अवस्थाको छोड़कर उससे विपरीत बाल कौमार और यौवन आदि स्थूल अवस्थाओंको प्राप्त करते हैं। आशय यह है कि औदारिक शरीरवाले मनुष्य आदि प्राणियोंकी कालकृत कौमार आदि अवस्थायें प्रत्यक्ष ही भिन्न भिन्न देखी जाती हैं परन्तु जो जैसा पहले होता है वह सदा वैसा ही रहे यह नहीं देखा जाता है । इसी तरह स्थावर जङ्गम सभी प्राणी भिन्न भिन्न अवस्थाओंको प्राप्त करते हैं यह जानना चाहिए । सांसारिक सभी प्राणी, शारीरिक और मानसिक दुःखोंसे पीड़ित तथा भिन्न भिन्न अवस्थाओंको प्राप्त करते हुए पाये जाते हैं अतः उन प्राणियोंकी जिस प्रकार हिंसा न हो वही करना चाहिए। अथवा सभी प्राणियोंको दुःख अप्रिय और सुख प्रिय होता है अतः सभीकी हिंसा न करनी चाहिए। इसीलिए इस पद्यके द्वारा प्राणियोंका अन्यथाभाव बताया गया है और उनको न मारनेका उपदेश भी दिया है ॥९॥
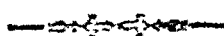
एयं खु नाणिनो सारं, जन्न हिंसइ किंचण।
अहिंसासमयं चेव, एतावंतं वियाणिया ॥१०॥

छाया—एतत् खलु ज्ञानिनः सारं यन्न हिनस्ति कञ्चन।
अहिंसासमताञ्चैवैतावद्विजानीयात् ॥

व्याकरण—(एयं) सर्वनाम, सारका विशेषण। (नाणिनो) सम्बन्धषष्ठ्यन्तपद। (सारं) कर्त्ता। (जत्) हेत्वर्थक (न) अव्यय (हिंसइ) क्रिया (किं) कर्म (च ण) अव्यय। (एतावन्तं) सर्वनाम (अहिंसासमयं) कर्म (वियाणिया) क्रिया।

अन्वयार्थ—(नाणिनो) विवेकी पुरुषके लिए (एयं खु) यही (सारं) न्यायसङ्गत है कि (किंचण) किसी जीवको (न हिंसइ) वे न मारें (अहिंसासमयं चेव) अहिंसाके कारण जो सब प्राणियोंमें समभाव रखना है (एतावन्तं) उसे भी इतना ही (वियाणिया) जानना चाहिए।

भावार्थ—किसी जीवको न मारना यही ज्ञानी पुरुषके लिए न्यायसंगत है और अहिंसारूप समता भी इतनी ही है।

किमर्थं सत्त्वान् न हिंस्यादित्याह—खुरवधारणे, एतदेव ज्ञानिनो विशिष्टविवेकवतः सारं न्याय्यं यत् कञ्चन प्राणिजातं स्थावरजङ्गमं वा न हिनस्ति न परितापयति। उपलक्षणञ्चैतत् तेन न मृषा ब्रूयान्नादत्तं गृह्णीयान्नाब्रह्माऽऽसेवेत न परिग्रहं परिगृह्णीयान्न नक्तं भुञ्जीतेत्येतद् ज्ञानिनः सारं यन्न कर्माश्रवेषु वर्तत इति। अपि च अहिंसया समता अहिंसासमता ताञ्चैतावद्विजानीयात्, यथा मम मरणं दुःख ञ्चाप्रियमेवमन्यस्यापि प्राणिलोकस्येति। एवकारोऽवधारणे, इत्येवं साधुना ज्ञानवता प्राणिनां परितापनाऽपद्रावणादि न विधेयमेवेति ॥१०॥

प्राणियोंकी हिंसा क्यों नहीं करनी चाहिए सो शास्त्रकार बतलाते हैं—'खु' शब्द अवधारण अर्थमें आया है। विशिष्टविवेकी अर्थात् ज्ञानी पुरुषके लिए यही न्याय सङ्गत है कि वे स्थावर जङ्गम किसी भी प्राणी की हिंसा न करे तथा उन्हें कष्ट न दें। यहाँ हिंसा न करना उपलक्षण है इसलिए ज्ञानी पुरुष झूठ न बोलें और न दी हुई चीज न लें, मैथुन सेवन न करें, परिग्रह न रखें और रात्रिभोजन न करें। ज्ञानीके लिए न्यायसङ्गत यही है कि वे कर्माश्रवोंमें न पड़ें। तथा अहिंसाके कारण जो समभाव है वह भी इतना ही है। जैसे मेरा मरण अप्रिय है उसी तरह सब प्राणियोंका अपना मरण अप्रिय है यह जानकर ज्ञानवान् साधुको, प्राणियोंको पीड़ा तथा कष्ट न देना चाहिए ॥ १० ॥

वुसिए य विगयगेही, आयाणं सं (सम्म) रक्खए।
चरिआसणसेज्जासु भत्तपाणे अ अंतसो ॥११॥

छाया—व्युषितश्च विगतगृद्धि रादानं सम्यग्रक्षेत।
चर्य्यासनशय्यासु भक्तपानेचान्तशः ॥

(व्याकरण) (वुसिए, विगयगेही) ये साधुके विशेषण हैं। (आयाणं) कर्म (संरक्खए) क्रिया (चरिआसणसेज्जासु, भत्तपाणे) अधिकरण (अ) अव्यय (अंतसो) अव्यय।

अन्वयार्थ—(वुसिए) दश प्रकारकी साधु समाचारीमें स्थित (विगयगेही) आहार आदिमें गृद्धिरहित साधु (आयाणं) ज्ञान दर्शन और चारित्रकी (संरक्खए) सम्यक् प्रकारसे रक्षा करे। (चरिआसणसेज्जासु) चलने फिरने बैठने और शय्याके विषयमें (अंतसो) अन्ततः (भत्तपाणे य) भात पानीके विषयमें सदा उपयोग रखे।

भावार्थ—दश प्रकारकी साधुसमाचारीमें स्थित आहार आदिमें गृद्धिरहित मुनि, ज्ञान दर्शन और चारित्रकी अच्छी तरहसे रक्षा करे एवं चलने फिरने बैठने सोने तथा भात पानीके विषयमें सदा उपयोग रखे।

टीका—विविधम्—अनेकप्रकार मुषितः स्थितो दशविधचक्रवाल-समाचार्य्यां व्युषितः, तथा विगता अपगता आहारादौ गृद्धिर्यस्याऽसौ विगतगृद्धिः साधुः एवंभूतश्चादीयते स्वीक्रियते प्राप्यते वा मोक्षो येन तदादानीयं-ज्ञानदर्शनचारित्रत्रयं तत्सम्यग् रक्षयेद् अनुपालयेत्, यथा यथा च तस्य वृद्धिर्भवति तथा तथा कुर्य्यादित्यर्थः। कथं पुनश्चारित्रादि पालितं भवतीति दर्शयति—चर्य्यासनशय्यासु, चरणं चर्य्या-गमनं साधुना हि सति प्रयोजने युगमात्रदृष्टिना गन्तव्यं, तथा सुप्रत्युपेक्षिते सुप्रमार्जिते चासने उपवेष्टव्यं तथा शय्यायां वसतौ संस्तारके वा सुप्रत्युपेक्षितप्रमा-

---

तलवारके समान जो दश प्रकारकी साधुसमारी है उसमें अनेक प्रकारसे स्थित पुरुष 'व्युषित' कहलाता है। तथा आहार आदिमें जिसकी गृद्धि नहीं है वह 'विगतगृद्धि' कहलाता है। इन दोनों गुणोंसे युक्त मुनि जिससे मोक्षकी प्राप्ति होती है ऐसे ज्ञान दर्शन और चारित्रकी सम्यक् प्रकारसे रक्षा करे। ज्ञान दर्शन और चारित्रकी जिस जिस तरहसे वृद्धि हो, उक्त मुनि उस उस तरहका कार्य्य करे। चारित्र आदिका पालन किस तरह हो सकता है? यह शास्त्रकार दिखलाते हैं—चलनेको, 'चर्य्या' कहते हैं। प्रयोजनवश किसी स्थानपर जाता हुआ साधु युग-मात्र दृष्टि रखकर जावे, तथा खूब अच्छी तरह देखकर सुप्रमार्जित आसनपर बैठे

जिते स्थानादि विधेयं, तथा भक्तपाने चान्तशः सम्यगुपयोगवता भाव्यम् इदमुक्तं भवति ईर्य्याभाषैषणाऽऽदाननिक्षेपप्रतिष्ठापनासमितिषूपयुक्तेनान्तशो भक्तपानं यावदुद्गमादिदोषरहितमन्वेषणीयमिति ॥११॥

एवं अपनी शय्या अथवा बिस्तरको अच्छी तरह देख और प्रमार्जित करके उसपर स्थिति करे एवं भात पानीके विषयमें भी अच्छी तरह उपयोग रखे। आशय यह है कि साधु, ईर्य्या, भाषा, आदान निक्षेप, और प्रतिष्ठापना समितिमें सदा उपयोग रखता हुआ उद्गमादि दोषवर्जित भात पानीका अन्वेषण करे ॥११॥
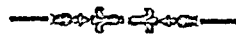
एतेहिं तिहिं ठाणेहिं, संजए सततं मुणी।
उक्कसं जलणं णूमं, मज्झत्थं च विगिंचए ॥१२॥

छाया—एतेषु त्रिषु स्थानेषु संयतः सततं मुनिः।
उत्कर्षं ज्वलनं छादकं मध्यस्थञ्च विवेचयेत् ॥

(व्याकरण) (एतेहिं) (तीहिं) स्थानके विशेषण (ठाणेहिं) अधिकरण (सततं) क्रियाविशेषण (संजए) मुनिका विशेषण (मुणी) कर्ता (उक्कसं) (जलणं) (णूमं) (मज्झत्थं) कर्म (विगिंचए) क्रिया (च) अव्यय।

अन्वयार्थ—(एतेहिं) इन (तीहिं) तीन (ठाणेहिं) स्थानोंमें (सततं) सदा (संजए) संयम रखता हुआ (मुणी) मुनि (उक्कसं) मान (जलणं) क्रोध (णूमं) माया (च) और (मज्झत्थं) लोभको (विगिंचए) त्याग करे।

भावार्थ—ईर्य्यासमिति, आदाननिक्षेपणासमिति और एषणासमिति, इन तीनों स्थानोंमें सदा संयम रखता हुआ मुनि क्रोध मान माया और लोभको त्याग करे।

पुनरपि चारित्रशुद्ध्यर्थं गुणानधिकृत्याह—एतानि—अनन्तरोक्तानि त्रीणि स्थानानि, तद्यथा ईर्य्यासमितिरित्येकं स्थानम् आसनं शय्येत्यनेनादानभाण्डमात्रनिक्षेपणासमितिरित्येतच्च द्वितीयं स्थानं भक्तपानमित्यनेनैषणासमितिरुपात्ता भक्तपानार्थञ्च प्रविष्टस्य भाषणसम्भवाद्

फिर भी शास्त्रकार चारित्रकी शुद्धिके लिए गुणोंको बतलाते हैं। पूर्वोक्त तीन स्थानोंमें साधुको सदा संयमके साथ रहना चाहिए। पूर्वोक्त तीन स्थान ये हैं—ईर्य्यासमिति, यह पहला स्थान है। तथा आसन और शय्या शब्दसे आदान, और भाण्डनिक्षेपणा समिति कही गई है यह दूसरा स्थान है। भक्त पान शब्दसे एषणासमिति कही गई है। भक्त पानके लिए गृहस्थके घरमें प्रवेश किए हुए साधुका भाषण करना भी संभव है इसलिए यहाँ भाषासमितिका भी आक्षेप समझना चाहिए। आहार

भाषासमितिराक्षिप्ता । सति चाहारे उच्चारप्रस्रवणादीनां सद्भावात् प्रतिष्ठापनासमितिरप्यायातेत्येतच्च तृतीयं स्थानमिति, अत एतेषु त्रिषु स्थानेषु सम्यग्यतः संयत आमोक्षाय परिव्रजेदित्युत्तरश्लोकान्ते क्रियेति । तथा सततम् अनवरतम् मुनिः सम्यक् यथावस्थितजगत्त्रयवेत्ता उत्कृष्यते आत्मा दर्पाध्मातो विधीयतेऽनेनेत्युत्कर्षो मानः तथा आत्मानं चारित्रं वा ज्वलयति दहतीति ज्वलनः क्रोधः तथा 'णूम' मिति गहनं मायेत्यर्थः तस्या अलब्धमध्यत्वादेवमभिधीयते, तथा आसंसारमसुमतां मध्ये अन्तर्भवतीति मध्यस्थो लोभः, च शब्दः समुच्चये, एतान् मानादींश्चतुरोऽपि कषायाँस्तद्विपाकाभिज्ञो मुनिः सदा विगिंचएत्ति विवेचयेदात्मनः पृथक् कुर्य्यादित्यर्थः । ननु चान्यत्रागमे क्रोध आदावुपन्यस्यते, तथा क्षपकश्रेण्या मारूढो भगवान् क्रोधादीनेव संज्वलनान् क्षपयति तत्किमर्थमागम प्रसिद्धं क्रम मुल्लङ्घ्यादौ मानस्योपन्यास इति ? अत्रोच्यते, माने सत्यवश्यं भावी क्रोधः कोधे तु मानः स्याद्वा न वेत्यस्यार्थस्य प्रदर्शनायान्यथा क्रम करणमिति ॥ १२ ॥

करने पर उच्चार और प्रस्रवण भी संभव है इसलिए प्रतिष्ठापनासमिति भी यहाँ आही जाती है, यह तीसरा स्थान है । इन तीनों स्थानोंमें सदा संयमके साथ रहता हुआ साधु मोक्षपर्य्यन्त संयमका पालन करे यह उत्तर श्लोककी क्रियाका यहां सम्बन्ध करना चाहिए । तीन लोकके यथार्थ स्वरूपको जाननेवाला मुनि जिससे आत्मा अभिमान युक्त होता है ऐसे उत्कर्ष यानी मानको त्याग देवे । जो अपने आत्माको तथा चारित्रको जलाता है उसे 'ज्वलन' कहते हैं वह, क्रोध है उस क्रोधको भी मुनि छोड़े देवे । एवं 'णूम' मायाको कहते हैं इस मायाका मध्य जाना नहीं जाता है इसलिए इसे 'णूम' (गहन) कहते हैं । मुनिराज इस मायाको भी त्याग करें । संसार पर्य्यन्त जो प्राणियोंके मध्यमें निवास करता है उसे मध्यस्थ कहते हैं वह लोभ है उसको भी मुनि छोड़ देवें । इस गाथामें 'च' शब्द समुच्चयार्थक है इसलिए चतुर्विध कषायोंका फल जाननेवाला मुनि उक्त चार कषायोंको सदाके लिए त्याग देवे ।

शङ्का—दूसरी जगह सर्वत्र आगमोंमें पहले क्रोधका कथन हुआ है तथा क्षपक श्रेणिमें आरूढ़ भगवान् संज्वलनात्मक क्रोध आदि का ही नाश करते हैं फिर शास्त्र प्रसिद्ध क्रमको उल्लंघन करके यहां पहले मानका कथन क्यों किया है ?

समाधान—मान होनेपर क्रोध अवश्य होता है परन्तु क्रोध होनेपर मान होता भी है और नहीं भी होता है इसी बातको प्रकट करनेके लिए यहां क्रमका उल्लंघन किया है ॥ १२ ॥

समिए उ सया साहू, पंचसंवरसवुडे ।
सिएहिं असिए भिक्खू, आमोक्खाय परिव्वएज्जासि १३॥॥

त्ति बेमि

छाया—समितस्तु सदा साधुः पञ्चसंवरसंवृतः ।
सितेष्वसितो भिक्षु रामोक्षाय परिव्रजेदिति ब्रवीमि ॥

व्याकरण—(समिए, पंचसंवरसंवुडे) साधुके विशेषण (हि, सया) अव्यय (सिएहिं) अधिकरण (असिए) साधुका विशेषण (आमोक्षाय) चतुर्थ्यन्त (परिव्वएज्जा) क्रिया (त्ति) अव्यय (बेमि) क्रिया ।

अन्वयार्थ—(भिक्खू) भिक्षणशील (साहू) साधु (सया) सदा (समिए) समितिसे युक्त और (पंचसंवरसंवुडे) पांच संवरसे गुप्त रहता हुआ (सिएहिं) गृह पाशमें बँधे हुए गृहस्थोंमें (असिए) मूर्च्छा न रखता हुआ (आमोक्खाय) मोक्ष पर्य्यन्त (परिव्वएज्जा) संयमका अनुष्ठान करे (त्ति बेमि) यह मैं कहता हूँ ।

भावार्थ—भिक्षणशील साधु, समितिसे युक्त और पांच संवरोंसे गुप्त होकर गृहस्थोंमें मूर्च्छा न रखता हुआ मोक्षकी प्राप्ति पर्य्यन्त संयमका पालन करे यह श्री सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामीसे कहते हैं कि यह मैं कहता हूँ ।

तदेवं मूलगुणानुत्तरगुणांश्चोपदर्श्याधुना सर्वोपसंहारार्थमाह—तुरवधारणे, पञ्चभिः समितिभिः समित एव साधुः, तथा प्राणातिपातादि-पञ्चमहाव्रतोपेतत्वात्पञ्चप्रकारसंवरसंवृतः, तथा मनोवाक्कायगुप्तिगुप्तः, तथा गृहपाशादिषु सिताः बद्धाः अवसक्ताः गृहस्थास्तेष्वसितः—अनवबद्धस्तेषु मूर्च्छामकुर्वाणः पङ्काधारपङ्कजवत्तत्कर्मणाऽदिह्यमानो

इस प्रकार मूल गुण और उत्तर गुणोंको बताकर अब शास्त्रकार सबका उपसंहार करते हुए कहते हैं । यहां तु शब्द अवधारणार्थक है । साधु सदा पांच प्रकारकी समितियोंसे युक्त होकर रहे । एवं प्राणातिपातविरमण आदि पांच महाव्रतोंसे युक्त रहता हुआ साधु सदा पांच संवरोंसे गुप्त रहे । एवं मन, वचन, और कायसे सदा गुप्त रहे । गृह पाशमें बँधे हुए गृहस्थोंमें साधु मूर्च्छा न करे । जैसे कीचड़में

भिक्षुः—भिक्षणशीलो भावभिक्षुः आमोक्षाय अशेषकर्मापगमलक्षणमोक्षार्थमपि समन्तात् व्रजेः संयमानुष्ठानरतो भवेस्त्वमिति विनेयस्योपदेशः। इतिः अध्ययनसमाप्तौ। ब्रवीमीति गणधर एवमाह यथा तीर्थकृतोक्तं तथैवाहं ब्रवीमि, न स्वमनीषिकयेति। गतोऽनुगमः। साम्प्रतं नयास्तेषामयमुपसंहारः "सव्वेसिं पि नयाणं, बहुविधवत्तव्वयं निसामित्ता। तं सव्वणयविसुद्धं जं चरणगुणट्ठिओ साहू" १ ॥ १३ ॥ ८८ ॥ इति सूत्रकृताङ्गे समयाख्यं प्रथमाध्ययनं समाप्तम्।

रहता हुआ भी कमल कीचड़से लिप्त नहीं होता है उसी तरह गृहस्थोंमें निवास करता हुआ भी साधु उनके कर्मसे लिप्त न हो। इस प्रकार भिक्षणशील अर्थात् हे भावभिक्षो ? समस्त कर्मोंका क्षय करनेके लिए सदा संयमके अनुष्ठानमें रत रहो यह शिष्यके प्रति उपदेश है। यहां 'इति' शब्द अध्यायकी समाप्तिका द्योतक है। 'ब्रवीमि' मैं कहता हूँ यह गणधर कहते हैं। गणधर कहते हैं कि तीर्थंकरने जैसा मुझसे कहा है वैसा ही मैं कहता हूँ अपनी इच्छासे नहीं कहता। अनुगम समाप्त हुआ अब नयोंका अवसर है। (सव्वेसिं) सब नयोंका बहुविध वक्तव्यको सुनकर, उसीको सर्वनयविशुद्ध मानना चाहिए जिसको क्रिया और ज्ञानमें स्थित साधु विशुद्ध मानते हैं।

श्री सूत्रकृताङ्ग सूत्रका समय नायक प्रथम अध्ययन समाप्त हुआ।

ओम् अर्हम्
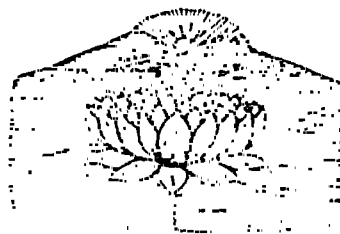
अथ श्रीसूत्रकृताङ्गसूत्रस्य द्वितीयाध्ययनमारभ्यते

अथ द्वितीयाध्ययनस्य प्रथमोद्देशकः प्रारभ्यते। उक्तं समयाख्यं प्रथम मध्ययनं, साम्प्रतं वैतालीयाख्यं द्वितीय मारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः—इहानन्तराध्ययने स्वसमयगुणाः परसमयदोषाश्च प्रतिपादिताः तांश्च ज्ञात्वा यथा कर्म विदार्यते तथा बोधो विधेय इत्यनेन सम्बन्धेनाऽऽयातस्यास्याध्ययनस्योपक्रमादीनि चत्वार्यनुयोगद्वाराणि भणनीयानि, तत्राप्युपक्रमान्तर्गतोऽर्थाधिकारो द्वेधा अध्ययनार्थाधिकार उद्देशार्थाधिकारश्च, तत्राध्ययनार्थाधिकारः प्रागेव निर्युक्तिकारेणाभाणि 'णाऊण बुज्झणाचेवे' त्यनेन गाथाद्वितीयपादेनेति, उद्देशार्थाधिकारन्तु स्वत एव निर्युक्तिकार उत्तरत्र वक्ष्यति, नामनिष्पन्नं तु निक्षेप मधिकृत्य निर्युक्तिकृदाह—

वेयालियंमि वेयालगो य वेयालणं वियालणियं।
तिन्निवि चउक्कगाइं वियालओ एत्थ पुण जीवो ॥ ३६ ॥

समय नामक प्रथम अध्ययन कहा जा चुका अब वैतालीय नामक दूसरा अध्ययन आरम्भ किया जाता है। इस अध्ययनका पूर्व अध्ययनके साथ सम्बन्ध यह है—पूर्व अध्ययनमें अपने समय (सिद्धान्त) के गुण और पर समय (सिद्धान्त) के दोष कहे गए हैं, उन्हें जानकर जिस तरह, कर्मका नाश किया जा सकता है वैसा ज्ञान प्राप्त करना चाहिए यह उपदेश देनेके लिए इस दूसरे अध्ययनका जन्म हुआ है। इस अध्ययनके उपक्रम * आदि चार अनुयोग द्वार कहने चाहिये। उनमें उपक्रममें अर्थाधिकार दो हैं, एक अध्यनार्थाधिकार अर्थात् सम्पूर्ण अध्ययनमें कहा जानेवाला विषय और दूसरा उद्देशार्थाधिकार अर्थात् इस अध्ययनके उद्देशकोंमें कहा जानेवाला विषय। इनमें "णाउण बुज्झणा चेव" इस गाथाके द्वितीय पादके द्वारा अध्ययनार्थाधिकारको पहले ही निर्युक्तिकारने बतला दिया है और उद्देशार्थाधिकार भी आगे चलकर स्वयमेव निर्युक्तिकार बतलावेंगे, अब निर्युक्तिकार नामनिक्षेपके विषयमें कहते हैं।

---

* "उपायपूर्वक आरम्भ उपक्रमः" उपाय पूर्वक आरम्भ करनेका नाम उपक्रम है।

तत्र प्राकृतशैल्या वेयालियमिति 'दृविदारणे' इत्यस्य धातो र्वि पूर्वकस्य छान्दसत्वात् भावे ण्वुल्प्रत्ययान्तस्य विदारकमिति क्रियावाचक मिदमध्ययनाभिधानमिति, सर्वत्र च क्रियायामेतत् त्रयं सन्निहितं, तद्यथा कर्ता, करणं, कर्म चेति, अतस्तद्दर्शयति—विदारको, विदारणं, विदारणीयश्च । तेषां त्रयाणामपि नामस्थापनाद्रव्यभावभेदाच्चतुर्द्धा-निक्षेपेण त्रीणि चतुष्ककानि द्रष्टव्यानि । अत्र च नामस्थापने क्षुण्णे, द्रव्यविदारको यो हि द्रव्यं काष्ठादि विदारयति, भावविदारकस्तु कर्मणो विदार्यत्वात् नो आगमतो जीवविशेषः साधुरिति ॥ ३६ ॥

करणमधिकृत्याह—

"दव्वं च परसुमादी, दंसणणाणतवसंजमा भावे ।
दव्वं च दारुगादी भावे कम्मं वियालणियं ॥ ३७ ॥

नामस्थापने क्षुण्णे द्रव्यविदारणं परश्वादि, भावविदारणं तु दर्शन ज्ञानतपःसंयमाः, तेषामेव कर्मविदारणे सामर्थ्यमित्युक्तं भवति,

---

विपूर्वक 'दृ विदारणे' इस धातुसे छान्दसत्वात् भावमें ण्वुल् प्रत्यय करके 'विदारकम्' यह पद बना है यह पद क्रियावाचक है और यही इस अध्ययनका नाम है परन्तु प्राकृतकी शैलीसे इसको 'वेयालिय' कहते हैं । जहां क्रिया होती है, वहां ये तीन अवश्य रहते हैं, कर्ता, करण और कर्म । अतः निर्युक्तिकार इन्हें दिखलाते हैं यहाँ विदारण करनेवाला और विदारणका साधन तथा विदारण करने योग्य पदार्थ भी अवश्य हैं, इन तीनोंका नाम स्थापना द्रव्य और भाव भेदसे चार प्रकारका निक्षेप करने पर तीन चतुष्क (चौक) होते हैं । इनमें नाम और स्थापना वार वार कहे गये हैं अतः उन्हें छोड़कर द्रव्यविदारक कहा जाता है । जो काष्ठ आदि द्रव्योंको विदारण करता है वह द्रव्यविदारक है और जो कर्मको विदारण करता है वह भावविदारक है । भावविदारक नोआगमसे जीवविशेष है और वह जीव विशेष साधु है ॥३६॥

अब करणका निक्षेपके विषयमें कहते हैं । नाम और स्थापना वार वार कहे गये हैं इसलिए उन्हें छोड़कर द्रव्यविदारण बताया जाता है । काठ आदिको विदारण करनेवाले कुठार आदि द्रव्यविदारण हैं और दर्शन ज्ञान, तप तथा संयम ये भाव विदारण हैं क्योंकि कर्मको विदारण करनेका सामर्थ्य इन्हींमें विद्यमान है । अब विदारण करने योग्य वस्तुका निक्षेप बतलाते हैं । नाम और

विदारणीयं तु नामस्थापने अनादृत्य द्रव्यं दार्वादि भावे पुनरष्ट प्रकारं कर्मेति ॥ ३७ ॥

साम्प्रतं 'वेतालिय' मित्येतस्य निरुक्तं दर्शयितुमाह—

"वेयालियं इह देसियंति वेयालियं तओ होइ।
वेयालियं तहा वित्तमत्थि तेणेव य णिवद्धं ॥ ३८ ॥

इहाध्ययनेऽनेकधा कर्मणां विदारणमभिहितमिति कृत्वैतदध्ययनं निरुक्तिवशाद्विदारकं ततो भवति, यदि वा वैतालीयमित्यध्ययननाम, अत्राऽपि प्रवृत्तौ निमित्तं—वैतालीयं छन्दोविशेषरूपं वृत्तमस्ति, तेनैव च वृत्तेन निवद्धमित्यध्ययनमपि वैतालीयं तस्य चेदं लक्षणम्—"वैतालीयं लॅग-नैर्धनाः षड्युक्पादेऽष्टौ समे च लः। न समोऽत्र परेण युज्यते नेतः षट् च निरन्तरा युजोः" ॥ ३८ ॥

साम्प्रतमध्ययनस्योपोद्घातं दर्शयितुमाह—

कामं तु सासणमिणं कहियं अट्ठावयंमि उसभेणं ।
अट्ठाणउतिसुयाणं सोऊणं ते वि पव्वइया ॥३९॥

कामशब्दोऽयमभ्युपगमे, तत्र यद्यपि सर्वोऽप्यागमः शाश्वतः तद-

स्थापनाको छोड़कर द्रव्य और भावविदारणीय पदार्थ बताये जाते हैं। काठ आदि पदार्थ द्रव्य विदारणीय हैं और आठ प्रकारके कर्म भावरूप विदारणीय हैं ॥ ३७ ॥

अब वैतालीय शब्दकी व्याख्या करनेके लिए निर्युक्तिकार कहते हैं। इस अध्ययनमें कर्मोंको विदारण करनेकी रीतियाँ अनेकों वताई गई हैं इसलिए इस अध्ययनको अर्थवश 'विदारक' कहते हैं। अथवा इस अध्ययनका "वैतालीय" नाम है। यह नाम होनेका कारण यह है कि वैतालीय नामका एक छन्दोविशेष होता है उसी छन्दमें इस अध्ययनकी रचनाकी गई है इसलिए इसका नाम 'वैतालीय' है। इस वैतालीय छन्दका लक्षण यह है कि—(वैतालीयं) जिस वृत्तके प्रत्येक पादके अन्तमें रगण, लघु, और गुरू हों, तथा प्रथम और तृतीय पादमें छः छः मात्रायें हों एवं द्वितीय और चतुर्थ पादमें आठ आठ मात्रायें हों एवं समसंख्या-वाला लघु परवर्णसे गुरु न किया जाता हो तथा द्वितीय और चतुर्थ चरणमें लगातार छः लघु न हों उसे 'वैतालीय' छन्द कहते हैं ॥ ३८ ॥

अब निर्युक्तिकार अध्ययनका उपोद्घात (अवतरण) दिखानेके लिए कहते हैं। इस गाथामें 'काम' शब्द स्वीकार अर्थमें आया है। यद्यपि सभी आगम

न्तर्गतमध्ययनमपि तथापि भगवता आदितीर्थाधिपेनोत्पन्नदिव्यज्ञानेनाष्टापदोपरिव्यवस्थितेन भरताधिपभरतेन चक्रवर्तिनोपहतैरष्टनवतिभिः पुत्रैः पृष्टेन यथा भरतोऽस्मानाज्ञां कारयतीत्यतः किमस्माभिर्विधेयमित्यतस्तेषामङ्गारदाहकदृष्टान्तं प्रदर्श्य न कथञ्चिज्जन्तो र्भोगेच्छा निवर्तते इत्यर्थ गर्भमिदमध्ययनं कथितं प्रतिपादितं तेऽप्येतच्छ्रुत्वा संसारासारता मवगम्य विषयाणाञ्च कटुविपाकतां निःसारताञ्च ज्ञात्वा मत्तकरिकर्णवच्चपलमायुर्गिरिनदीवेगसमं यौवनमित्यतो भगवदाज्ञैव श्रेयस्करीति तदन्तिके सर्वे प्रव्रज्यां गृहीतवन्त इति। अत्र 'उद्देसे निद्देसे य' इत्यादिः सर्वोऽप्युपोद्घातो भणनीयः ॥ ३९ ॥

साम्प्रतमुद्देशार्थाधिकारं प्रागुल्लिखितं दर्शयितुमाह—

पढमे संबोहो अनिच्चया य, बीयंमि माणवज्जणया।
अहिगारो पुण भणिओ, तहा तहा बहुविहो तत्थ ॥४०॥
उद्देसंमि य तइए अन्नाणच्चियस्स अवचओ भणिओ।
वज्जयव्वो य सया सुहप्पमाओ जइजणेणं ॥४१॥

तत्र प्रथमोद्देशके हिताहितप्राप्तिपरिहारलक्षणो बोधो विधेयोऽनि-

---

शाश्वत अर्थात् नित्य हैं अतः उन आगमोंके अन्तर्गत अध्ययन भी नित्य हैं तथापि भरत चक्रवर्तीके द्वारा संताये हुए, भगवान् ऋषभदेवजीके ९९ पुत्रोंने अष्टापद पर्वत पर स्थित उत्पन्नदिव्यज्ञान भगवान् ऋषभदेवजीसे पूछा था कि हे भगवन्! भरत हम लोगोंसे अपनी आज्ञा पालन कराना चाहता है, हमें क्या करना चाहिए सो आप उपदेश कीजिए तब भगवान् आदि तीर्थङ्कर श्रीऋषभदेवजीने अपने पुत्रोंको अग्निका दृष्टान्त देकर यह उपदेश किया था कि जैसे काष्ठसे अग्निकी तृप्ति नहीं होती है इसी तरह विषय भोगनेसे मनुष्यकी इच्छानिवृत्ति नहीं होती है यही उपदेश इस अध्ययनमें कहागया है। इसके पश्चात् श्री ऋषभदेवजीका उपदेश सुनकर उनके ९९ पुत्रोंने संसारको असार और विषयभोगका कटुफल तथा साररहित एवं मतवाला हाथीके कानके समान आयुको चञ्चल और पहाड़ी नदीके समान युवावस्थाको अस्थिर जानकर भगवान्‌की आज्ञा पालन करनेमें ही कल्याण है यह समझकर उनके पास प्रव्रज्या ग्रहण कीथी। यहाँ भी 'उद्देसे निद्देसे य' इत्यादि सभी उपोद्घात कहने चाहिए ॥३९॥

अब निर्युक्तिकार पहले कहेहुए उद्देशकोंका अर्थाधिकार दिखानेके लिए कहते हैं। प्रथम उद्देशकमें कहा है कि मनुष्यको हितकी प्राप्ति और अहितके त्यागका ज्ञान

त्यताचेत्ययमर्थाधिकारः द्वितीयोद्देशके मानो वर्जनीय इत्ययमर्थाधिकारः पुनश्च तथा तथाऽनेकप्रकारो बहुविधं शब्दादावर्थेऽनित्यतादिप्रतिपादकोऽर्थाधिकारो भणित इति, तृतीयोद्देशकेऽज्ञानोपचितस्य कर्मणोऽपचयरूपोऽर्थाधिकारो भणित इति यतिजनेन च सुखप्रमादो वर्जनीयः सदेति ॥ ४१ ॥

प्राप्त करना चाहिए तथा इस जगत्‌को अनित्य समझना चाहिए। द्वितीय उद्देशकमें कहा है कि मनुष्यको मानका त्याग करना चाहिए। तथा शब्द आदिमें और अर्थमें अनेक प्रकारसे अनित्यताका प्रतिपादन भी द्वितीय उद्देशकमें किया गया है। तृतीय उद्देशकमें कहा है कि अज्ञानके द्वारा वृद्धिको प्राप्त कर्मोंका नाश करना आवश्यक है इसलिए साधुको सुख और प्रमाद त्याग देने चाहिए ॥४१॥

संबुज्झह किं न बुज्झह ? संबोही खलु पेच्च दुल्लहा ।
णो हूवणमंति राइओ, नो सुलभं पुणरावि जीवियं ॥१॥

छाया—संवुध्यध्वं किं न वुध्यध्वं ? संम्बोधिः खलु प्रेत्य दुर्लभा ।
नोहूपनमन्ति रात्रयः, नो सुलभं पुनरपि जीवितम् ॥

व्याकरण—(संबुज्झह) क्रिया (न) अव्यय (खलु) अव्यय (संवोही) कर्ता (पेच्च) पूर्वकालिक क्रिया (दुल्लहा) संवोधिका विशेषण (णो, हु) अव्यय (उवणमंति) क्रिया (राइओ) कर्ता (नो) अव्यय (सुलभं) जीवितका विशेषण (पुणरावि) अव्यय (जीवियं) कर्ता ।

अन्वयार्थ—(संबुज्झह) हे भव्यों ! तुम बोध प्राप्त करो (किं न बुज्झह) क्यों नहीं बोध प्राप्त करते (पेच्च) मरनेके पश्चात् (संवोही) बोध प्राप्त करना (दुल्लहा खलु) दुर्लभ है। (राइओ) व्यतीत रात्रि (णोहूवणमंति) लौटकर नहीं आती है (जीवियं) और संयमजीवन (पुणरावि) फिर (नो सुलभं) सुलभ नहीं है।

भावार्थ—हे भव्यों ! तुम बोध प्राप्त करो, तुम क्यों नहीं बोध प्राप्त करते ? जो रात्रि व्यतीत हो गई है वह फिर लौटकर नहीं आती है और संयमजीवन फिर सुलभ नहीं है।

टीका—साम्प्रतं सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्र मुच्चारणीयं तच्चेदम्—

तत्र भगवान् आदितीर्थंकरो भरततिरस्कारागतसंवेगान् स्वपुत्रानुद्दिश्येदमाह, यदि वा सुरासुरनरोरगतिरश्चः समुद्दिश्य प्रोवाच यथा—संबुध्यध्वं यूयं ज्ञानदर्शनचारित्रलक्षणे धर्मे बोधं कुरुत, यतः पुनरेवंभूतोऽवसरो दुरापः तथाहि मानुषं जन्म तत्राऽपि कर्मभूमिः पुनरार्यदेशः सुकुलोत्पत्तिः सर्वेन्द्रियपाटवं श्रवणश्रद्धादिप्राप्तौ सत्यां स्वसंवित्त्यवष्टम्भेनाह—किं न बुध्यध्वमिति, अवश्यमेवंविधसामग्र्यवाप्तौ सकर्णेन तुच्छान् भोगान् परित्यज्य सद्धर्मे बोधो विधेय इति भावः, तथाहि "निर्वाणादि सुखप्रदे नरभवे जैनेन्द्रधर्मान्विते, लब्धे स्वल्पमचारु कामजसुखं नो सेवितुं युज्यते। वैदूर्य्यादिमहोपलौघनिचिते प्राप्तेऽपि रत्नाकरे लातुं स्वल्प मदीप्ति काचशकलं किं साम्प्रतं साम्प्रतम्"? अकृतधर्माचरणानान्तु प्राणिनां संबोधिः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रावाप्तिलक्षणा प्रेत्य परलोकगतानां खलु शब्दस्यावधारणार्थत्वाद् सुदुर्लभैव। तथाहि—

टीकार्थ—सूत्रानुगममें अस्खलित आदि गुणोके साथ सूत्रका उच्चारण करना चाहिये वह सूत्र यह है।

भगवान् आदि तीर्थङ्कर श्रीऋषभदेव स्वामी, भरत चक्रवर्तीके तिरस्कारसे जिनको वैराग्य उत्पन्न हो गया था ऐसे अपने पुत्रोंके प्रति यह कहते हैं अथवा सुर, असुर, मनुष्य, नाग और तिर्य्यञ्चोंके प्रति भगवान् कहते हैं कि हे भव्यों! तुम ज्ञान दर्शन और चारित्ररूप धर्मका बोध प्राप्त करो क्योंकि फिर ऐसा अवसर मिलना कठिन है। एक तो मनुष्यका जन्म, उसपर भी कर्मभूमि, फिर आर्य्यदेश, एवं सुन्दर कुलमें उत्पत्ति, तथा सब इन्द्रियोंसे पटु होना यह बड़ा ही दुर्लभ है। श्रवण श्रद्धा आदिकी प्राप्ति होनेपर भगवान् अपना विचार प्रकट करते हुए कहते हैं कि आप लोग ज्ञान दर्शन और चारित्रका बोध क्यों नहीं प्राप्त करते? पूर्वोक्त सामग्रीको पाकर अवश्य बुद्धिमान्को तुच्छ विषयोंका सेवन छोड़कर सद्धर्मका बोध प्राप्त करना चाहिए। निर्वाण आदि सुखोंको देनेवाला, जैनेन्द्र सम्बन्धी धर्मसे युक्त इस मनुष्य भवको पाकर तुच्छ और असुन्दर कामभोगका सेवन करना ठीक नहीं है क्योंकि वैदूर्य्य आदि मणियोंसे युक्त रत्नाकर (समुद्र) मिल जानेपर तेजोहीन और तुच्छ काँचका टुकड़ा लेना उचित नहीं है। जिसने धर्माचरण नहीं किया है ऐसे पुरुषको परलोकमें, ज्ञान दर्शन और चारित्ररूप धर्मकी प्राप्ति दुर्लभ ही है। यहाँ 'खलु' शब्द अवधारणार्थक है। जो पुरुष विषय सेवनमें पड़कर एकबार

विषयप्रमादवशात् सकृद् धर्माचरणाद् भ्रष्टस्यानन्तमपि कालं संसारे पर्य्यटनमभिहितमिति। किञ्च हुरित्यवधारणे, नैवातिक्रान्ता रात्रयः उपनमन्ति पुनर्ढौकन्ते, नह्यतिक्रान्तो यौवनादिकालः पुनरावर्तत इति भावः तथाहि—"भवकोटीभिरसुलभं मानुष्यं प्राप्य कः प्रमादो मे नहि गतमायु र्भूयः प्रत्येत्यपि देवराजस्य"? नो नैव संसारे सुलभं सुप्रापं संयमप्रधानं जीवितं, यदि वा जीवितम् आयुस्त्रुटितं सत् तदेव सन्धातुं न शक्यत इति वृत्तार्थः संवोधश्च प्रसुप्तस्य सतो भवति स्वापश्च निद्रोदये, निद्रासंवोधयोश्च नामादिश्चतुर्द्धा निक्षेपः, तत्र नामस्थापने अनादृत्य-द्रव्यभावनिक्षेपं प्रतिपादयितुं निर्युक्तिकृदाह—"दव्वं निद्दावेओ दंसणणाणतवसंजमा भावे। अहिगारो पुण भणिओ, नाणे तवदंसणचरित्ते ॥ ४२ ॥ इह च गाथायां द्रव्यनिद्राभावसंवोधश्च दर्शितः तत्राद्यन्त-ग्रहणेन भावनिद्राद्रव्यबोधयोस्तदन्तर्वर्तिनोर्ग्रहणं द्रष्टव्यं, तत्र द्रव्यनिद्रा निद्रावेदो वेदन मनुभवः दर्शनावरणीयविशेषोदय इति यावत्, भावनिद्रातु ज्ञानदर्शनचारित्रशून्यता। तत्र द्रव्यबोधो द्रव्यनिद्रया सुप्तस्य बोधनं,

---

भी धर्माचरणसे भ्रष्ट हो जाता है वह अनन्त कालतक इस संसारमें ही भ्रमण करता है यह आगममें कहा है। यहाँ 'हु' शब्द अवधारणार्थक है। जो रात्रि, व्यतीत हो गई है वह फिर लौटकर नहीं आती है। आशय यह है कि व्यतीत हुआ यौवन आदि काल फिर लौटकर नहीं आता है। कहा भी है—(भवकोटिभिः) अर्थात् करोड़ों जन्मके बाद भी जिसका प्राप्त होना कठिन है ऐसे मनुष्य भवको पाकर भी मैं क्यों प्रमाद कर रहा हूँ? जो आयु बीत गई है वह फिर लौटकर नहीं आती है चाहे वह आयु इन्द्रकी ही क्यों न हो?। इस जगत्में संयमप्रधान जीवन सुलभ नहीं है अथवा टूटी हुई आयु जोड़ी नहीं जा सकती है यह इस वृत्तका अर्थ है। 'संबोध' शब्दका जागना अर्थ है। जो सोया हुआ होता है उसको संबोध होता है और निद्राके उदय होनेपर शयन होता है। निद्रा और संबोधके नाम आदि चार प्रकारके निक्षेप होते हैं। इनमें नाम और स्थापनाको छोड़कर निर्युक्तिकार द्रव्य और भाव निक्षेप बतानेके लिए कहते हैं—(दव्वं निद्दा) इस गाथामें द्रव्यनिद्रा और भावसंबोध (भावसे जागना) दिखाये गये हैं। द्रव्यनिद्रा आदि है और भाव प्रबोध अन्त है अतः आदि और अन्तके ग्रहणसे उनके मध्यवर्ती भावनिद्रा और द्रव्यबोधका भी ग्रहण समझना चाहिए। इनमें दर्शनावरणीय कर्मका उदय स्वरूप निद्राका अनुभव करना द्रव्यनिद्रा है और ज्ञान

भावे भावविषये पुनर्बोधो दर्शनज्ञानचारित्रतपःसंयमाः द्रष्टव्याः। इह च भावप्रबोधेनाधिकारः स च गाथापश्चार्द्धेन सुगमेन प्रदर्शित इति। अत्र च निद्राबोधयोर्द्रव्यभावभेदाच्चत्वारो भङ्गा योजनीया इति ॥४२॥

दर्शन तथा चरित्रकी शून्यता भावनिद्रा है। द्रव्यनिद्रामें सोये हुए पुरुषका जागना द्रव्यबोध है और ज्ञानदर्शन चारित्र तप और संयमको स्वीकार करना भावबोध है। यहाँ भावबोधका ही वर्णन है यह इस गाथाका उत्तरार्द्धके द्वारा सुगमतासे बताया है। यहाँ द्रव्य और भाव भेदसे * निद्रा और बोधके चार भेद स्वयं जान लेने चाहिये ॥ ४२ ॥

डहरा बुड्ढा य पासह गब्भत्था वि चयंति माणवा।
सेणे जह वट्टयं हरे एवं आउखयंमि तुट्टई ॥२॥

छाया—दहराः वृद्धाश्च पश्यत गर्भस्था अपि त्यजन्ति मानवाः।
श्येनो यथा वर्तिकां हरेदेवमायुःक्षये त्रुट्यति ॥ २ ॥

व्याकरण—(डहरा, बुड्ढा गब्भत्था) ये तीनो मानवके विशेषण हैं। (य, अपि) अव्यय हैं। (चयंति) क्रिया (माणवा) कर्ता। (पासह) क्रिया, इसका कर्ता आक्षिप्त यूयं है। (जह) उपमा वाचक अव्यय (सेणे) कर्ता (वट्टयं) कर्म (हरे) क्रिया (एवं) अव्यय (आउखयंमि) अधिकरण (तुट्टई) क्रिया।

अन्वयार्थ—(डहरा) छोटे बच्चे (बुड्ढा) वृद्ध (य) और (गब्भत्थावि) गर्भमें स्थित बालक भी (माणवा) मनुष्य (चयंति) अपने जीवनको छोड़ देते हैं। (जह) जैसे (सेणे) श्येनपक्षी (वट्टयं) वर्तक पक्षीको (हरे) हर लेता है (मार डालता है) (एवं) इसी तरह (आउखयंमि) आयुक्षय होने पर (तुट्टई) जीवोंका जीवन नष्ट हो जाता है।

भावार्थ—श्रीऋषभदेव स्वामी अपने पुत्रोंसे कहते हैं कि हे पुत्रों ! बालक,

* द्रव्यसे सोना और भावसे जागना यह पहला भङ्ग है। द्रव्यसे जागना और भावसे सोना यह दूसरा भङ्ग है। द्रव्य और भाव दोनोंसे सोना यह तीसरा भङ्ग है। द्रव्य और भाव दोनोंसे जागना यह चौथा भङ्ग है। जो शरीरसे सोता है परन्तु ज्ञानदर्शन और चारित्रसे जागता है वह प्रथम भङ्गका पुरुष है। जो शरीरसे जागता है परन्तु ज्ञानदर्शन और चारित्रसे सोता है वह दूसरा भङ्गका पुरुष है। जो, शरीरसे भी सोता है और ज्ञानदर्शन तथा चारित्रसे भी सोता है वह तीसरा भङ्गका पुरुष है। जो शरीरसे भी जागता है और ज्ञानदर्शन तथा चारित्रसे भी जागता है वह चौथा भङ्गका पुरुष है।

वृद्ध, और गर्भस्थ मनुष्य भी अपने जीवनको छोड़ देते हैं यह देखो। जैसे श्येन पक्षी वर्तक पक्षीको मार डालता है इसी तरह आयु क्षीण होने पर प्राणी अपने जीवनको छोड़ देते हैं।

भगवानेव सर्वसंसारिणां सोपक्रमत्वादनियतमायुरुपदर्शयन्नाह— डहराः बाला एव केचन जीवितं त्यजन्ति तथा वृद्धाश्च गर्भस्था अपि एतत्पश्यत यूयं, केते ? मानवाः मनुष्याः तेषामेवोपदेशदानार्हत्वान्मानवग्रहणं, बह्वपायत्वादायुषः सर्वास्वप्यवस्थासु प्राणी प्राणांस्त्यजतीत्युक्तं भवति, तथाहि त्रिपल्योपमायुष्कस्यापि पर्य्याप्त्यनन्तरमन्तर्मुहूर्तेनैव कस्यचिन्मृत्युरुपतिष्ठतीति। अपि च "गर्भस्थं जायमान" मित्यादि। अत्रैव दृष्टान्तमाह—यथा श्येनः पक्षिविशेषो वर्त्तकं तित्तिरजातीयं हरेद् व्यापादयेद् एवं प्राणिनः प्राणान् मृत्युरपहरेत्, उपक्रमकारणमायुष्क मुपक्रामेत्, तदभावे वा आयुष्यक्षये त्रुट्यति व्यवच्छिद्यते जीवानां जीवितमिति शेषः॥ २॥

समस्त संसारी जीवोंकी आयु सोपक्रम होनेके कारण नियत नहीं है यह दिखाते हुए भगवान् श्रीऋषभदेव स्वामी कहते हैं—हे पुत्रों! कोई बालकपनमें ही अपने जीवनको त्याग देते हैं तथा कोई वृद्ध होकर मर जाते हैं एवं कोई गर्भमें ही अपने प्राणोंको छोड़ देते हैं यह देखो। जीवनको छोड़नेवाले वे कौन हैं ? कहते हैं कि वे मनुष्य है। यद्यपि सभी प्राणियोंकी यह दशा है तथापि उपदेश देने योग्य मनुष्य ही होते हैं अतः यहां मनुष्यका ही ग्रहण है। आशय यह है कि आयु, विघ्न बाधाओंसे भरी हुई है इसलिए सभी अवस्थाओंमें प्राणी अपने प्राणोंको छोड़ते हैं। कोई जीव, त्रिपल्यो* पम आयु पाकर भी पर्य्याप्तिके पश्चात् अन्तर्मुहूर्तमें ही अपने जीवनको छोड़ देते है। अतएव कहा है कि—कोई गर्भमें ही और कोई उत्पन्न होते ही अपने प्राणोंको छोड़ देते हैं।

इस विषयको स्पष्ट करनेके लिए शास्त्रकार दृष्टान्त बतलाते हैं—जैसे श्येन (बाझ) पक्षी तित्तिरको मार डालता है इसी तरह प्राणियोंके प्राणको मृत्यु हर लेती है। आयुके नाशका कारण उपस्थित होने पर आयु नष्ट हो जाती है अथवा आयु क्षीण होने पर जीवोंका जीवन नष्ट हो जाता है॥ २॥

---

* शास्त्रमें युगुलियोंकी आयु निरूपक्रम कही है परन्तु कोई कोई आचार्य्य दश आश्चर्य्योंमें शास्त्रकी उक्त बातको अपवाद मानते हैं अतएव टीकाकारने त्रिपल्योपम आयुको अन्तर्मुहूर्तमें नाश होना कहा है यह ज्ञात होता है वस्तुतः तत्व केवलिगम्य है।

मायाहिं पियाहिं, लुप्पइ, नो सुलहा सुगई य पेच्चओ।
एयाइं भयाइं पेहिया, आरम्भा विरमेज्ज सुव्वए ॥३॥

छाया—मातृभिः पितृभि र्लुप्यते नो सुलभा सुगतिश्च प्रेत्य।
एतानि भयानि प्रेक्ष्य आरम्भाद्विरमेत सुव्रतः ॥

व्याकरण—(मायाहिं पियाहिं) कर्तृतृतीयान्त (लुप्पइ) कर्मवाच्य क्रिया। (नो) अव्यय (पेच्चओ) पूर्वकालिकक्रिया (सुलभा) सुगतिका विशेषण (सुगई) अस्ति क्रियाका कर्ता। (एयाइं) भयका विशेषण (भयाइं) कर्म (पेहिया) पूर्वकालिकक्रिया (आरंभा) अपादान (सुव्वए) कर्ता (विरमेज्ज) क्रिया।

अन्वयार्थ—(मायाहिं पियाहिं) कोई माता पिताके द्वारा (लुप्पइ) संसार भ्रमण कराये जाते हैं। (पेच्चओ) उनको मरनेके पश्चात् (सुगई) सद्गति (नो सुलहा) सुलभ नहीं है (सुव्वए) सुव्रत पुरुष (एयाइं भयाइं) इन भयोंको (पेहिया) देखकर (आरंभा विरमेज्ज) आरम्भसे विरक्त हो जाय।

भावार्थ—कोई माता पिता आदिके स्नेहमें पड़कर संसार भ्रमण करते हैं। उनको मरनेपर सद्गति नहीं प्राप्त होती। सुव्रत पुरुष इन भयोंको देखकर आरम्भसे निवृत्त हो जाय।

टीका—तथा कश्चिन्मातापितृभ्यां मोहेन स्वजनस्नेहेन च न धर्मम्प्रत्युद्यमं विधत्ते, स च तैरेव मातापित्रादिभिः लुप्यते संसारे भ्राम्यते, तथाहि—"विहितमलोहमहोमहन्मातापितृपुत्रदारबन्धुसंज्ञम्। स्नेहमयमसुमतामदः किं बन्धनं शृङ्खलं खलेन धात्रा"?। तस्य च स्नेहाकुलितमानसस्य सदसद्विवेकविकलस्य स्वजनपोषणार्थं यत्किञ्चनकारिण इहैव सद्भिर्निन्दितस्य सुगतिरपि प्रेत्य जन्मान्तरे नो सुलभा, अपितु

कोई मनुष्य माता पिता तथा स्वजन वर्गके स्नेहमें पड़कर धर्मके लिए उद्योग नहीं करते हैं। वे उन्ही माता-पिता आदिके द्वारा संसार भ्रमण कराए जाते हैं। अतएव किसी विद्वानने कहा है—(विहितमलोहं) अर्थात् खल विधाताने जीवोंको बाँधनेके लिए माता-पिता, पुत्र और स्त्री आदि रूपी स्नेहमय क्या जंजीर बनाया है? यद्यपि यह बन्धन लोहका नहीं है तथापि यह उससे भी दृढ़ है। माता पिता आदि स्वजन वर्गके स्नेहमें पड़ा हुआ मनुष्य भले और बुरेके विवेकसे रहित हो जाता है, वह अपने स्वजन वर्गका पोषण करनेके लिये नीचसे नीच कर्म भी करता है अतः वह इस लोकमें सज्जन पुरुषों के द्वारा निन्दित होता है और परलोकमें भी उसको

मातापितृव्यामोहितमनसस्तदर्थं क्लिश्यतो विषयसुखेप्सोश्च दुर्गतिरेव भवतीत्युक्तम्भवति। तदेवमेतानि भयानि भयकारणानि दुर्गतिगमनादीनि, 'पेहिय' त्ति प्रेक्ष्य आरम्भात् सावद्यानुष्ठानरूपाद् विरमेत् सुव्रतः सन् सुस्थितो वेति पाठान्तरम् ॥३॥

सद्गति नहीं प्राप्त होती है। आशय यह है कि माता पिता आदि स्वजन वर्गके स्नेहमें मोहितचित्त तथा विषय सुखकी इच्छा करनेवाले और स्वजन वर्गके लिए कष्ट सहनेवाले जीवकी दुर्गति ही होती है। अतः इस प्रकार दुर्गतिगमन आदि भय कारणोंको देखकर सुव्रत या सुस्थित पुरुष आरम्भसे निवृत्त हो जायँ ॥३॥

जमिणं जगती पुढो जगा, कम्मेहिं लुप्पंति पाणिणो।
सयमेव कडेहिं गाहइ, णो तस्स मुच्चेज्जऽपुट्ठयं ॥४॥

छाया—यदिदं जगति पृथज्जगाः, कर्मभि र्लुप्यन्ते प्राणिनः।
स्वयमेव कृतै र्गाहते, नो तस्य मुच्येदस्पृष्टः॥

व्याकरण—(यं इणं) सर्वनाम (जगती) अधिकरण (पृथक्) अव्यय (जगा) प्राणीका विशेषण (कम्मेहिं) करण। (पाणिणो) कर्ता। (लुप्पंति) क्रिया (सयं, एव) अव्यय (कडेहिं) हेतुतृतीयान्त (गाहइ) क्रिया (णो) अव्यय (अपुट्ठयं) प्राणीका विशेषण (मुच्चेज्ज) क्रिया (तस्स) स्पर्श क्रियाका कर्ता।

अन्वयार्थ—(जमिणं) क्योंकि अनिवृत्त पुरुकी यह दशा होती है—(जगती) संसारमें (पुढो जगा) अलग अलग (पाणिणो) जीव, (सयमेव) अपने (कडेहिं) किए हुए (कम्मेहिं) कर्मोंके द्वारा (लुप्पंति) दुःख पाते हैं। (गाहइ) वे अपने किए हुए कर्मोंके कारण ही नरक आदि यातनास्थानोंमें जाते हैं। (तस्स अपुट्ठयं) और अपने कर्मका फल भोगे विना (नो मुच्चेज्ज) वे मुक्त नहीं हो सकते हैं।

भावार्थ—जो जीव सावद्य कर्मोंका अनुष्ठान नहीं छोड़ते हैं उनकी यह दशा होती है—संसारमें अलग-अलग निवास करनेवाले प्राणी अपने किए हुए कर्मका फल भोगनेके लिए नरक आदि यातनास्थानोंमें जाते हैं। वे अपने कर्मोंका फल भोगे बिना मुक्त नहीं हो सकते।

टीका—अनिवृत्तस्य दोषमाह—यद् यस्मादनिवृत्तानामिदं भवति, किं

जो जीव सावद्य अनुष्ठानसे निवृत्त नहीं होते हैं उनका दोष बतानेके लिए

तत् ? जगति 'पुढो'त्ति, पृथग्भूताः—व्यवस्थिताः सावद्यानुष्ठानोपचितैः कर्मभिः विलुप्यन्ते नरकादिषु यातनास्थानेषु भ्राम्यन्ते, स्वयमेव च कृतैः कर्मभिर्नेश्वराद्यापादितैः, गाहते नरकादिस्थानानि यानि तानि वा कर्माणि दुःखहेतूनि गाहते—उपचिनोति, अनेन च हेतुहेतुमद्भावः कर्मणामुपदर्शितो भवति, न च तस्य अशुभाचरितस्य कर्मणो विपाकेन अस्पृष्टः अच्छुप्तो मुच्यते जन्तुः, कर्मणामुदयमननुभूय तपोविशेषमन्तरेण दीक्षाप्रवेशादिना न तदपगमं विधत्त इति भावः ॥ ४ ॥

शास्त्रकार कहते हैं—जो पुरुष सावद्य अनुष्ठानोंसे निवृत्त नहीं होते उनकी दशा यह होती है—क्या दशा होती है ? सो बतलाते हैं, जगत्‌में अलग-अलग निवास करनेवाले प्राणी अपने सावद्य अनुष्ठानोंके द्वारा संचय किए हुए कर्मोंके द्वारा नरक आदि यातना स्थानोंमें भ्रमण कराए जाते हैं। वे प्राणी अपने किए हुए कर्मोंसे ही नरक आदि यातनास्थानोंको अथवा दुःखके कारणभूत कर्मोंको प्राप्त करते हैं परन्तु ईश्वर आदि किसी अन्य कारणसे नहीं। इन बातोंके द्वारा अपने कर्मोंके साथ अपने दुःखोंका कार्य्यकारणभाव दिखाया गया है। वह प्राणी अपने कर्मोंका फल भोगे बिना उन कर्मोंसे छुट्टी नहीं पाता है। प्राणी अपने कर्मका उदय भोगे बिना तथा विशिष्ट तपस्या और दीक्षा ग्रहण किये बिना उन कर्मोंका नाश नहीं कर सकता है ॥ ४ ॥
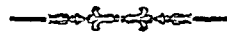
देवा गंधव्वरक्खसा, असुरा भूमिचरा सरिसिवा ।
राया नरसेट्ठिमाहणा, ठाणा तेवि चयंति दुक्खिया ॥५॥

छाया—देवाः गन्धर्वराक्षसा असुराः भूमिचराः सरीसृपाः ।
राजानो नरश्रेष्ठिब्राह्मणाः स्थानानि तेऽपि त्यजन्ति दुःखिताः ॥

व्याकरण—(देवा, गंधव्वरक्खसा, असुरा, भूमिचरा, सरिसिवा, राया, नरसेट्ठिमाहणा) ये सभी त्याग क्रियाके कर्ता हैं। (ते) सर्वनाम, देव आदिका विशेषण (दुक्खिया) देवादिका विशेषण (ठाणा) कर्म (चयंति) क्रिया।

अन्वयार्थ—(देवा) देवता, (गंधव्वरक्खसा) गन्धर्व, राक्षस, (असुरा) असुर (भूमिचरा) भूमिपर चलनेवाले (सरिसिवा) सरक कर चलनेवाले तिर्य्यञ्च (राया) राजा (नरसेट्ठिमाहणा) मनुष्य, नगरके श्रेष्ठ, ब्राह्मण, (तेवि) ये सभी (दुक्खिया) दुःखित होकर (ठाणा) अपने स्थानोंको (चयंति) छोड़ते हैं।

भावार्थ—देवता, गन्धर्व, राक्षस असुर, भूमिचर, तिर्य्यञ्च, चक्रवर्ती, साधारण मनुष्य, नगरका श्रेष्ठ पुरुष, और ब्राह्मण ये सभी दुःखी होकर अपने स्थानोंको छोड़ते हैं ।

टीका—अधुना सर्वस्थानानित्यतां दर्शयितुमाह—देवाः ज्योतिष्कसौधर्माद्याः, गन्धर्वराक्षसयोरुपलक्षणत्वादष्टप्रकाराः व्यन्तराः गृह्यन्ते । तथा असुराः दशप्रकाराः भवनपतयः, ये चाऽन्ये भूमिचराः सरीसृपाद्याः तिर्य्यञ्चः तथा राजानः चक्रवर्तिनो बलदेववासुदेवप्रभृतयः, तथा नराः सामान्यमनुष्याः श्रेष्ठिनः पुरमहत्तराः ब्राह्मणाश्चैते सर्वेऽपि स्वकीयानि स्थानानि दुःखिताः सन्त स्त्यजन्ति, यतः सर्वेषामपि प्राणिनां प्राणपरित्यागे महद् दुःखं समुत्पद्यत इति ॥ ५ ॥

इस जगतमें जितने स्थान हैं सभी अनित्य हैं यह दिखानेके लिए शास्त्रकार कहते हैं । ज्योतिष्क और सौधर्म आदि देवता, गन्धर्व और राक्षस उपलक्षण हैं इसलिए आठ प्रकारके व्यंतर देवता, तथा दस प्रकारके भवनपति एवं भूमिपर चलनेवाले सरीसृप आदि तिर्य्यञ्च, तथा बलदेव वासुदेव वगैरह चक्रवर्त्ती एवं सामान्य मनुष्य, और पुरके श्रेष्ठ पुरुष तथा ब्राह्मण ये सभी दुःखित होकर अपने स्थानोंको छोड़ते हैं । सभी प्राणियोंको प्राण छोड़ते समय महादुःख होता है ॥ ५ ॥
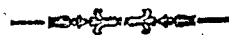
कामेहि ण संथवेहि गिद्धा, कम्मसहा कालेण जंतवो ।
ताले जह बंधणच्चुए एवं आउक्खयंमि तुट्टती ॥ ६ ॥

छाया—कामेषु संस्तवेषु गृद्धाः कर्मसहाः कालेन जन्तवः ।
तालं यथा बन्धनाच्च्युतमेव मायुःक्षये त्रुट्यति ॥

व्याकरण—(कामेहि, संथवेहि) अधिकरण (गिद्धा कम्मसहा) जन्तुके विशेषण (जंतवो) कर्ता । (ताले) उपमान कर्ता (बंधणच्चुए) तालका विशेषण (एवं) अव्यय (आउक्खयंमि) भावलक्षणसप्तम्यन्त पद । (तुट्टती) क्रिया ।

अन्वयार्थ—(कामेहि संथवेहि) विषय भोगकी तृष्णा और माता पिता स्त्री पुत्र आदि परिचित पदार्थोंमें (गिद्धा) आसक्त रहने वाले (जंतवो) प्राणी (कालेण) अवसर आने पर (कम्मसहा) अपने कर्मका फल भोगते हुए (जह) जैसे (बंधणच्चुए) बंधनसे छुटा हुआ (ताले) तालफल गिर जाता है (एवं) इसी तरह (आउक्खयम्मि) आयु नष्ट हो जाने पर (तुट्टती) मर जाते हैं ।

भावार्थ—विषयभोगकी तृष्णावाले तथा माता पिता और स्त्री आदि परिचित पदार्थोंमें आसक्त रहनेवाले प्राणी अवसर आनेपर अपने कर्मका फल भोगते हुए आयु क्षीण होनेपर इस प्रकार मृत्युको प्राप्त होते हैं जैसे बंधनसे छुटा हुआ ताल फल गिर जाता है।

टीका–किञ्च 'कामेहिं' इत्यादि, कामैरिच्छामदनरूपैस्तथा संस्तवैः पूर्वापरभूतैः गृद्धा अध्युपपन्नाः सन्तः कम्मसहेत्ति कर्मविपाकसहिष्णवः कालेन कर्मविपाककालेन जन्तवः प्राणिनो भवन्ति। इदमुक्तं भवति—भोगेप्सो- र्विषयासेवनेन तदुपशममिच्छत इहामुत्र च क्लेश एव केवलं न पुनरुपश- मावाप्तिः तथाहि—"उपभोगोपायपरो वाञ्छति यः शमयितुं विषयतृष्णाम्। धावत्याक्रमितुमसौ पुरोऽपराह्णे निजच्छायाम्" १ नच तस्य मुमूर्षोः कामैः संस्तवैश्च त्राणमस्तीति दर्शयति—यथा तालफलं बन्धनाद् वृन्तात्- च्युतमत्राणमवश्यं पतति एवमसावपि स्वायुषः क्षये त्रुट्यति जीवितात् च्यवत इति ॥ ६ ॥

इच्छा मदनरूप काम (विषय तृष्णा) और पहले तथा पीछेके परिचित माता पिता और स्त्री आदिमें आसक्त प्राणी कर्मका उदयकाल आनेपर उसका फल भोगते हैं। भाव यह है कि भोगकी इच्छा करनेवाला जो पुरुष विषयका सेवन करके अपनी तृष्णाको निवृत्त करना चाहता है वह इस लोक तथा परलोकमें केवल क्लेश ही पाता है उसकी तृष्णाकी शान्ति कभी नहीं होती है। अतएव कहा है कि—जो पुरुष विषय सेवनके द्वारा विषय भोगकी तृष्णाको निवृत्त करना चाहता है वह मानो दो पहरके बाद अपनी छायाको पकड़नेके लिए आगे दौड़ता है। उस मृत्युग्रस्त पुरुषकी विषय भोग और परिचित पदार्थोंके द्वारा रक्षा नहीं होती है यह शास्त्रकार दिखलाते हैं—जैसे बंधनसे छुटा हुआ तालफल अवश्य गिर जाता है, कोई भी उसकी रक्षा नहीं करता इसी तरह आयु क्षीण होने पर जीव अपने जीवनसे भ्रष्ट हो जाता है ॥ ६ ॥
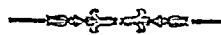
जे यावि बहुस्सुए सिया, धम्मियमाहणभिक्खुए सिया।
अभिणूमकडेहिं मुच्छिए तिव्वं ते कम्मेहिं किच्चती ॥ ७ ॥

छाया—येचाऽपि बहुश्रुताःस्युः धार्मिकब्राह्मणभिक्षुकाः स्युः।
अभिच्छादककृतै मूर्च्छिता स्तीव्रं ते कर्मभिः कृत्यन्ते ॥

व्याकरण—(जे) सर्वनाम, कर्ताका विशेषण। (य, अवि) अव्यय। (बहुस्सुए) (धम्मिय, माहण, भिक्खुए) कर्ता। (सिया) क्रिया। (अभिणूमकडेहिं) अधिकरण (मूच्छिया) ब्राह्मणादिका विशेषण (तिव्वं) क्रियाविशेषण (कम्मेहिं) कर्तृतृतीयान्त (किच्चती) कर्मवाच्यक्रिया।

अन्वयार्थ—(जेयावि) जो लोग बहुश्रुत अर्थात् बहुत शास्त्रोंको सुने हुए (सिया) हों (धम्मिय माहण भिक्खुए सिया) तथा जो धार्मिक ब्राह्मण और भिक्षुक हों (अभिणूम कडेहिं मूच्छिए) परन्तु मायाकृत अनुष्ठानमें यदि वे आसक्त हैं तो (ते) वे (तिव्वं) अत्यन्त (कम्मेहिं) कर्मके द्वारा (किच्चती) पीडित किए जाते हैं।

भावार्थ—मायामय अनुष्ठानमें आसक्त पुरुष चाहे बहुश्रुत हों, धार्मिक हों ब्राह्मण हों चाहे भिक्षुक हों वे कर्मके द्वारा अत्यन्त पीडित किये जाते हैं।

टीका-ये चाऽपि बहुश्रुताः शास्त्रार्थपारगाः तथा धार्मिकाः धर्माचरणशीलाः तथा ब्राह्मणाः भिक्षुकाः भिक्षाटनशीलाः स्युः भवेयुः, तेऽप्याभिमुख्येन 'णूम'न्ति कर्म माया वा तत्कृतैरसदनुष्ठानै मूर्च्छिताः गृद्धाः तीव्रमत्यर्थ मत्र च छान्दसत्वाद् बहुवचनं द्रष्टव्यम्। त एवम्भूताः कर्मभिः सद्वेद्यादिभिः कृत्यन्ते छिद्यन्ते पीड्यन्त इति यावत्॥ ७॥

जो शास्त्र और अर्थके पारगामी हैं, तथा जो धर्माचरण शील ब्राह्मण और भिक्षुक हैं, वे यदि मायाकृत अनुष्ठानमें आसक्त हैं तो वे सातावेदनीय और असातावेदनीय कर्मोंसे अत्यन्त पीड़ित किये जाते हैं यहां छान्दसत्वात (किच्चती) यह बहुवचन समझना चाहिए॥ ७॥
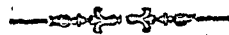
अह पास विवेगमुट्ठिए, अवितिन्ने इह भासई धुवं।
णाहिसि आरं कओ परं वेहासे कम्मेहिं किच्चती॥ ८॥

छाया—अथ पश्य विवेकमुत्थितोऽवितीर्ण इह भाषते ध्रुवम्।
ज्ञास्यस्यारं कुतः परं विहायसि कर्मभिः कृत्यते॥

व्याकरण—(अह) अव्यय (पास) क्रिया, मध्यमपुरुष। (विवेगं) आक्षिप्त आश्रणक्रिया काकर्म (उट्ठिए) (अवितिन्ने) आक्षिप्त परतीर्थीके विशेषण। (इह) अव्यय (भासई) क्रिया। (धुवं) कर्म (णाहिसि) क्रिया, मध्यमपुरुष (आरं) कर्म (कओ) अव्यय (परं) कर्म (वेहासे) अधिकरण (कम्मेहिं) कर्तृतृतीयान्त (किच्चती) क्रिया।

अन्वयार्थ—(अह) इसके पश्चात् (पास) देखो कि (विवेगं) कोई अन्यतीर्थी परिग्रह को छोड़कर अथवा संसारको अनित्य जानकर (उट्ठिए) प्रव्रज्या ग्रहण करते हैं

(अवितिन्ने) परन्तु वे संसारसागरको पार नहीं कर सकते हैं (इह) वे इस लोकमें (धुवं) मोक्षको (भासई) भाषण मात्र करते हैं। हे शिष्य ! तुम भी उनके मार्गमें जाकर (आरं) इस लोकको (परं) तथा परलोकको (कओ) कैसे (णाहिसि) जान सकते हो ? वे अन्यतीर्थी (वेहासे) मध्यमें ही (कम्मेहिं) कर्मोंके द्वारा (किच्चती) पीडित किये जाते हैं।

भावार्थ—हे शिष्य ! इसके पश्चात् यह देखो कि कोई अन्यतीर्थी परिग्रहको छोड़कर अथवा संसारको अनित्य जानकर प्रव्रज्या ग्रहण करके मोक्षके लिए उद्यत होते हैं परन्तु अच्छीतरह संयमका अनुष्ठान नहीं कर सकनेके कारण वे संसारको पार नहीं कर सकते हैं। वे मोक्षका भाषणमात्र करते हैं परन्तु उसकी प्राप्तिका उपाय नहीं करते है। हेशिष्य ! तुम उनका आश्रय लेकर इसलोक तथा परलोकको कैसे जान सकते हो ? वे अन्यतीर्थी उभयभ्रष्ट होकर मध्यमें ही कर्मके द्वारा पीडित किये जाते हैं।

टीका—साम्प्रतं ज्ञानदर्शनचारित्रमन्तरेण नापरो मोक्षमार्गोऽस्तीति त्रिकाल विषयत्वात्सूत्रस्यागामितीर्थिकधर्मप्रतिषेधार्थमाह — अथेत्यधिकारान्तरे, वाह्वादेशे एकादेशे इति। अथेत्यनन्तरमेतच्च पश्य, कश्चित्तीर्थिको विवेकं परित्यागं परिग्रहस्य परिज्ञानं वा संसारस्याश्रित्य उत्थितः प्रव्रज्योत्थानेन, स च सम्यक् परिज्ञानाभावादवितीर्णः संसारसमुद्रं तितीर्षुः केवलमिह संसारे प्रस्तावे वा शाश्वतत्वात् ध्रुवो मोक्षस्तं तदुपायं वा संयमं भाषत एव न पुन विंधत्ते तत्परिज्ञानाभावादिति भावः। तन्मार्गे प्रपन्नस्त्वमपि कथं, ज्ञास्यसि आरम् इह भवं कुतो वा परं परलोकं, यदि वा आरमिति गृहस्थत्वं

ज्ञान, दर्शन और चारित्रको छोड़कर दूसरा कोई मोक्षका मार्ग नहीं है और भविष्यमें भी न होगा क्योंकि सूत्र तीनोंकालकी वातको बतलाता है इसलिए ज्ञान दर्शन और चारित्रसे भिन्न पदार्थको मोक्षका मार्ग बतानेवाले जो अन्यतीर्थी भविष्यत् कालमें होंगे उनका निषेध करनेके लिए शास्त्रकार कहते हैं—यहाँ 'अथ' शब्द, दूसरा अधिकार, वहुतोंको आदेश, तथा एकको आदेश इन अर्थोंमें आया है। हे शिष्य ! इसके पश्चात् यह देखो कि कोई अन्यतीर्थी परिग्रहको छोड़कर अथवा संसारको अनित्य जानकर प्रव्रज्या ग्रहण करके मोक्षके लिए उद्यत होते हैं वे संसारको पार करना चाहते हुए भी सम्यक् ज्ञान न होनेके कारण उसे पार नहीं कर पाते हैं। वे लोग इस जगत्में अथवा इस प्रसङ्गमें मोक्षको अथवा उसके उपायरूप संयमको भाषण मात्र करते हैं परन्तु उसका अनुष्ठान नहीं करते हैं क्योंकि उनको अनुष्ठानका ज्ञान नहीं है। हे शिष्य ! तूँभी उनके मार्गसे जाता हुआ किस प्रकार 'आरम्' अर्थात् इस लोकको तथा (पारं) यानी परलोकको जान सकता है ? अथवा 'आरम्' यानी गृहस्थके

परमिति प्रव्रज्यापर्य्यायम्, अथ वा आरमिति संसारं परमिति मोक्ष मेवं भूतश्चाऽन्योप्युभयभ्रष्टः 'वेहासि' त्ति अन्तराले उभयाभावतः स्वकृतैः कर्मभिः कृत्यते पीड्यते ॥ ८ ॥

धर्मको और 'पारम्' अर्थात् प्रव्रज्याके पर्य्यायको तूँ किसतरह जान सकता है ? अथवा 'आरम्' अर्थात् संसारको और पारं यानी मोक्षको तूँ कैसे जान सकता है ? अतः जो पुरुष इन अन्य तीर्थियोंके मार्गसे चलता है वह उभयभ्रष्ट होकर मध्यमें ही कर्मोंके द्वारा पीडित किया जाता है ॥८॥

जइ वि य णिगणे किसे चरे, जइविय भुंजिय मासमंतसो।
जे इह मायाइ मिज्जई, आगंता गब्भाय णंतसो ॥९॥

छाया—यद्यपि च नग्नः कृशश्चरेद्, यद्यपि च भुञ्जीत मासमन्तशः।
य इह मायादिना मीयते, आगन्ता गर्भायानन्तशः ॥

व्याकरण—(जइविय) अव्यय। (णिगणे, किसे) अन्यतीर्थीका विशेषण (चरे) क्रिया (अंतसो) अव्यय (मासं) आक्षिप्तस्थितिक्रियाका कर्म (भुंजिय) क्रिया (जे) सर्वनाम अन्यतीर्थीका बोधक (मायाइ) मान क्रियाका कर्ता (मिज्जई) क्रिया (आगंता) अन्यतीर्थीका विशेषण (गब्भाय) चतुर्थ्यन्तपद (णंतसो) अव्यय।

अन्वयार्थ—(जे इह मायाइ मिज्जई) इस लोकमें जो पुरुष कषायोंसे युक्त है वह (जइविय) चाहे (णिगणे किसे चरे) नंगा और कृश होकर विचरे (जइविय) चाहे वह (अंतसो) अन्ततः (मासं) एक महीनेके पश्चात् (भुंजीय) भोजन करे, परन्तु (णंतसो) वह अनन्तकालतक (गब्भाय) गर्भवासको (आगन्ता) प्राप्त करता है।

भावार्थ—जो पुरुष, कषायोंसे युक्त है वह चाहे नङ्गा और कृश होकर विचरे अथवा एक मासके पश्चात् भोजन करे परन्तु वह अनन्त कालतक गर्भवासको ही प्राप्त करता है।

टीका—ननु च तीर्थिका अपि केचन निष्परिग्रहास्तथा तपसा निष्टप्तदेहाश्च तत्कथं तेषां नो मोक्षावाप्तिरित्येतदाशङ्क्याह—यद्यपि तीर्थिकः कश्चित् तापसादिस्त्यक्तबाह्यगृहवासादिपरिग्रहत्वात् निष्किञ्चनतया नग्नः

कोई परतीर्थिक भी परिग्रहरहित और तपस्यासे तापितशरीर होते हैं फिर उन्हें मोक्षकी प्राप्ति क्यों नहीं होगी ? यह शङ्का करके शास्त्रकार कहते हैं—यद्यपि कोई परतीर्थी तापस आदि बाह्यपरिग्रहको छोड़कर निष्किञ्चन होते हैं तथा

स्वक्त्राणाभावाच्च कृशः चरेत् स्वकीयप्रव्रज्यानुष्ठानं कुर्य्यात् यद्यपि च षष्ठाष्टमदशमद्वादशादि तपोविशेषं विधत्ते यावद् अन्तशो मासं स्थित्वा भुङ्क्ते तथापि आन्तरकषायापरित्यागान्न मुच्यते इति दर्शयति—यः तीर्थिक इह मायादिना मीयते, उपलक्षणत्वात् कषायैर्युक्त इत्येवं परिच्छिद्यते, असौ गर्भाय गर्भार्थं मा समन्तात् गन्ता यास्यति, अनन्तशो निरवधिकं कालमिति, एतदुक्तं भवति—अकिञ्चनोऽपि, तपोनिष्टप्तदेहोऽपि कषायापरित्यागान्नरकादिस्थानात् तिर्य्यगादिस्थानं गर्भाद् गर्भ मनन्तमपि कालमग्निशर्मवत् संसारे पर्य्यटतीति ॥ ९ ॥

वस्त्रहीन होनेके कारण नङ्गा और कृश रहते हुए अपनी प्रव्रज्याका अनुष्ठान करते हैं, तथा वे २, ३, ४ और ५ भक्त आदि तप करते हुए अन्ततः एक मासके पश्चात् भोजन करते हैं तथापि आन्तरिक कषायोंका नाश न होनेके कारण वे मोक्षको नहीं प्राप्त करते हैं, यह शास्त्रकार दिखलाते हैं—इस लोकमें जो जीव, माया आदिसे युक्त है, यहाँ माया उपलक्षण है इसलिये जो जीव कषायोंसे युक्त है वह अनन्तकालतक गर्भवासको ही प्राप्त करता है। आशय यह है कि जो जीव, निष्किञ्चन है और तपस्यासे तापितशरीर भी है परन्तु वह यदि कषायोंका त्याग नहीं करता है तो वह नरक आदि यातनास्थानोंसे निकलकर तिर्य्यञ्च आदि योनियोंमें जाता हुआ बार-बार गर्भवासको प्राप्त करता है। जैसे अग्निशर्माको संसार भ्रमण करना पड़ा था इसीतरह उसको भी संसार भ्रमण करना पड़ता है ॥ ९ ॥

पुरिसो रम पावकम्मुणा, पलियंतं मणुयाण जीवियं।
सन्ना इह काममुच्छिया, मोहं जंति नरा असंवुडा ॥१०॥

छाया—पुरुष ! उपरम पापकर्मणा, पर्य्यन्तं मनुजानां जीवितम्।
सन्ना इह काममूर्च्छिताः मोहं यान्ति नरा असंवृताः।

व्याकरण—(पुरिसो) सम्बोधन (रम) क्रिया (पावकम्मुणा) इत्थंभूतलक्षण तृतीयान्त। (मणुयाण) सम्बन्धषष्ठ्यन्तपद (पलियंतं) जीवनका विशेषण (जीवियं) अध्याहृत अस्ति क्रियाका कर्ता। (सन्ना, काममूच्छिया, असंवुडा) नरके विशेषण (नरा) कर्ता (मोहं) कर्म (जंति) क्रिया।

अन्वयार्थ—(पुरिसो) हे पुरुष ! (पावकम्मुणा) जिस पापकर्मसे तूं युक्त है (रम) उससे निवृत्त हो जा। (मणुयाण जीवियं) मनुष्योंका जीवन (पलियंतं) नाशवान् है। (इह) इस मनुष्य भवमें या संसारमें (सन्ना) जो आसक्त हैं (काममूच्छिया) तथा काम भोगमें मूर्च्छित हैं (असंवुडा) एवं हिंसा आदि पापोंसे निवृत्त नहीं हैं (नरा) वे वे मनुष्य (मोहं) मोहको (जंति) प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—हे पुरुष ! तूं पापकर्मसे युक्त है अतः तूँ उससे निवृत्त होजा। मनुष्योंका जीवन नाशवान् है। जो मनुष्य संसारमें अथवा मनुष्य भवमें आसक्त हैं तथा विषय भोगमें मूर्च्छित और हिंसा आदि पापोंसे निवृत्त नहीं हैं वे मोहको प्राप्त होते हैं।

टीका—यतो मिथ्यादृष्ट्युपदिष्टतपसाऽपि न दुर्गतिमार्गनिरोधोऽतोमदुक्त एव मार्गे स्थेयमेतद्गर्भमुपदेशं दातुमाह—'पुरिसो' इत्यादि, हे पुरुष ! येन पापेन कर्मणाऽसदनुष्ठानरूपेण त्वमुपलक्षितस्तत्राऽसकृत्प्रवृत्तत्वात् तस्मादुपरम निवर्तस्व। यतः पुरुषाणां जीवितं सुबह्वपि त्रिपल्योपमान्तं संयमजीवितं वा पल्योपमस्यान्तः—मध्ये वर्तते तदप्यूनां पूर्वकोटि मिति यावत्। अथवा परि समन्तादन्तोऽस्येति पर्यन्तं सान्तमित्यर्थः यच्चैवं तद्गतमेवावगन्तव्यम्। तदेवं मनुष्याणां स्तोकं जीवितमवगम्य यावत्तन्न पर्येति तावद्धर्मानुष्ठानेन सफलं कर्तव्यं, ये पुनर्भोगस्नेहपङ्केऽवसन्ना मग्ना 'इह' मनुष्यभवे संसारे वा कामेषु इच्छामदनरूपेषु मूर्च्छिता अध्युपपन्ना ते नराः मोहं यान्ति—हिताहितप्राप्तिपरिहारे मुह्यन्ति, मोह·

मिथ्यादृष्टियोंकी बताई हुई तपस्यासे भी मनुष्यकी दुर्गति नहीं रुक सकती है इसलिए मेरे बताये हुए मार्गमें ही स्थिर रहना चाहिए, यह उपदेश देनेके लिए शास्त्रकार कहते हैं।

हे पुरुष ! तूं निरन्तर असत् अनुष्ठानमें प्रवृत्त रहते हुए जिस पाप कर्मसे युक्त है उससे निवृत्त हो जाओ क्योंकि पुरुषोंका जीवन बहुत हो तो भी त्रिपल्योपम पर्य्यन्त ही होता है। अथवा पुरुषोंका संयमजीवन पल्योपमके मध्यमें ही होता है वह भी ऊन पूर्व कोटि पर्य्यन्त ही होता है। अथवा पुरुषोंका जीवन नाशवान् है। जो नाशवान् है उसे गत ही समझना चाहिए। अतः मनुष्योंके जीवनको अल्प जान कर जबतक वह समाप्त नहीं होता है तबतक धर्मानुष्ठानके द्वारा उस जीवनको सफल करना चाहिए। परन्तु जो पुरुष इस मनुष्य भवको पाकर अथवा इस संसारमें आकर विषयभोग रूपी कीचड़में फँसे हुए हैं तथा इच्छा मदन रूप काममें आसक्त हैं वे मोहको प्राप्त होते हैं उनको अपने हितकी प्राप्ति और अहितके परि·

नीयं वा कर्म चिन्वन्तीति संभाव्यते एतदसंवृतानां हिंसास्थानेभ्योऽनिवृत्तानामसंयतेन्द्रियाणाञ्चेति ॥ १० ॥

हारका ज्ञान नहीं प्राप्त होता है। अथवा वे पुरुष मोहनीय कर्मका सञ्चय करते हैं। जो पुरुष हिंसा आदि पापोंसे निवृत्त नहीं हैं और इन्द्रियलम्पट हैं वे भी मोहनीय कर्मका संचय करते हैं ॥ १० ॥

जययं विहराहि जोगवं, अणुपाणा पंथा दुरुत्तरा ।
अणुसासणमेव पक्कमे वीरेहिं संमं पवेइयं ॥ ११ ॥

छाया—यतमानो विहर योगवान्, अणुप्राणाः पन्थानो दुरुत्तराः ।
अनुशासनमेव प्रक्रामेद्, वीरैः सम्यक् प्रवेदितम् ॥

व्याकरण—(जययं, जोगवं) पुरुषके विशेषण हैं (विहराहि) क्रिया मध्यमपुरुष । (अणुपाणा, दुरुत्तरा) मार्गके विशेषण (अणुसासणं) कर्म (एव) अव्यय (पक्कमे) क्रिया (वीरेहिं) कर्तृतृतीयान्त (संमं) क्रियाविशेषण (पवेइयं) क्रिया ।

अन्वयार्थ—(जययं) हे पुरुष ! तूँ यत्न करता हुआ (जोगवं) तथा समिति और गुप्तिसे गुप्त होकर (विहराहि) विचरो । (अणुपाणा) सूक्ष्म प्राणियोंसे युक्त (पंथा) मार्ग (दुरुत्तरा) उपयोगके विना दुस्तर होता है (अणुसासणमेव) शास्त्रोक्त रीतिसे ही (पक्कमे) संयमका अनुष्ठान करना चाहिए । (वीरेहिं) सभी अरिहन्तोंने (संमं) सम्यक् प्रकारसे (पवेइयं) यही बताया है ।

भावार्थ—हे पुरुष ! तूँ यत्नके सहित तथा समिति गुप्तिसे गुप्त होकर विचरो क्योंकि सूक्ष्म प्राणियोंसे पूर्ण मार्ग विना उपयोगके पार नहीं किया जा सकता है । शास्त्रमें संयमपालनकी जो रीति बताई है उसके अनुसार ही संयमका पालन करना चाहिए यही सब तीर्थङ्करोंने आदेश किया है ।

टीका एवञ्च स्थिते यद्विधेयं तद्दर्शयितुमाह—स्वल्पं जीवितमवगम्य विषयांश्च क्लेशप्रायानवबुध्य छित्वा गृहपाशबन्धनं यतमानः यत्नं कुर्वन् प्राणिनामनुपरोधेन विहर उद्युक्तविहारी भव । एतदेव दर्शयति—

ऐसी स्थितिमें पुरुषका जो कर्तव्य है उसे बतानेके लिए शास्त्रकार कहते हैं— हे पुरुष ! तूँ अपने जीवनको अल्प और विषयोंको क्लेशप्राय जानकर गृहबन्धनको काटकर यत्नपूर्वक प्राणियोंका नाश न करते हुए उद्युक्त विहारी बनो । यही शास्त्र-

योगवानिति संयमयोगवान् गुप्तिसमितिगुप्त इत्यर्थः। किमित्येवं, यतः अणवः सूक्ष्माः प्राणाः प्राणिनो येषु पथिषु ते तथा ते चैवं भूताः पन्थानोऽनुपयुक्तैर्जीवानुपमर्द्देन दुस्तराः दुर्गमा इति अनेन ईर्य्यासमितिरुपक्षिप्ता। अस्याश्चोपलक्षणार्थत्वाद् अन्यास्वपि समितिषु सततोपयुक्तेन भवितव्यम् अपि च अनुशासनमेव यथागममेव सूत्रानुसारेण संयमं प्रति क्रामेद् एतच्च सर्वैरेव वीरैः अर्हद्भिः सम्यक् प्रवेदितं प्रकर्षेणाख्यातमिति॥११॥

कार दिखलाते हैं। हे पुरुष! तू समिति और गुप्तिसे गुप्त होकर रहो। ऐसा क्यों? क्योंकि सूक्ष्म प्राणियोंसे भरे हुए मार्ग उपयोगके विना दुस्तर होते हैं अर्थात् उन मार्गोंमें जीवोंका नाश हुए विना नहीं रहता है। यह कहकर शास्त्रकारने ईर्य्या समितिका संकेत किया है। यह ईर्य्यासमिति उपलक्षण है इसलिए अन्य समितियोंमें भी सदा उपयोग रखना चाहिए। तथा शास्त्रोक्तरीतिसे ही संयमका पालन करना चाहिए। यह सभी तीर्थङ्करोंने जोर देकर कहा है॥११॥

विरया वीरा समुट्ठिया, कोहकायरियाइपीसणा।
पाणे ण हणंति सव्वसो, पावाओ विरयाऽभिनिव्वुडा १२

छाया—विरताः वीराः समुत्थिताः क्रोधकातरिकादिपीषणाः।
प्राणिनो न घ्नन्ति सर्वशः पापाद्विरता अभिनिर्वृताः॥

व्याकरण—(विरया) (समुट्ठिया) (अभिनिव्वुडा) (कोहकायरियाइपीसणा) ये सब वीरके विशेषण हैं। (सव्वसो) अव्यय। (पाणे) कर्म (ण) अव्यय (हणंति) क्रिया।

अन्वयार्थ (विरया) जो हिंसा आदि पापोंसे निवृत्त हैं (वीरा) और कर्मको विशेष रूपसे दूर करने वाले हैं (समुट्ठिया) तथा जो आरम्भको छोड़कर हटे हुए हैं (कोहकायरियाइपीसणा) जो क्रोध और माया आदिको दूर करनेवाले हैं (सव्वसो) तथा जो मन वचन और शरीरसे (पाणे) प्राणीको (ण हणंति) नहीं मारते हैं (पावाओविरया) तथा जो पापसे निवृत्त हैं (अभिनिव्वुडा) वे पुरुष, मुक्तजीवके समान शान्त हैं।

भावार्थ—जो हिंसा आदि पापोंसे निवृत्त तथा कषायोंको दूर करने वाले और आरंभसे रहित हैं, एवं क्रोध मान माया और लोभको त्यागकर मन वचन और कायसे प्राणियोंका घात नहीं करते हैं, वे सब पापोंसे रहित पुरुष मुक्त जीवके समान ही शान्त हैं।

टीका—अथ क एते वीरा इत्याह—'विरया' इत्यादि, हिंसानृतादि पापेभ्यो ये विरताः विशेषेण कर्म प्रेरयन्तीति वीराः, सम्यगारम्भ परित्यागेनोत्थिताः समुत्थिताः, ते एवंभूताश्च, क्रोधकातरिकादिपीषणाः, तत्र क्रोधग्रहणान्मानो गृहीतः कातरिका माया तद्ग्रहणाल्लोभो गृहीतः, आदिग्रहणाच्छेषमोहनीयपरिग्रहः तत्पीषणास्तदपनेतारः तथा प्राणिनो जीवान् सूक्ष्मेतरभेदभिन्नान् सर्वशो मनोवाक्कायकर्मभिर्न घ्नन्ति न व्यापादयन्ति। पापाच्च सर्वतः सावद्यानुष्ठानरूपाद्विरताः, निवृत्ताः ततश्च अभिनिर्वृत्ताः क्रोधाद्युपशमेन शान्तीभूताः, यदि वा अभिनिर्वृत्ता इव अभिनिर्वृत्ताः मुक्ता इव द्रष्टव्या इति ॥१२॥

पूर्वोक्त प्रकारसे विचरने वाले वीर पुरुष कौन हैं सो बतानेके लिए शास्त्रकार कहते हैं—जो पुरुष हिंसा और झूठ आदि पापोंसे निवृत्त हैं, तथा विशेष रूपसे कर्मका नाश करने वाले और आरम्भको त्यागकर संयम पालनमें उद्यत हैं एवं जो क्रोध और मायाका नाश करने वाले हैं, यहां क्रोधके ग्रहणसे मानका और मायाके ग्रहणसे लोभका भी ग्रहण है और आदि शब्दसे बँचे हुए मोहनीय कर्मोंका ग्रहण है इसलिए क्रोध मान माया लोभ और शेष मोहनीय कर्मोंका नाश करने वाले जो पुरुष, मन, वचन, काय और कर्मके द्वारा प्राणियोंका नाश नहीं करते हैं तथा सावद्य अनुष्ठानसे निवृत्त हैं वे पुरुष, क्रोध आदि शान्त होजानेसे शान्त हैं अथवा वे मुक्तजीवके समान सुखी हैं ॥१२॥

—※—
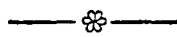
णवि ता अहमेव लुप्पए, लुप्पंति लोअंसि पाणिणो।
एवं सहिएहिं पासए, अणिहे से पुट्ठे अहियासए ॥१३॥

छाया—नाऽपि तैरहमेव लुप्ये, लुप्यन्ते लोके प्राणिनः।
एवं सहितः पश्येत् अनिहः स स्पृष्टोऽधिसहेत ॥

व्याकरण—(ण अवि) अव्यय (ता) कर्ता (अहं) तिङ्प्रत्यय द्वारा उक्त कर्म (एव) अव्यय (लुप्पए) क्रिया, कर्मवाच्य उत्तमपुरुष। (लुप्पंति, क्रिया (लोअंसि) अधिकरण (पाणिणो) कर्ता (एवं) अव्यय (सहिए) मुनिका विशेषण (पासए) क्रिया (अणिहे, से, पुट्ठे) मुनिके विशेषण (हियासए) क्रिया।

अन्वयार्थ—(सहिए) ज्ञानादिसम्पन्न पुरुष (एवं) इस प्रकार (पासए) देखे कि—(अहमेव) मैं ही (ता) उन शीत उष्ण आदिके द्वारा (णवि लुप्पए) पीडित नहीं

किया जाता हूँ किन्तु (लोअंसि) लोकमें (पाणिणो) दूसरे प्राणी भी (लुप्पंति) पीडित किये जाते हैं। अतः (पुट्ठे से) परीषहोंसे स्पर्श पाया हुआ मुनि (अणिहे) क्रोधादि रहित होकर (हियासए) उनको सहे।

भावार्थ—ज्ञानादिसम्पन्न पुरुष यह सोचे कि शीत और उष्णादि परीषहोंसे मैं ही नहीं पीडित किया जाता हूँ किन्तु लोकमें दूसरे प्राणी भी पीडित किये जाते हैं अतः शीत उष्णादि परीषहोंको क्रोधादिरहित होकर सहन करना चाहिए।

टीका—पुनरप्युदेशान्तरमाह—परीषहोपसर्गा एतद्भावनापरेण सोढव्याः, नाहमेवैकस्तावदिह शीतोष्णादिदुःखविशेषैर्लुप्ये पीड्ये अपित्वन्येऽपि प्रणिनः तथाविधास्तिर्य्यङ्मनुष्याः अस्मिल्लोके लुप्यन्ते अतिदुःसहै दुःखैः परिताप्यन्ते, तेषाञ्च सम्यग्विवेकाभावान्न निर्जराख्यफलमस्ति, यतः "क्षान्तं न क्षमया गृहोचितसुखं त्यक्तं न सन्तोषतः, सोढाः दुःसहशीततापपवनक्लेशाः न तप्तं तपः। ध्यातं वित्तमहर्निशं नियमितप्राणै र्न तत्त्वं परं, तत्तत्कर्म कृतं सुखार्थिभिरहो तैस्तैः फलैर्वञ्चिताः" १ तदेवं क्लेशादि सहनं सद्विवेकिनां संयमाभ्युपगमे सति गुणायैवेति, तथाहि—"कार्श्यं क्षुत्प्रभवं कदन्नमशनं शीतोष्णयोः पात्रता, पारुष्यञ्च शिरोरूहेषु शयनं

बुद्धिमान् पुरुष यह सोचकर परीषह और उपसर्गोंको सहे कि शीत उष्ण आदिके द्वारा एकमात्र मैं ही पीडित नहीं किया जाता अपितु इस जगत्में दूसरे तिर्य्यञ्च और मनुष्य आदि प्राणी भी पीडित किये जाते हैं। उन प्राणियोंको सम्यग् विवेक नहीं है इसलिए कष्ट सहकर भी वे निर्जरा रूप फलको नहीं प्राप्त कर सकते हैं। अत एव किसी विवेकी पुरुषकी उक्ति है कि (क्षान्तम्) मैंने शीत उष्णादिकृत दुःखोंको सहन तो किया परन्तु क्षमाके कारण नहीं अपितु अशक्ति वश सहन किया। मैंने गृहसुख का त्यागतो किया परन्तु सन्तोषके कारण नहीं किन्तु अप्राप्तिके कारण। मैंने शीत उष्ण और पवनके दुःसह दुःख सहे परन्तु तप नहीं किया। मैंने दिन रात धनका चिन्तन किया परन्तु निर्द्वन्द्व होकर परमतत्त्वका चिन्तन नहीं किया मैंने सुख प्राप्तिके लिए वे सभी कर्म किये जो तपस्वी मुनिराज करते हैं परन्तु उनका फल मुझको कुछ नहीं मिला। अतः संयम पालन करनेवाले उत्तम विचार शील पुरुष जो कष्ट सहन करते हैं वह उनका गुणके लिए होता है अतएव किसी विद्वान् कविने कहा है कि (कार्श्यम्) भोजनके लिये अन्न न मिलनेसे जो शरीरमें कृशता उत्पन्न होती है, तथा खराव अन्नका भोजन एवं शीत और उष्णके दुःखको सहना तथा तेल न मिलनेसे जो वालोंका रुखापन है एवं विस्तरके बिना सूखी जमीन पर शयन करना इत्यादि बातें जो गृहस्थके लिए अवनतिके चिन्ह

मह्यास्तले केवले। एतान्येव गृहे वहन्त्यवनतिं तान्युन्नतिं संयमे, दोषाश्चाऽपि गुणाः भवन्ति हि नृणां, योग्ये पदे योजिताः ॥ एवं सहितो ज्ञानादिभिः स्वहितो वा आत्महितः सन् पश्येत् कुशाग्रीयया बुद्ध्या पर्य्यालोचयेदनन्तरोदितं, तथा निहन्यत इति निहः न निहोऽनिहः क्रोधादिभिरपीडितः सन् स महासत्त्वः परीषहैः स्पृष्टोऽपि तान् अधिसहेत मनः पीडां न विदध्यादिति, यदिवा अनिह इति तपः संयमे परीषहसहने चानिगूहितबलवीर्य्यः शेषं पूर्ववदिति ॥ १३ ॥

मानी जाती हैं वे ही संयमधारी मुनिके लिए उन्नतिजनक समझी जाती हैं इससे सिद्ध होता है कि योग्य पद पर स्थापित किये हुए दोष भी गुण हो जाते हैं। अतः ज्ञानादिगुणसम्पन्न और आत्मकल्याणमें तत्पर मुनि, पूर्वोक्त बातोंको सोचकर क्रोध आदिका विजय करे और महान् धीर होकर शीतोष्णादि परिषसहों का सहन करे। शीतोष्णादिकृत बाधा उपस्थित होनेपर मनमें किसी प्रकार दुःख न माने। अथवा उक्त मुनि तप और संयमके अनुष्ठानमें तथा परीषहोंके सहन करनेमें बलका गोपन न करे ॥१३॥
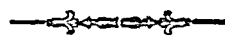
धूणिया कुलियं व लेववं किसए देह मणासणाइहिं।
अविहिंसामेव पव्वए अणुधम्मो मुणिणा पवेदितो ॥१४॥

छाया—धूत्वा कूड्यं व लेपवत् कर्शयेद्देहमनशनादिभिः।
अविहिंसामेव प्रव्रजेदनुधर्मो मुनिना प्रवेदितः ॥

व्याकरण—(धूणिया) पूर्वकालिक क्रिया (कुलियं) उपमान कर्म (व) इवार्थक अव्यय (लेववं) कुलियंका विशेषण। (किसए) क्रिया (देहं) कर्म (अणासणाइहिं) करण (अविहिंसा) कर्म (एव) अव्यय (पव्वए) क्रिया। (अणुधम्मो) उक्त कर्म (मुणिणा) कर्तृतृतीयान्त (पवेदितो) कर्मवाच्य क्तान्त क्रिया।

अन्वयार्थ—(लेववं) जैसे लेपवाली (कुलियं) भित्ति (धूणिया) लेप गिराकर क्षीण कर दी जाती है इसी तरह (अणसणाइहिं) अनशन आदि तपके द्वारा (देहं) अपनी देहको (कसए) कृश करदेना चाहिए। (अविहिंसामेव) तथा अहिंसा धर्मको ही (पव्वए) पालन करना चाहिए क्योंकि (मुणिणा) सर्वज्ञने (अणुधम्मो) यही धर्म (पवेदितो) कहा है।

भावार्थ—जैसे लेपवाली भित्ति, लेप गिराकर कृश करदी जाती है इसी तरह

अनशन आदि तपके द्वारा शरीरको कृश करदेना चाहिए। तथा अहिंसा धर्मका ही पालन करना चाहिए क्योंकि सर्वज्ञने यही धर्म बताया है।

टीका--अपि च 'धूणिया' इत्यादि, धूत्वा विधूय कुलियं कडणकृतं कुड्यं लेपवत् सलेपम् अयमत्रार्थः--यथा कुड्यं गोमयादिलेपेन सलेपं जाघट्यमानं लेपापगमात्कृशं भवति, एवमनशनादिभि र्देहं कर्शयेद् अपचितमांस शोणितं विदध्यात्, तदपचयाच्च कर्मणोऽपचयो भवतीति भावः। तथा विविधा हिंसा विहिंसा न विहिंसा अविहिंसा तामेव प्रकर्षेण व्रजेत् अहिंसा प्रधानो भवेदित्यर्थः, अनुगतो मोक्षम्प्रत्यनुकूलो धर्मोऽनुधर्मः असावहिंसा लक्षणः परीषहोपसर्गसहनलक्षणश्च धर्मो मुनिना सर्वज्ञेन प्रवेदितः कथित इति ॥ १४॥

गोबर तथा मिट्टीसे लिपी हुई भित्ति जैसे लेप गिरा देनेसे कृश हो जाती है इसी तरह अनशन आदि तपके द्वारा शरीरको कृश करदेना चाहिये अर्थात् शरीरके माँस और रक्तको घटा देना चाहिए। शरीरके माँस और रक्त घटा देनेसे कर्म भी घट जाता है यह भाव है। विविध प्रकारकी हिंसाको 'विहिंसा' कहते हैं उस विहिंसा को न करना 'अविहिंसा' है उस अविहिंसा धर्मको ही पूर्ण रूपसे पालन करना चाहिए। अर्थात् अहिंसाप्रधान होकर रहना चाहिए। जो धर्म मोक्षके अनुकूल है उसे 'अनुधर्म' कहते हैं, वह धर्म अहिंसा है एवं परिषह तथा उपसर्गोंका सहन भी है इन्हीं धर्मोंको सर्वज्ञने बताया है॥१४॥

सउणी जह पंसुगुंडिया, विहुणिय धंसयई सियं रयं।
एवं दवि ओवहाणवं, कम्मं खवइ तवस्सिमाहणे ॥१५॥

छाया—शकुनिका यथा पांसुगुण्ठिता, विधूय ध्वंसयति सितं रजः।
एवं द्रव्य उपधानवान् कर्म क्षपयति तपस्वी माहनः॥

व्याकरण—(सउणी) उपमानकर्ता (जह) अव्यय (पांसुगुंडिया) सउणीका विशेषण (विहुणिय) पूर्वकालिकक्रिया (धंसयई) क्रिया (सितं) रजका विशेषण (रयं) कर्म (एवं) अव्यय (दवि, ओवहाणवं, तवस्सि,) ये सब माहनके विशेषण हैं (माहणे) कर्ता (कम्मं) कर्म (खवइ) क्रिया।

अन्वयार्थ—(जह) जैसे (पंसुगुंडिया) धूलिसे भरी हुई (सउणी) पक्षिणी (विहुणिय) अपने शरीरको कँपाकर (सियं रयं) शरीरमें लगी हुई धूलिको (धंसयई)

गिरा देती है (एवं) इसी तरह (दवि) भव्य (ओवहाणवं) अनशन आदि तप करने वाला (तवस्सि) तपस्वी (माहणे) अहिंसाव्रती पुरुष (कम्मं) कर्मको (खवइ) नाश करता है।

भावार्थ—जैसे पक्षिणी अपने शरीरमें लगी हुई धूलिको शरीर झाड़कर गिरा देती है इसी तरह अनशन आदि तप करने वाला अहिंसाव्रती भव्य पुरुष अपने कर्मोंका नाश कर देता है।

टीका—किञ्च, शकुनिका पक्षिणी यथा पांसुना रजसा अवगुण्ठिता खचिता सती अङ्गं विधूय कम्पयित्वा तद्रजः सितमवबद्धं सत् ध्वंसयति अपनयति, एवं द्रव्यो भव्यो मुक्तिगमनयोग्यो मोक्षम्प्रत्युप सामीप्येन दधातीत्युपधानमनशनादिकं तपः तदस्यास्तीत्युपधानवान् स चैवंभूतः कर्म ज्ञानावरणादिकं क्षपयति अपनयति तपस्वी साधुः 'माहण'त्ति मा वधीरिति प्रवृत्ति र्यस्य स प्राकृतशैल्या माहणेत्युच्यते ॥१५॥

शकुनिका, पक्षिणीका नाम है। जैसे धूलिसे भरी हुई पक्षिणी अपने अङ्गको हिलाकर शरीरमें लगी हुई धूलिको गिरा देती है इसी तरह अहिंसा धर्मको पालन करने वाला मुक्तिगमनयोग्य, उपधान यानी अनशन आदि तप करने वाला साधु ज्ञानावरणीय आदि कर्मोंको नाश करदेता है। जो मोक्षके पास जीवको स्थापित करता है ऐसे तपको 'उपधान' कहते हैं वह अनशन आदि है। प्राणियोंकी हिंसा मत करो ऐसी जिसकी प्रवृत्ति है उसको 'माहन' कहते हैं परन्तु यहां प्राकृतकी शैलीसे 'माहण' कहा है ॥१५॥

उट्ठिय मणगार मेसणं, समणं ठाणठिअं तवस्सिणं।
डहरा बुड्ढा य पत्थए, अवि सुस्से ण य तं लभेज्ज णो ॥१६॥

छाया—उत्थित मनगारमेषणां श्रमणं स्थानस्थितं तपस्विनम्।
दहराः वृद्धाश्च प्रार्थयेयुरपि शुष्येयु र्न च तं लभेयुः ॥

व्याकरण—(उट्ठियं) (अणगारं) (ठाणट्ठियं) (तवस्सिणं) ये सब श्रमणके विशेषण हैं। (समणं) कर्म है। (डहरा, वुड्ढा) कर्ता। (य) अव्यय (पत्थए) क्रिया (अवि) अव्यय (सुस्से) क्रिया (ण य) अव्यय (तं) कर्म (लभेज्ज) क्रिया।

अन्वयार्थ—(अणगारं) गृहरहित (एसणं) और एषणाको पालन करनेके लिए (उट्ठियं) तत्पर (ठाणट्ठियं) तथा संयम स्थानमें स्थित (तवस्सिणं) तपस्वी (समणं) श्रमणको (डहरा) उसके लड़के (वुड्ढा य) और उसके माता पिता आदि वृद्ध (पत्थए)

प्रव्रज्या छोड़ देनेके लिए चाहे प्रार्थना करें (अवि सुस्से) और प्रार्थना करते-करते वे थक जायँ (तं) परन्तु वे उस साधुको (णो लभेज्ज) अपने आधीन नहीं कर सकते।

भावार्थ—गृहरहित और एषणाके पालनमें तत्पर संयमधारी तपस्वी साधुके निकट आकर उनके बेटे पोते तथा माता पिता आदि प्रव्रज्या छोड़कर घर चलनेकी भलेही प्रार्थना करें और प्रार्थना करते-करते वे थक जायँ परन्तु वस्तुतत्त्वको जानने वाले मुनिको वे अपने आधीन नहीं कर सकते हैं।

अनुकूलोपसर्गमाह—'उट्ठियं' इत्यादि, अगारं गृहं तदस्य नास्तीत्यनगारः तमेवंभूतं संयमोत्थानेनैषणां प्रत्युत्थितं-प्रवृत्तं, श्राम्यतीति श्रमण स्तं, तथा स्थानस्थितम् उत्तरोत्तरविशिष्टसंयमस्थानाध्यासिनं तपस्विनं विशिष्टतपोनिष्टप्तदेहं तमेवंभूतमपि कदाचित् दहराः पुत्रनप्त्रादयः वृद्धाः पितृमातुलादयः उन्निष्क्रामयितुं प्रार्थयेयु र्याचेरन्, त एवमूचुः—भवता वयं प्रतिपाल्याः न त्वामन्तरेणास्माकं कश्चिदस्ति, त्वं वाऽस्माकमेक एव प्रतिपाल्यः (इति) भणन्तस्ते जना अपि शुष्येयुः श्रमं गच्छेयुः न च तं साधुं विदितपरमार्थं लभेरन् नैवात्मसात्कुर्य्युः नैवात्मवशगं विदध्युरिति ॥१६॥

अब शास्त्रकार अनुकूल उपसर्ग बतलाते हैं—घरको 'अगार' कहते हैं। घर जिसको नहीं है उसे 'अनगार' कहते हैं। जो पुरुष घरसे रहित है तथा संयमधारण करके एषणाके पालन करनेमें प्रवृत्त है तथा जो तपस्या आदिमें परिश्रम करता है एवं उत्तरोत्तर विशिष्ट संयममें स्थित होता हुआ विशिष्ट तपके द्वारा अपने शरीरको खूब ताप दे रहा है उस साधुके पास कदाचित् उसके बेटे पोते तथा उसके बाप और मामा आदि आकर प्रव्रज्या छोड़नेकी प्रार्थना करें और वे कहें कि—"आप हमारा पालन करें क्योंकि आपके सिवाय दूसरा हमारा अवलम्ब नहीं है, अथवा एकमात्र आपही हमारे पालनीय हैं" इस प्रकार कहते हुए वे लोग थक जायँ परन्तु वस्तु तत्त्वको जाननेवाले मुनिको वे अपना आधीन नहीं कर सकते हैं ॥१६॥
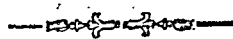
जइ कालुणियाणि कासिया जइ रोयंति य पुत्तकारणा।
दवियं भिक्खूं समुट्ठियं, णो लब्भंति ण संठवित्तए॥१७॥

छाया—यदि कारुणिकानि कुर्य्युः यदि रुदन्ति च पुत्रकारणात्।
द्रव्यं भिक्षुं समुत्थितं न लभन्ते न संस्थापयितुम्॥

व्याकरण—(जइ) अव्यय (कालुणियाणि) कर्म (कासिया) क्रिया (जइ) अव्यय (रोयंति) क्रिया (च) अव्यय (पुत्तकारणा) हेतुपञ्चम्यन्त । (दवियं, समुट्ठियं) भिक्षुके विशेषण (भिक्खू) कर्म (णो) अव्यय (लब्भंति) क्रिया (संठवित्तए) प्रयोजनार्थक क्रिया ।

अन्वयार्थ—(जइ) यदि वे (कालुणियाणि) करुणामय वचन बोले अथवा करुणामय कार्य्य (कासिया) करें (जइय) और यदि वे (पुत्रकारणा) पुत्रके लिए (रोयंति) रोदन करें तो भी (दवियं) द्रव्यभूत (समुट्ठियं) संयम पालन करनेमें तत्पर (भिक्खू) साधुको (णो लब्भंति) वे प्रव्रज्यासे भ्रष्ट नहीं कर सकते हैं। (ण संठवित्तए) तथा वे उन्हें गृहस्थलिङ्गमें नहीं स्थापन कर सकते हैं ।

भावार्थ—साधुके माता पिता आदि सम्बन्धी साधुके निकट आकर यदि करुणामय बचन बोलें, या करुणा जनक कार्य्य करें अथवा पुत्रके लिए रोदन करें तो भी वे, संयम पालन करनेमें तत्पर मुक्ति गमन योग्य उस साधुको संयमसे भ्रष्ट नहीं कर सकते तथा वे उन्हें गृहस्थ लिङ्गमें नहीं स्थापन कर सकते ।

किञ्च यद्यपि ते मातापितापितृपुत्रकलत्रादयः तदन्तिके समेत्य करुणाप्रधानानि विलापप्रायाणि वचांस्यनुष्ठानानि वा कुर्य्युः, तथाहि— "णाह पिय कन्त सामिय, अइवल्लह दुल्लहोऽसि भुवणंमि । तुह विरहम्मि य निक्किव ! सुण्णं सव्वंवि पडिहाइ" १ "सेणी गामो गोट्ठी गणो व तं जत्थ होसि संणिहितो । दिहई सिरिए सुपुरिस ! । किं पुण नियय घरद्दारं" २ तथा यदि 'रोयंति य'त्ति, रुदन्ति पुत्रकारणं सुतनिमित्तं कुलवर्धनमेकं सुत मुत्पाद्य पुनरेवं कर्तुमर्हसीति । एवं रुदन्तो यदि भणन्ति तं भिक्षुं रागद्वेषरहितत्वान्मुक्तिगमनयोग्यत्वाद्वा द्रव्यभूतं सम्यक् संयमोत्थाने-

---

साधुके माता, पिता, पुत्र, और स्त्री आदि, साधुके निकट आकर यदि करुणामय वचन बोलें अथवा रोदन करें या करुणामय कार्य्य करें, जैसे कि साधुकी स्त्री, साधुसे कहे कि हे नाथ ! हे प्रिय ! हे कान्त ! हे स्वामिन् ! हे अति प्रिय ! तुम घरमें दुर्लभ हो गये हो, हे निष्कृप । तुम्हारे विना मुझको सबकुछ शून्यसा प्रतीत होता है । हे उत्तम पुरुष ! तुम जिस श्रेणिमें जिस ग्राम में जिस गोष्ठी में या जिस गणमें रहते हो वे सब तुम्हारी शोभासे प्रकाशित हो जाते हैं फिर अपना घर तुमसे प्रकाशित हो इसमें आश्चर्य्य ही क्या है ? तथा वे पुत्रके लिए रोदन करते हुए कहें कि—"हे उत्तम पुरुष ! अपने कुलकी वृद्धिके लिए एक पुत्र उत्पन्न करके पीछे तूं संयमका पालन करना" इस प्रकार कहते हुए वे परिवारवर्ग, मुक्तिगमन-

नोत्थितं तथापि साधुं न लप्स्यन्ते न शक्नुवन्ति प्रव्रज्यातो भ्रंशयितुं भावाच्च्यावयितुं नाऽपि संस्थापयितुं गृहस्थभावेन द्रव्यलिङ्गाच्च्यावयितुमिति ॥१७॥

योग्य तथा संयम पालन करनेमें निपुण उत्तम साधुको प्रव्रज्यासे भ्रष्ट या भावसे पतित नहीं कर सकते हैं। एवं वे उसे गृहस्थ बनाकर द्रव्यलिङ्गसे भी भ्रष्ट नहीं कर सकते हैं ॥१७॥

जइविय कामेहि लाविया, जइ णेज्जाहि ण बंधिउं घरं।
जइ जीविय नावकंखए णो लब्भंति ण संठवित्तए ॥१८॥

छाया—यद्यपि च कामै र्लावयेयुः यदि नयेयुर्बध्वा गृहम्।
यदि जीवितं नावकाङ्क्षेत नो लप्स्यन्ति न संस्थापयितुम्।

व्याकरण—(जइवि) अव्यय (य) अव्यय। (कामेहि) करण (लाविया) क्रिया (जइ) अव्यय (णेज्जाहि) क्रिया (बंधिउं) क्रिया (घरं) कर्म (जीवियं) कर्म (न) अव्यय (अवकंखे) क्रिया (णो) अव्यय (लब्भंति) (संठवितए) क्रिया।

अन्वयार्थ—(जइविय) चाहे परिवारवाले (कामेहि लाविया) साधुको काम भोगका प्रलोभन दें (जइ बंधिउं) अथवा बाँधकर (घरं) घरपर (णेज्जाहि) ले जायँ (जइ) परन्तु यदि (जीवियं नावकंखे) वह साधु असंयम जीवनको नहीं चाहता है तो (णो लब्भंति) वे उसे अपने वशमें नहीं कर सकते हैं (ण संठवित्तए) और न उसे गृहस्थ भावमें ही रख सकते हैं।

भावार्थ—साधुके सम्बन्धी जन यदि साधुको विषय भोगका प्रलोभन दें अथवा वे साधुको बाँधकर घर ले जायँ, परन्तु वह साधु यदि असंयम जीवनकी इच्छा नहीं करता है तो वे उसे अपने वशमें नहीं कर सकते अथवा उसे वे गृहस्थ भावमें नहीं स्थापन कर सकते।

टीका—अपि च 'जइवि' इत्यादि, यद्यपि ते निजास्तं साधुं संयमोत्थानेनोत्थितं कामैरिच्छामदनरूपै र्लावयन्ति, उपनिमन्त्रयेयुरुपलोभयेयुरित्यर्थः, अनेनानुकूलोपसर्गग्रहणं, तथा यदि नयेयु र्बध्वा गृहं 'ण' मिति

संयम पालन करनेमें तत्पर साधुके सम्बन्धी जन साधुके निकट आकर यदि विषय भोगका प्रलोभन देवें इस प्रकार वे अनुकूल उपसर्ग करें तथा यदि वे बाँधकर साधुको घर ले जावें इस प्रकार वे प्रतिकूल उपसर्ग करें, 'णं' शब्द

वाक्यालङ्कारे। एव मनुकूलप्रतिकूलोपसर्गैरभिद्रुतोऽपि साधुः यदि जीवितं नाभिकाङ्क्षेद् यदि जीविताभिलाषी न भवेदसंयमजीवितं वा नाभिनन्देत् ततस्ते निजा स्तं साधुं 'णो लब्भंति'त्ति, न लभन्ते न प्राप्नुवन्ति आत्मसात्कर्तुं 'ण संठवित्तए'त्ति नाऽपि गृहस्थभावेन संस्थापयितुमलमिति ॥१८॥

वाक्यालङ्कारमें आया है; इस प्रकार अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्गोंसे पीडित भी वह साधु यदि जीवनकी इच्छा नहीं करता है अर्थात् वह यदि असंयम जीवनको पसंद नहीं करता है तो उसके आत्मीय उसे अपने वशमें नहीं कर सकते हैं तथा वे उस साधुको गृहस्थ भावमें भी नहीं रख सकते ॥१८॥
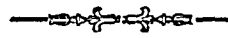
सेहंति य णं ममाइणो- मायपिया य सुयाय भारिया।
पोसाहि ण पासओ तुमं लोग परंपि जहासि पोसणो ॥१९॥

छाया—शिक्षयन्ति च ममत्ववन्तः माता पिता च सुताश्च भार्य्या।
पोषय नः दर्शकस्त्वं लोकं परमपि जहासि पोषय नः ॥

व्याकरण—(सेहंति) क्रिया (य) अव्यय (मायपिया, सुया भारिया) कर्ता (ममाइणो) कर्ताका विशेषण (ण) कर्म (पोसाहि) क्रिया (तुमं) अध्याहृत 'असि' क्रियाका कर्ता (पासओ) तुमंका विशेषण (परं) लोकका विशेषण (लोगं) कर्म (जहासि) क्रिया।

अन्वयार्थ—(ममाइणो) यह साधु मेरा है यह जानकर साधुसे स्नेह करनेवाले उसके (मायपिया य सुयाय भारिया) माता पिता पुत्र और स्त्री (सेहंतिय) साधुको शिक्षा भी देते हैं कि (तुमं पासओ) तू सूक्ष्म दर्शी हो (पोस णो) अतः हमारा पोषण करो (परंवि लोगं) तूं परलोकको भी (जहासि) बिगाड़ रहे हो अतः (पोसणो) तूं हमारा पोषण करो।

भावार्थ—साधुको अपना पुत्र आदि जानकर उसके माता पिता पुत्र और स्त्री आदि साधुको शिक्षा देते हैं। वे कहते हैं कि हे पुत्र! तूं बड़ा सूक्ष्म दर्शी है अतः हमारा पालन करो। तूं हमें छोड़कर अपना परलोक भी बिगाड़ रहे हो अतः तूं हमारा पालन करो।

टीका—किञ्च ते कदाचिन्मातापित्रादयस्तमभिनवप्रव्रजितं 'सेहंति' त्ति, शिक्षयन्ति, णमिति वाक्यालङ्कारे 'ममाइणो'त्ति, ममायमित्येवं

नवदीक्षित साधुको उसके माता पिता आदि स्वजन वर्ग कदाचित् शिक्षा भी देते हैं। (णम्) शब्द वाक्यालङ्कारमें आया है। साधुके माता पिता आदि समझते हैं कि "यह मेरा है" इसलिए वे उसपर स्नेह करते हुए शिक्षा देते हैं। वे किस

स्नेहालवः, कथं शिक्षयन्तीत्यत आह—पश्य नः अस्मानत्यन्तदुःखिताँ स्त्वदर्थं पोषकाभावाद्वा, त्वञ्च यथावस्थितार्थपश्यकः—सूक्ष्मदर्शी सश्रुतिक इत्यर्थः, अतः नः अस्मान् पोषय प्रतिजागरणं कुरु, अन्यथा प्रव्रज्याभ्युपगमेनेहलोकस्त्यक्तो भवता, अस्मत्प्रतिपालनपरित्यागेन च परलोकमपि त्वं त्यजसि इति दुःखितनिजप्रतिपालनेन च पुण्यावाप्ति रेवेति, तथाहि—"या गतिः क्लेशदग्धानां गृहेषु गृहमेधिनाम्। बिभ्रतां पुत्रदाराँस्तु तां गतिं व्रज पुत्रक" ॥१९॥

तरह शिक्षा देते हैं सो शास्त्रकार बतलाते हैं—वे कहते हैं कि हे पुत्र ! तुम्हारे लिये हम अत्यन्त दुःखित हैं, तुम्हारे सिवाय दूसरा कोई हमारा पोषण करनेवाला नहीं है। तूँ इस बातको देखो। तूँ वस्तु स्वरूपको जानने वाले विद्वान् हो अतः तूँ हमारा पालन करो। नहीं तो प्रव्रज्या लेकर तुमने इसलोकको तो नष्ट ही कर दिया है और हमें छोड़कर अब परलोक भी बिगाड़ रहे हो। दुःखी अपने परिवारके पालनसे पुण्यकी प्राप्ति होती है। अतएव कहा है कि—(या गतिः) अर्थात् हे पुत्र ! पुत्र और स्त्री को पालन करनेके लिए क्लेश सहन करनेवाले गृहस्थोंका जो मार्ग है उसीसे तुम भी चलो ॥१९॥
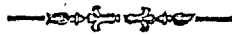
अन्ने अन्नेहिं मूच्छिया मोहं जंति नरा असंवुडा।
विसमं विसमेहिं गाहिया ते पावेहिं पुणो पगब्भिया ॥२०॥

छाया—अन्येऽन्यैर्मूर्च्छिताः मोहं यान्ति नरा असंवृताः।
विषमं विषमैर्ग्राहिताः, ते पापैः पुनः प्रगल्भिताः ॥

व्याकरण—(अन्ने, असंवुडा, अन्नेहिंमूच्छिया) ये नरके विशेषण है। (णरा) कर्ता। (मोहं) कर्म (जंति) क्रिया। (विसमेहिं) कर्तृतृतीयान्त। (विसमं) कर्म (गाहिया) नरका विशेषण (पुणो) अव्यय (पावेहिं) अधिकरण (पगब्भिया) नरका विशेषण।

अन्वयार्थ—(असंवुडा) संयम रहित (अन्ने णरा) दूसरे मनुष्य (अन्नेहिं मूच्छिया) माता पिता आदि दूसरे पदार्थोंमें आसक्त होकर (मोहं जंति) मोहको प्राप्त होते हैं। (विसमेहिं विसमं गाहिया) संयमहीन पुरुषोंके द्वारा असंयम ग्रहण कराए हुए वे पुरुष (पुणो पावेहिं पगब्भिया) फिर पाप कर्म करनेमें धृष्ट हो जाते हैं।

भावार्थ—कोई संयम हीन पुरुष सम्बन्धीजनोंके उपदेशसे माता पिता आदिमें मूर्च्छित होकर मोहको प्राप्त होते हैं। वे, असंयमी पुरुषोंके द्वारा असंयम ग्रहण कराए हुए फिर पाप कर्म करनेमें धृष्ट हो जाते हैं।

टीका—एवं तैरुपसर्गिताः केचन कातराः कदाचिदेतत्कुर्य्युरित्याह—'अन्ने' इत्यादि, अन्ये केचनाल्पसत्त्वाः अन्यैः मातापित्रादिभिः मूर्च्छिता अध्युपपन्नाः सम्यग्दर्शनादिव्यतिरेकेण सकलमपि शरीरादिकमन्यदित्यन्य ग्रहणं ते एवम्भूता असंवृताः नराः मोहं यान्ति सदनुष्ठाने मुह्यन्ति, तथा संसारगमनैकहेतुभूतत्वाद् बिषम असंयम स्तं विषमैरसंयतै रुन्मार्ग-प्रवृत्तत्वेनाऽपायाभीरुभी, रागद्वेषै र्वा अनादिभवाभ्यस्ततया दुश्छेद्यत्वेन विषमैः ग्राहिताः असंयमं प्रति वर्तिता स्ते चैवम्भूताः पापैः कर्मभिः पुनरपि प्रवृत्ताः प्रगल्भिताः धृष्टतां गताः, पापकं कर्म कुर्वन्तोऽपि न लज्जन्त इति ॥२०॥

कोई कायर पुरुष माता पिता आदि स्वजनवर्गकेद्वारा उपसर्ग किये हुए कदाचित् यह भी कर बैठते हैं सो शास्त्रकार बतलाते हैं—कोई अल्प पराक्रमी और संयमरहित पुरुष माता पिता आदि अन्य पदार्थोंमें आसक्त होकर मोहको प्राप्त होते हैं अर्थात् वे शुभ अनुष्ठान करनेमें मोहित हो जाते हैं। वस्तुतः सम्यग्दर्शन आदिके सिवाय संसारके सभी पदार्थ, यहाँ तक कि शरीर भी अपना नहीं किन्तु दूसरा है इसलिए यहाँ सबको अन्य कहकर बताया है। जीवके संसारमें आनेका प्रधान कारण असंयम है इसलिए 'विषम, असंयमको कहते हैं। असत् मार्गसे चलनेवाले और नाशसे भय नहीं करनेवाले संयमहीन पुरुषोंके द्वारा असंयम ग्रहण कराए हुए वे पुरुष पाप करनेमें फिर धृष्टता करते हैं। अथवा अनादिकालसे अभ्यास किये हुए होनेके कारण खण्डन करनेके अयोग्य रागद्वेषको विषम कहते हैं, उन रागद्वेषोंके द्वारा असंयममें प्रेरित किये हुए वे कायर फिर धृष्टतापूर्वक पाप कर्म करने लगते हैं। वे पाप कर्म करते हुए लज्जित नहीं होते हैं यह भाव है ॥२०॥
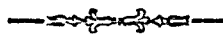
तम्हा दवि इक्ख पंडिए, पावाओ विरतेऽभिनिव्वुडे।
पणए वीरं महाविहिं सिद्धिपहं णेआउयं धुवं ॥२१॥

छाया—तस्माद् द्रव्य ईक्षस्व पण्डितः पापाद्विरतोऽभिनिर्वृतः।
प्रणताः वीराः महावीथीं सिद्धिपथं नेतारं ध्रुवम् ॥

व्याकरण—(तम्हा) हेतुपञ्चम्यन्त सर्वनाम। (दवि पंडिए) अध्याहृत 'त्वं' का विशेषण (इक्ख) क्रिया मध्यम पुरुष। (पावाओ) अपादान (विरए अभिनिव्वुडे) कर्ताके विशेषण (वीरे) कर्ता (महाविहिं) कर्म (पणए) कर्ताका विशेषण। (सिद्धिपहं, णेआउयं, धुवं) ये महावीथिके विशेषण हैं।

अन्वयार्थ—(तम्हा) इसलिए (दवि) मुक्ति गमन योग्य अथवा रागद्वेष रहित होकर (इक्ख) विचारो (पंडिए) सत् और असत्के विवेकसे युक्त तथा (पावाओ) पापसे (विरते) निवृत्त होकर (अभिनिव्वुडे) शान्त हो जाओ। (वीरे) कर्मको विदारण करनेमें समर्थ पुरुष (महाविहिं) महामार्गको (पणए) प्राप्त करते हैं। (सिद्धिपहं) जो महामार्ग सिद्धिका मार्ग (णेयाउयं) तथा मोक्षके पास ले जानेवाला (धुवं) और ध्रुव है।

भावार्थ—माता पिता आदिके प्रेममें फँसकर जीव पाप करनेमें धृष्ट हो जाते हैं इसलिए हे पुरुष तुम मुक्ति गमन योग्य अथवा रागद्वेष रहित होकर विचार करो। हे पुरुष! तुम सत् और असत्के विवेकसे युक्त, पाप रहित और शान्त बन जाओ। कर्मको विदारण करनेमें समर्थ पुरुष उस महत् मार्गसे चलते हैं जो मोक्षके पास लेजानेवाला ध्रुव और सिद्धि मार्ग है।

टीका—यत एवं ततः किं कर्तव्य मित्याह—यतो मातापित्रादि मूर्च्छिताः पापेषु कर्मसु प्रगल्भाः भवन्ति तस्माद् द्रव्यभूतो भव्यः मुक्ति गमनयोग्यः, रागद्वेषरहितो वा सन् ईक्षस्व तद्विपाकं पर्य्यालोचय। पण्डितः सद्विवेकयुक्तः पापात् कर्मणोऽसदनुष्ठानरूपाद् विरतः निवृत्तः क्रोधादिपरित्यागाच्छान्तीभूत इत्यर्थः, तथा प्रणताः प्रह्वीभूताः वीराः कर्मविदारण समर्थाः महावीथिं महामार्गं तमेव विशिनष्टि—सिद्धिपथं ज्ञानादिमोक्षमार्गं, तथा मोक्षम्प्रति नेतारं प्रापकं ध्रुवमव्यभिचारिण मित्येतदवगम्य स एव मार्गोऽनुष्ठेयः नासदनुष्ठानप्रगल्भै र्भाव्यमिति ॥२१॥

माता पिता आदि स्वजन वर्गके स्नेहमें पड़कर कोई कायर पुरुष संयम भ्रष्ट हो जाते हैं इसलिए साधुको क्या करना चाहिए सो सूत्रकार बतलाते हैं—माता पिता आदिमें मूर्च्छित पुरुष, पाप कर्म करनेमें धृष्ट हो जाते हैं इसलिए हे पुरुष! तूँ मुक्ति जाने योग्य अथवा राग द्वेष रहित होकर उस पापकर्मके परिणामको विचारो। हे पुरुष? तूँ उत्तम विवेकसे युक्त तथा पाप कर्मके अनुष्ठानसे निवृत्त होकर क्रोध आदिको छोड़ शान्त बन जाओ। कर्मको विदारण करनेमें समर्थ वीर पुरुष, महामार्गको प्राप्त करते हैं। उस महामार्गका विशेषण बतलाते हैं—वह महामार्ग ज्ञान आदि मोक्षका मार्ग है, तथा वह मोक्षके पास लेजानेवाला और ध्रुव अर्थात् निश्चित है। अतः यह जानकर उसी मार्गका अनुष्ठान करना चाहिए, पाप कर्म करनेमें धृष्ट न बनना चाहिए ॥२१॥

वेयालियमग्गमागओ, मणवयसा कायेण संवुडो ।
चिच्चा वित्तं च णायओ, आरंभं च सुसंवुडे चरे ॥२२॥

त्तिबेमि इति वैतालीयाध्ययनस्य प्रथमोद्देशकः (गाथाग्रम् १२०)

छाया—वैदारकमार्गमागतो मनसा वचसा कायेन संवृतः ।
त्यक्त्वा वित्तञ्च ज्ञातीनारम्भञ्च सुसंवृतश्चरेत् ॥ इति ब्रवीमि ॥

व्याकरण—(वेयालियमग्गं) आगमन क्रियाका कर्म (आगओ) कर्ताका विशेषण । (मणवयसाकायेण) करण तृतीयान्त । (संवुडे) कर्ताका विशेषण (चिच्चा) पूर्वकालिक क्रिया । (वेत्तं) कर्म (णायओ, आरंभं) कर्म (सुसंवुडे) कर्ताका विशेषण (चरे) क्रिया (आक्षिप्त पुरुष कर्ता) ।

अन्वयार्थ—(वेयालियमग्गं) कर्मको विदारण करनेमें समर्थ मार्गमें (आगओ) आकर (मणवयसा कायेण संवुडो) मन वचन और शरीरसे गुप्त होकर एवं (वित्तं णायओ) धन तथा ज्ञातिवर्ग और (आरंभं च) आरंभको (चिच्चा) छोड़कर (सुसंवुडे चरे) उत्तम संयमी होकर विचरना चाहिए ?

भावार्थ—हे मनुष्यों ! कर्मको विदारण करनेमें समर्थ मार्गका आश्रय लेकर मन वचन और कायसे गुप्त होकर तथा धन ज्ञातिवर्ग और आरम्भको छोड़कर उत्तम संयमी बनकर विचरो ।

टीका—पुनरप्युपदेशदानपूर्वकमुपसंहरन्नाह—'वेयालियमग्गं' इत्यादि, कर्मणां विदारणमार्गमागतो भूत्वा तं तथाभूतं मनोवाक्कायसंवृतः पुनः त्यक्त्वा परित्यज्य वित्तं द्रव्यं तथा ज्ञातींश्च स्वजनांश्च तथा सावद्यारम्भञ्च सुष्ठु संवृत इन्द्रियैः संयमानुष्ठानं चरेदिति ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥ २२ ॥ इति वैतालीयद्वितीयाध्ययनस्य प्रथमोद्देशकः समाप्तः ।

फिर भी शास्त्रकार उपदेश देते हुए इस उद्देशकको समाप्त करते हुए कहते हैं "वेयालियमग्गं" इत्यादि । कर्मको विदारण करनेमें समर्थ मार्गमें आकर मन वचन और कायसे गुप्त होकर, धन स्वजनवर्ग तथा सावद्य अनुष्ठानको छोड़कर जितेन्द्रिय होते हुए संयमका अनुष्ठान करना चाहिए । यह श्री सुधर्मा स्वामी जम्बूस्वामी आदिसे हैं । यह वैतालीय नामक दूसरे अध्ययनका प्रथम उद्देशक समाप्त हुआ ।

अथ द्वितीयाध्ययने द्वितीय उद्देशकः प्रारभ्यते।

प्रथमानन्तरं द्वितीयः समारभ्यते—अस्य चायमभिसम्बन्धः इहानन्तरोद्देशके भगवता स्वपुत्राणां धर्मदेशनाऽभिहिता, तदिहापि सैवाध्ययनार्थाधिकरत्वाद् अभिधीयते। सूत्रस्य सूत्रेण सम्बन्धोऽयम्—अनन्तरोक्तसूत्रे बाह्यद्रव्यस्वजनारम्भपरित्यागोऽभिहितः, तदिहाप्यान्तरमानपरित्याग उद्देशार्थाधिकारसूचितोऽभिधीयते। तदनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्यादिसूत्रम्—

प्रथम उद्देशक कहनेके पश्चात् अब दूसरा उद्देशक प्रारम्भ किया जाता है। इस दूसरे उद्देशकका प्रथम उद्देशकके साथ सम्बन्ध यह है—प्रथम उद्देशकमें भगवान् श्री ऋषभ देव स्वामीने अपने पुत्रोंको धर्मका उपदेश दिया है वही धर्मोपदेश इस दूसरे उद्देशकमें भी दिया जाता है क्योंकि दूसरे अध्ययनका अर्थाधिकार धर्मोपदेशही है। सूत्रके साथ सूत्रका सम्बन्ध यह है—पूर्व सूत्रमें कहा है कि—विवेकी पुरुषको बाह्य द्व्य स्वजन वर्ग और आरंभ छोड़ देने चाहिए। अब इस सूत्रमें कहा जाता है कि—विद्वान् पुरुषको आन्तरिक मान छोड़ देना चाहिए। यह उद्देशकके अर्थाधिकारमें भी सूचित किया गया है इस सम्बन्धसे अवतीर्ण इस उद्देशकका प्रथम सूत्र यह है—

तयसं व जहाइ से रयं, इति संखाय मुणी ण मज्जई।
गोयन्नतरेण माहणे, अह सेयकरी अन्नेसी इंखिणी ॥१॥

छाया—त्वचमिव जहाति सो रजः इति संख्याय मुनि र्न माद्यति।
गोत्रान्यतरेण माहनोऽथाश्रेयस्कर्य्यन्येषा मीक्षिणी ॥

व्याकरण—(तयसं) उपमान कर्म (व) इवार्थक अव्यय। (जहाइ) क्रिया (से) सर्वनाम, कर्ताका विशेषण (रयं) कर्म (इति) अव्यय (संखाय) पूर्वकालिक क्रिया (मुणी) कर्ता (ण) अव्यय (मज्जई) क्रिया (गोयन्नतरेण) हेतुतृतीयान्त (माहणे) साधुका वाचक, कर्ता। (असेयकरी) इंखिणीका विशेषण (अन्नेसी) सम्बन्धषष्ठ्यन्त पद। (इंखिणी) कर्ता।

अन्वयार्थ—(तयसंव) जैसे सर्प अपनी त्वचाको (जहाइ) छोड़ देता है इसी तरह (से) वह साधु (रयं) आठ प्रकारके कर्मरजको छोड़ देता है (इति) यह (संखाय) जानकर (मुणी माहणो) मुनि (गोयन्नतरेण) गोत्र तथा दूसरे मदके कारणोंसे (ण मज्जई) मद नहीं करते हैं (अन्नेसी) दूसरेकी (इंखिणी) निन्दा (असेयकरी) कल्याणका नाश करनेवाली है इसलिए साधु किसीकी निन्दा नहीं करते हैं।

भावार्थ—जैसे सर्प अपनी त्वचाको छोड़ देता है इसी तरह साधु अपने आठ प्रकारके कर्म रजको छोड़ देते हैं। यह जानकर संयमधारी मुनि अपने कुल आदिका मद नहीं करते हैं, तथा वे दूसरेकी निन्दा भी नहीं करते हैं क्योंकि दूसरे की निन्दा कल्याणका नाश करती है।

टीका–यथा उरगः स्वां त्वच मवश्यं परित्यागार्हत्वात् जहाति परित्यजति, एवमसावपि साधुः रज इव रजः अष्टप्रकारं कर्म तद् अकषायित्वेन परित्यजतीति। एवं कषायाभावो हि कर्माभावस्य कारणमिति संख्याय ज्ञात्वा मुनिः कालत्रयवेदी, न माद्यति मदं न याति मदकारणं दर्शयति—गोत्रेण काश्यपादिना अन्यतरग्रहणात् शेषाणि मदस्थानानि गृह्यन्त इति, 'माहण' त्ति साधुः, पाठान्तरं वा 'जेविउ' त्ति, यो विद्वान् विवेकी स जाति कुललाभादिभि र्न माद्यतीति, न केवलं स्वतो मदो न विधेयः जुगुप्साऽप्यन्येषां न विधेयेति अथ अनन्तरमसौ अश्रेयस्करी पापकारिणी इंखिणी' त्ति निन्दा अन्येषा मतो न कार्य्येति। "मुणी ण मज्जइ" इत्यादिकस्य सूत्रावयवस्य सूत्रस्पर्श गाथाद्वयेन निर्युक्तिकृदाह—"तवसंजमणाणेसुवि, जइ माणो वज्जिओ महेसीहिं। अत्तसमुक्करिसत्थं किं पुण हीला उ अन्नेसिं ?॥ ४३॥

जइ ताव निज्जरमओ, पडिसिद्धो अट्ठमाणमहणेहिं। अविसेसमयट्ठाणा परिहरियव्वा पयत्तेणं॥ ४४॥ वेयालियस्स णिज्जुत्ती सम्मत्ता।

जैसे साँप अपनी त्वचाको छोड़ देता है क्योंकि वह छोड़ने योग्य ही है उसी तरह साधु भी धूलिके समान अपने आठ प्रकारके कर्मोंको छोड़ देते हैं। कारण यह है कि साधु कषायरहित होते हैं। कषायका अभावही कर्मके अभावका कारण है यह जानकर त्रिकालज्ञ मुनि, मदको प्राप्त नहीं होते हैं। अब शास्त्रकार मदका कारण बतलाते हैं। काश्यप आदि गोत्र तथा 'अन्यतर' शब्दसे शेष मदस्थानोंका ग्रहण है। 'माहन' साधुको कहते हैं। कहीं-कहीं 'जे विउ' यह पाठ मिलता है। इसका अर्थ यह है कि साधु जाति कुल और लाभका मद नहीं करते हैं। साधुको मद नहीं करना चाहिए यही नहीं बल्कि दूसरेकी निन्दा भी न करनी चाहिए यह शास्त्रकार दिखलाते हैं। 'अथ' शब्द अनन्तर अर्थका द्योतक है। दूसरेकी निन्दा पाप उत्पन्न करती है इसलिये वह कभी न करनी चाहिए। अब निर्युक्तिकार गाथाके अवयवको स्पर्श करने वाली दो गाथाएँ लिखते हैं—अपने उत्कर्षको बढ़ानेवाले तप संयम और ज्ञानके मानको भी जबकि महर्षियोंने त्याग कर दिया है तब

तपःसंयमज्ञानेष्वपि आत्मसमुत्कर्षणार्थम् उत्सेकार्थं यः प्रवृत्तो मानः यद्यसावपि तावद् वर्जितः त्यक्तो महर्षिभिः महामुनिभिः किं पुनर्निन्दाऽन्येषां न त्याज्येति । यदि तावन्निर्जरामदोऽपि मोक्षैकगमनहेतुः प्रतिषिद्धः अष्टमानमथनैरर्हद्भिः अवशेषाणि तु मदस्थानानि जात्यादीनि प्रयत्नेन सुतरां परिहर्तव्यानीति गाथाद्वयार्थः ॥ ४३ ॥ ४४ ॥ १

दूसरेकी निन्दा छोड़नेकी बात ही क्या है ? उसको तो वे सुतरां त्याग कर देते हैं । मोक्ष प्राप्तिका एक मात्र साधन निर्जरा है, उसका मद भी अरिहन्तोंने वर्जित किया है फिर शेष जाति आदि मदोंकी तो बात ही क्या है उनको तो प्रयत्न पूर्वक छोड़ देना चाहिए । यह दोनों गाथाओंका अर्थ है ॥१॥

जो परिभवई परं जणं, संसारे परिवत्तई महं।
अदु इंखिणिया उ पाविया, इति संखाय मुणी ण मज्जई ॥२॥

छाया—यः परिभवति परं जनं, संसारे परिवर्तते महत् ।
अथ ईक्षणिका तु पापिका, इति संख्याय मुनि र्न माद्यति ।

व्याकरण—(जो) कर्ता (परं जणं) कर्म (परिभवइ) क्रिया । (संसारे) अधिकरण (परिवत्तई) क्रिया (महं) क्रियाविशेषण (अदु) अव्यय (इंखिणिया) कर्ता (पाविया) इंखिणियाका विशेषण । (इति) अव्यय (संखाय) पूर्वकालिक क्रिया (मुणी) कर्ता (मज्जई) क्रिया ।

अन्वयार्थ—(जे) जो पुरुष, (परं जनं) दूसरे जनको (परिभवई) तिरस्कार करता है (संसारे) वह संसारमें (महं) चिरकाल तक (परिवत्तइ) भ्रमण करता है । (अदु इंखिणिया) परनिन्दा (पाविया) पाप उत्पन्न करती है (इति) यह (संखाय) जानकर (मुणी) मुनिराज (ण मज्जई) मद नहीं करते हैं ।

भावार्थ—जो पुरुष दूसरेका तिरस्कार करता है वह चिरकाल तक संसार भ्रमण करता है । परनिन्दा पापका कारण है यह जानकर मुनिराज मद नहीं करते हैं ।

टीका—साम्प्रतं परनिन्दादोषमधिकृत्याह—'जो परिभवइ' इत्यादि, यः कश्चिदविवेकी 'परिभवति' अवज्ञयति, परं जनं' अन्यं लोकम् आत्मव्य-

---

अब शास्त्रकार दूसरेकी निन्दासे उत्पन्न होनेवाले दोषके विषयमें कहते हैं—जो अविवेकी पुरुष दूसरे पुरुषका तिरस्कार करता है वह, तिरस्कारसे उत्पन्न कर्मके

तिरिक्तं स तत्कृतेन कर्मणा 'संसारे' चतुर्गतिलक्षणे भवोदधावरघट्ट घटीन्यायेन 'परिवर्त्तते' भ्रमति 'महद्' अत्यर्थं महान्तं वा कालं, क्वचित् 'चिरम्' इति पाठः, 'अदु'त्ति अथशब्दो निपातः निपातानामनेकार्थत्वात् अत इत्यस्यार्थे वर्तते, यतः परपरिभवादात्यन्तिकः संसारः अतः 'इंखिणिया' परनिन्दा तु शब्दस्यैवकारार्थत्वात् 'पापिकैव' दोषवत्येव, अथवा स्वस्थानादधमस्थाने पातिका, तत्रेह जन्मनि सुघरो दृष्टान्तः, परलोकेऽपि पुरोहितस्यापि श्वादिषूत्पत्तिरिति, इत्येवं 'संख्याय' परनिन्दां दोषवतीं ज्ञात्वा मुनि र्जात्यादिभिः यथाऽहं विशिष्टकुलोद्भवः श्रुतवान् तपस्वी भवांस्तु मत्तो हीन इति न माद्यति ॥ २ ॥

प्रभावसे अत्यन्त रूपसे अथवा चिर कालतक चतुर्गतिक संसारमें अरहटकी तरह भ्रमण करता है। कहीं-कहीं (चिरम्) यह पाठ मिलता है। 'अथ' शब्द निपात है। निपातोंके अर्थ अनेक होते हैं इसलिए वह (अतः) शब्दके अर्थमें आया है। दूसरेका तिरस्कार करनेसे आत्यन्तिक संसारभ्रमण होता है इसलिए परनिन्दा पापयुक्त यानी दोषपूर्ण है। अथवा परनिन्दा अपने स्थानसे अधम स्थान में जीवको गिरा देती है यहाँ 'तु' शब्द एवकारार्थक है इसलिए परनिन्दा पापको ही उत्पन्न करती है यह अर्थ है। परनिन्दा पापको उत्पन्न करती है इस विषयमें इसलोकमें सुअर दृष्टान्त है और परलोकमें पुरोहित कुत्तेकी योनिमें उत्पन्न होता है यह दृष्टान्त है। पर निन्दा पापका कारण है यह जानकर मुनिको यह मान न करना चाहिए कि 'मैं विशिष्ट कुलमें उत्पन्न, शास्त्रज्ञ, तथा तपस्वी हूँ' तथा तूँ मेरे से हीन हैं।' ॥२॥

—— ❀ ——

जे यावि अणायगे सिया, जे विय पेसगपेसए सिया ।
जे मोणपयं उवट्ठिए, णो लज्जे समयं सया चरे ॥३॥

छाया—यश्चाप्यनायकः स्याद् योऽपि च प्रेष्यप्रेष्यः स्यात् ।
यो मौनपद मुपस्थितो नो लज्जेत समतां सदा चरेत् ॥

व्याकरण—(जे) कर्ता, सर्वनाम (य, अवि) अव्यय। (अणायगे) कर्ताका विशेषण। (सिया) क्रिया (जे) कर्तृवाचक सर्वनाम (पेसगपेसए) कर्ताका विशेषण (सिया) क्रिया (जे) कर्तृवाचक (मोणपयं) कर्म (उवट्ठिए) कर्ताका विशेषण (णो) अव्यय (लज्जे) क्रिया (समयं) कर्म (सया) अव्यय (चरे) क्रिया।

अन्वयार्थ—(जेयावि) जो कोई (अणायगे) नायक रहित स्वयंप्रभु चक्रवर्ती आदि हैं तथा (जेवि य) जो (पेसगपेसए सिया) दासके भी दास हैं, (जे) जो (मोणपयं) मौनपद यानी संयममार्गमें (उवट्ठिए) उपस्थित हैं (णो लज्जे)) उन्हें लज्जा नहीं करनी चाहिए, किन्तु (सया) सदा (समयं चरे) समभावसे व्यवहार करना चाहिए।

भावार्थ—जो स्वयंप्रभु चक्रवर्ती आदि हैं तथा जो दासके भी दास हैं उन्हें संयम मार्गमें आकर लज्जा छोड़कर समभावसे व्यवहार करना चाहिए।

टीका—मदाभावे च यद्विधेयं तद्दर्शयितुमाह—

यश्चापि कश्चिदास्तां तावद् अन्यो न विद्यते नायकोऽस्येत्यनायकः—स्वयंप्रभुश्चक्रवर्त्यादिः 'स्यात्' भवेत्, यश्चापि प्रेष्यस्यापि प्रेष्यः—तस्यैव राज्ञः कर्मकरस्यापि कर्मकरः, य एवम्भूतो मौनीन्द्रं पद्यते—गम्यते मोक्षो येन तत्पदं-संयमस्तम् उप-सामीप्येन स्थितः उपस्थितः-समाश्रितः सोऽप्यलज्जमान उत्कर्षमकुर्वन् वा सर्वाःक्रियाः-परस्परतो वन्दनप्रतिवन्दनादिकाः विधत्ते, इदमुक्तं भवति-चक्रवर्त्तिनाऽपि मौनीन्द्रपदमुपस्थितेन पूर्वमात्मप्रेष्यप्रेष्यमपि वन्दमानेन लज्जा न विधेया इतरेण चोत्कर्ष इत्येवं 'समतां' समभावं सदा भिक्षुश्चरेत्-संयमोद्युक्तो भवेदिति ॥३॥

दूसरे पुरुषोंकी तो बात ही क्या है जो पुरुष नायकवर्जित स्वयंप्रभु चक्रवर्ती आदि हैं तथा जो दासके भी दास हैं अर्थात् उसी राजाके कर्मचारीका भी नौकर हैं, ऐसे होकर जिसने मोक्षप्रद मौनीन्द्रपद यानी संयमका आश्रय लिया है उन्हें, लज्जा छोड़कर अपने उत्कर्षका मान न रखते हुए परस्पर वन्दन नमस्कार आदि समस्त क्रियाओंको करना चाहिए। आशय यह है कि—चाहे चक्रवर्ती भी क्यों न हो परन्तु संयम लेनेके पश्चात् अपने गृहस्थावस्थाके पूर्वदीक्षित दासको भी वन्दन नमस्कार करनेमें लज्जा नहीं करनी चाहिए। तथा दूसरे किसीसे भी मान नहीं करना चाहिए किन्तु सदा समभावका आश्रय लेकर साधुको संयममें तत्पर रहना चाहिए ॥ ३ ॥

सम अन्नयरंमि संजमे, संसुद्धे समणे परिव्वए।
जे आवकहासमाहिए दविए काल मकासी पंडिए ॥४॥

छाया—समोऽन्यतरस्मिन् संयमे संशुद्धः श्रमणः परिव्रजेत्।
यावत् कथासमाहितो द्रव्यः काल मकार्षीत् पण्डितः ॥

व्याकरण—(संसुद्धे) (सम) ये दोनों श्रमणके विशेषण हैं। अथवा (संसुद्धे) संयमका विशेषण है। (संजमे) अधिकरण (अन्नयरंमि) संयमका विशेषण (समणे) कर्ता (परिव्वए) क्रिया (जेभावकहासमाहिए) (दविए) ये दोनों पण्डितके विशेषण हैं। (पंडिए) कर्ता (कालं)। कर्म (अकासी) क्रिया।

अन्वयार्थ—(संसुद्धे) सम्यक् प्रकारसे शुद्ध (समणे) तपस्वी साधु (जेआवकहा) जीवन पर्य्यन्त (अन्नयरंमि) किसीभी (सजमे) संयम स्थानमें स्थित होकर (सम) समभावके साथ (परिव्वए) प्रव्रज्याको पालन करे। (दविए) वह द्रव्यभूत (पंडिए) सत् और असत् का विवेकवाला पुरुष, (समाहिए) शुभ अध्यवसाय रखता हुआ (कालमकासी) मरण पर्य्यन्त संयमका अनुष्ठान करे।

भावार्थ—सम्यक् प्रकारसे शुद्ध, शुभ अध्यवसायवाला, मुक्तिगमनयोग्य, सत् और असत्के विवेकमें कुशल तपस्वी साधु, मरण पर्य्यन्त किसी एक संयम स्थानमें स्थित होकर समभावके साथ प्रव्रज्याका पालन करे।

टीका—क्व पुनर्व्यवस्थितेन लज्जामदौ न विधयाविति दर्शयितुमाह—'समे'ति समभावोपेतः सामायिकादौ संयमे संयमस्थाने वा षट्स्थानपतितत्वात् संयमस्थानानामन्यतरस्मिन् संयमस्थाने छेदोपस्थापनीयादौ वा, तदेव विशिनष्टि—सम्यक्शुद्धे सम्यक् शुद्धो वा 'श्रमणः' तपस्वी लज्जामदपरित्यागेन समानमना वा 'परिव्रजेत्' संयमोद्युक्तो भवेत्, स्यात्—कियन्तं कालम् ?, यावत् कथा—देवदत्तो यज्ञदत्त इति कथां यावत्, सम्यगाहित आत्मा ज्ञानादौ येन स समाहितः समाधिना वा शोभनाध्यवसायेन युक्तः, द्रव्यभूतो रागद्वेषादिरहितः मुक्तिगमनयोग्यतया वा भव्यः स एवम्भूतः

साधुको किस स्थितिमें रहकर लज्जा और मद नहीं करना चाहिए यह दर्शानेके लिये सूत्रकार कहते हैं—

समभावसे युक्त सामायिक आदि संयममें स्थित अथवा छः भागोंमें विभक्त संयम स्थानोंमेंसे किसी भी संयम स्थानमें स्थित अथवा छेदोपस्थापनीय आदिमें रहता हुआ तपस्वी मुनि अथवा सम्यक् प्रकारसे शुद्ध तपस्वी लज्जा और मदका त्याग करके समान मनवाला होकर संयम पालनमें तत्पर रहे। वह साधु कितने कालतक ऐसा करे ? समाधान यह है कि जवतक "देवदत्त या यज्ञदत्त हैं" यह कथा जगत्में उसके विषयमें जारी रहे अर्थात् जवतक वह जीवित रहे तवतक ज्ञान आदिमें अपने आत्माको स्थापित रखता हुआ अथवा शुभ अध्यवसायसे युक्त होकर संयमका पालन करे। इस प्रकार द्रव्यभूत-यानी रागद्वेप रहित अथवा मुक्ति गमन

कालमकार्षीत् 'पण्डितः' सदसद्विवेककलितः, एतदुक्तं भवति—देवदत्त इति कथा मृतस्यापि भवति अतो यावन्मृत्युकालं तावल्लज्जामदपरित्यागोपेतेन संयमानुष्ठाने प्रवर्त्तितव्यमिति स्यात् ॥४॥

योग्य और सत् तथा असत् के विवेकसे युक्त साधु मरण पर्य्यंत संयमका अनुष्ठान करे। भाव यह है कि मरनेपर भी 'देवदत्त' था ऐसी कथा जगत्में रहती है इसलिए यहाँ कहा गया है कि जबतक मृत्युकाल न आवे तबतक साधु लज्जा और मदको छोड़कर संयमका अनुष्ठान करे ॥४॥

दूरं अणुपस्सिया मुणी, तीतं धम्ममणागयं तहा।
पुट्ठे परुषेहिं माहणे, अवि हण्णू समयंमि रीयइ ॥५॥

छाया—दूरमनुदृश्य मुनिरतीतं धर्ममनागतं तथा।
स्पृष्टः परुषै र्माहनः अपि हन्यमानः समये रीयते ॥

व्याकरण—(मुणी) कर्ता (दूरं) कर्म (तहा) अव्यय (तीतं, अणागयं) धर्मके विशेपण हैं। (धम्मं) कर्म (अणुपस्सिया) पूर्वकालिकक्रिया (परुषेहिं) करण (पुट्ठे) मुनिका विशेषण (अविहण्णू) मुनिका विशेषण (समयंमि) अधिकरण (रीयइ) क्रिया।

अन्वयार्थ—(मुणी) तीन कालका ज्ञाता मुनि, (दूरं) मोक्षको (तहा) तथा (तीतं) व्यतीत और (अणागयं) अनागत (धम्मं) जीवोंके स्वभावको (अणुपस्सिया) देखकर (परुषेहिं) कठिन वाक्य अथवा लाठी आदिके द्वारा (पुट्ठे) स्पर्श किया जाता हुआ अथवा (अविहण्णू) हनन किया जाता हुआ भी (समयंमि) संयममें ही (रीयते) चले।

भावार्थ—तीन कालको जाननेवाला मुनि, भूत तथा भविष्यत् प्राणियोंके धर्मको तथा मोक्षको देखकर कठिन वाक्य अथवा दण्ड आदिके द्वारा स्पर्श प्राप्त करता हुआ अथवा मारा जाता हुआ भी संयम मार्गसे ही चलता रहे।

टीका—किमालम्ब्यैतद्विधेयमिति, उच्यते—
दूरवर्त्तित्वात् दूरो-मोक्षस्तमनु-पश्चात् तं दृष्ट्वा यदि वा दूरमिति-

---

किस वस्तुका अवलंब लेकर साधु ऐसा करे सो शास्त्रकार बताते हैं—
दूरवर्ती होनेके कारण यहाँ मोक्षको 'दूर' कहा है अथवा दीर्घकालको दूर

दीर्घकालम् 'अनुदृश्य' पर्यालोच्य 'मुनिः' कालत्रयवेत्ता दूरमेव दर्शयति-अतीतं 'धर्मं' स्वभावं-जीवानामुच्चावचस्थानगतिलक्षणं तथा अनागतं च धर्मं-स्वभावं पर्यालोच्य लज्जामदौ न विधेयौ, तथा 'स्पृष्टः' छुप्तः 'परुषैः' दण्डकशादिभिर्वाग्भिर्वा 'माहणे'त्ति मुनिः 'अविहण्णू'त्ति अपि मार्यमाणः स्कन्दकशिष्यगणवत् 'समये' संयमे 'रीयते' तदुक्तमार्गेण गच्छतीत्यर्थः, पाठान्तरं वा 'समयाऽहियासए'त्ति समतया सहत इति ॥५॥

कहते हैं। अतः त्रिकालदर्शी मुनि मोक्षको देखकर तथा दूरकालको सोचकर लज्जा और मद न करे। दूरकालको सोचना क्या है ? सो ही दर्शाते हैं—अतीत यानी बीता हुआ जो धर्म यानी स्वभाव है वह प्राणियोंका ऊँची और नीची गतियोंमें जाना है तथा भविष्यत् कालका जो स्वभाव है इन दोनोंको जानकर मुनि लज्जा और मद न करे। तथा लाठी, चाबुक अथवा कठिन वाक्यसे स्पर्श पाकर अथवा मारा जाकर भी मुनि, स्कन्दकके शिष्यकी तरह शास्त्रोक्त संयम मार्गसे ही विचरे। यहाँ "समया हियासए" यह पाठान्तर भी मिलता है इसलिए उक्त मुनिराज समभावसे पूर्वोक्त आपत्तियोंको सहे यह अर्थ जानना चाहिए ॥ ५ ॥

पण्णसमत्ते सया जए समताधम्म मुदाहरे मुणी ।
सुहुमे उ सया अलूसए णो कुज्झे णो माणि माहणे ॥६॥

छाया—प्रज्ञासमाप्तः सदा जयेत् समताधर्म मुदाहरेन्मुनिः ।
सूक्ष्मे तु सदाऽलूषकः नो क्रुध्येन्नो मानी माहनः ॥

व्याकरण—(पण्णसमत्ते) मुनिका विशेषण (मुणी) कर्ता (सया) अव्यय (जए) क्रिया। (समयाधम्मं) कर्म (उदाहरे) क्रिया (सुहुमे) अधिकरण। (अलूसए) मुनिका विशेषण (कुज्झे) क्रिया (माणी, माहणे) मुनिका विशेषण।

अन्वयार्थ—(पण्णसमत्ते) पूर्ण बुद्धिमान (मुणी) साधु (सया) सदा (जए) कषायोंको जीते। (समया धम्मं) तथा समतारूप धर्मको (उदाहरे) उपदेश करे। (सुहुमे उ) संयमके विषयमें (सया) सदा (अलूसए) अविराधक होकर रहे (णो कुज्झे) तथा क्रोध न करे (णो माणी माहणो) एवं साधु मान न करे।

भावार्थ—बुद्धिमान् मुनि सदा कषायोंको जीते एवं समभावसे अहिंसाधर्मका उपदेश करे। संयमकी विराधना कभी न करे, एवं क्रोध तथा मानको छोड़ देवे।

टीका—पुनरप्युपदेशान्तरमाह—

प्रज्ञायां समाप्तः–प्रज्ञासमाप्तः–पटुप्रज्ञः, पाठान्तरं वा 'पण्हसमत्थे' प्रश्नविषये प्रत्युत्तरदानसमर्थः 'सदा' सर्वकालं जयेत्, जेयं कषायादिकमिति शेषः। तथा समया समता तया धर्मम्–अहिंसादिलक्षणम् 'उदाहरेत्' कथयेत् 'मुनिः' यतिः सूक्ष्मे तु–संयमे यत्कर्त्तव्यं तस्य 'अलूषकः' अविराधकः, तथा न हन्यमानो वा पूज्यमानो वा क्रुध्येन्नापि 'मानी' गर्वितः स्यात् 'माहणो' यतिरिति ॥६॥

सूत्रकार फिर दूसरा उपदेश देते हैं—

जिसने बुद्धिके विषयमें समाप्ति कर दी है अर्थात् जो पूर्ण बुद्धिमान् है। उसे 'प्रज्ञासमाप्त' कहते हैं। यहाँ "पण्हसमत्थे" यह दूसरा पाठ भी पाया जाता है। इसका अर्थ यह है कि प्रश्नके उत्तर देनेमें समर्थ पुरुष। इस प्रकार वह पुरुष जीतने योग्य कषायोंको सदा विजय करे। तथा अहिंसा आदि धर्मोंको समभावसे उपदेश करे। तथा मुनि, संयमानुष्ठानकी विराधना न करे। वह मारा जाता हुआ क्रोध न करे तथा पूजा जाता हुआ गर्व न करे॥ ६ ॥
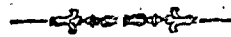
वहुजणणमणंमि संवुडो सव्वट्ठेहिं णरे अणिस्सिए।
हदएव सया अणाविले धम्मं पादुरकासी कासवं ॥७॥

छाया—वहुजननमने संवृतः सर्वार्थैर्नरोऽनिश्रितः।
हृदइव सदाऽनाविलो धर्मं प्रादुरकार्षीत्काश्यपम् ॥

व्याकरण—(वहुजणणमणंमि) अधिकरण (संवुडो) नरका विशेषण (णरे) कर्ता (हद) उपमान कर्ता (सया) अव्यय (अणाविले) नरका विशेषण (सव्वट्ठेहिं अणिस्सिए) नरका विशेषण (कासवं) धर्मका विशेषण (धम्मं) कर्म (पादुरकासि) क्रिया।

अन्वयार्थ—(वहुजणणमणंमि) बहुत जनोंसे नमस्कार करने योग्य, यानी धर्ममें (संवुडो) सावधान रहनेवाला (नरे) मनुष्य, (सव्वट्ठेहिं) सब पदार्थोंमेंसे ममताको हटाकर (हदएव) तालाबकी तरह (सया) सदा (अणाविले) निर्मल रहता हुआ (कासवं) काश्यपगोत्री भगवान् महावीर स्वामीके (धम्मं) धर्मको (पादुरकासि) प्रकट करे।

भावार्थ—बहुत जनोंसे नमस्कार करने योग्य धर्ममें सदा सावधान रहता हुआ मनुष्य, धनधान्य आदि बाह्य पदार्थोंमें आसक्त न रहता हुआ तालाबकी तरह निर्मल होकर काश्यपगोत्री भगवान् महावीर स्वामीके धर्मको प्रकट करे।

टीका—अपि च बहून् जनान् आत्मानं प्रति नामयति-प्रह्वीकरोति तै र्वा नम्यते-स्तूयते बहुजननमनो धर्मः, स एव बहुभिर्जनैरात्मीयात्मीयाशयेन यथाऽभ्युपगमप्रशंसया स्तूयते प्रशस्यते, कथम्? अत्र कथानकं राजगृहे नगरे श्रेणिको महाराजः, कदाचिदसौ चतुर्विधबुद्ध्युपेतेन पुत्रेण अभयकुमारेण सार्धमास्थानस्थितस्ताभि स्ताभिः कथाभिरासाञ्चक्रे, तत्र कदाचिदेवम्भूता कथाऽभूत्, तद्यथा—इहलोके धार्मिकाः बहवः उताधार्मिका इति? तत्र समस्तपर्षदाऽभिहितम् यथाऽत्राधार्मिकाः बहवो लोकाः धर्मं तु शतानामपि मध्ये कश्चिदेवैको विधत्ते, तदाकर्ण्याभयकुमारेणोक्तं-यथा प्रायशो लोकाः सर्व एव धार्मिकाः, यदि न निश्चयो भवतां परीक्षा क्रियताम्, पर्षदाऽप्यभिहितम् एवमस्तु, ततोऽभयकुमारेण धवलेतरप्रासादद्वयं कारितम्, घोषितं च डिण्डिमेन नगरे, यथा यः कश्चिदिह धार्मिकः स सर्वोऽपि धवलप्रासादं गृहीतबलिः प्रविशतु, इतरस्त्वितरमिति, ततोऽसौ लोकः सर्वोऽपि धवलप्रासादमेव प्रविष्टो निर्गच्छंश्च कथं त्वं धार्मिकः? इत्येवं पृष्टः

जो, बहुत जनोंको अपने प्रति झुका देता है अथवा जो बहुत जनोंसे प्रशंसा किया जाता है उसे 'बहुजननमन' कहते हैं। वह धर्म है क्योंकि धर्मको ही बहुत लोग अपने अपने अभिप्राय तथा स्वीकारके अनुसार प्रशंसा किया करते हैं। कैसे ? इस विषयमें एक कथानक है—राजगृह नगरमें श्रेणिक नामक राजा रहते थे। वह किसी समय, चतुर्विध बुद्धिसंपन्न अपने पुत्र अभयकुमारके साथ सभामें बैठकर नाना प्रकारकी कथाओंसे चित्त विनोद कर रहे थे। किसी समय वहाँ यह प्रसंग छिड़ गया कि इसलोकमें धार्मिक बहुत हैं अथवा अधार्मिक पुरुष बहुत हैं ? इस विषयमें समस्त सभासदोंने यह कहा कि "इसलोकमें अधार्मिक पुरुष ही बहुत हैं। धर्म तो कोई सौमेंसे एकाध पुरुष ही करता है" यह सुनकर अभयकुमारने कहा कि "प्रायः सभी लोग धार्मिक ही हैं" यदि निश्चय न हो तो आप परीक्षा करलें। सभासदोंने कहा कि ऐसा ही हो। इसके पश्चात् अभय कुमारने एक श्वेत और दूसरा कृष्ण दो महल बनवाए और नगरमें यह घोषणा कराई कि "जो कोई धार्मिक है वह सभी पूजाकी सामग्री लेकर श्वेत महलमें प्रवेश करें और जो अधार्मिक है वह कृष्ण प्रासादमें चलाजाय" इसके पश्चात् सभी लोग धवल प्रासादमें ही गए। जब वे निकलने लगे तो उनसे पूछा गया कि "तुम किस प्रकार धार्मिक हो" ? इस प्रश्नपर किसीने कहा कि मैं किसान हूँ इसलिए बहुतसे पक्षी मेरे धान्यके दानोंसे

कश्चिदाचष्टे—यथाऽहं कर्षकः अनेकशकुनिगणःमद्धान्यकणैरात्मानं प्रीणयति खलकसमागतधान्यकणाभिक्षादानेन च धर्म इति, अपरस्त्वाह-यथाहं ब्राह्मणः षट्कर्माभिरतः तथा बहुशौचस्नानादिभिर्वेदविहितानुष्ठानेन पितृदेवाँस्तर्पयामि, अन्यः कथयति यथाऽहं वणिक्कुलोपजीवी भिक्षादानादिप्रवृत्तः, अपरस्त्विदमाह—यथाऽहं कुलपुत्रकः न्यायागतं निर्गतिकं कुटुम्बकं पालयाम्येव, तावत् श्वपाकोऽपीदमाह—यथाऽहंकुल-क्रमागतं धर्ममनुपालयामीति मन्निश्रयाश्च बहवः पिशितभुजः प्राणान् संधारयन्ति, इत्येवं सर्वोऽप्यात्मीयमात्मीयं व्यापार मुद्दिश्य धर्मे नियो-जयति, तत्रापरमसितप्रासादं श्रावकद्वयं प्रविष्टम्, तच्च किमधर्माचरणं भवद्भ्यामकारीत्येवं पृष्टं सत् सकृन्मद्यनिवृत्तिभङ्गव्यलीकमकथयत् तथा साधव एवात्र परमार्थतो धार्मिकाः यथागृहीतप्रतिज्ञानिर्वाहण-समर्थाः, अस्माभिस्तु—

"अवाप्य मानुषं जन्म, लब्ध्वा जैनञ्च शासनम् ।
कृत्वा निवृत्तिं मद्यस्य सम्यक् साऽपि न पालिता" ॥१॥

अपनी तृप्ति करते हैं तथा खलिहान में आये हुए धान्यमेंसे भिक्षा देनेसे मुझको धर्मका लाभ होता है इसलिए मैं धार्मिक हूँ। दूसरेने कहा कि मैं ब्राह्मण हूँ, मैं षट् कर्ममें तत्पर रहकर शौच स्नान आदिके द्वारा वेदोक्त विधिके अनुसार पितर और देवताओंको तर्पण करता हूँ इसलिए मैं धार्मिक हूं दूसरा कहता है कि मैं बणिक् कुल यानी व्यापारके द्वारा जीविका चलाता हुआ भिक्षादान आदि कार्य्यमें प्रवृत्त रहता हूँ इसलिए मैं धार्मिक हूँ। दूसरेने कहाकि मैं कुल पुत्र हूँ इसलिए न्यायसे उत्पन्न आश्रय रहित अपने कुटुम्बको पोषण करता हूँ इसलिए मैं धार्मिक हूँ। अंततः चाण्डालने भी यह कहा कि मैं अपने कुल परम्परागत धर्मका पालन करता हूँ और मेरे आधीन बहुतसे मांसाहारी अपने प्राणोंको धारण करते हैं इसलिए मैं धर्मिक हूँ। इस प्रकार सभी लोग अपने-अपने व्यापार को धर्ममें स्थापित करने लगे। परंतु वहाँ दो श्रावक कृष्णप्रासादमें प्रवेश किए हुए थे। उनसे जब पूछा गया कि "तुम लोगोंने कौनसा अधर्म किया है" तो उन्होंने कहा कि "हम लोगोंने मद्यपानका त्याग लेकर एकबार उसे तोड़ दिया है। वस्तुतः साधु ही इस जगत्में धार्मिक हैं जो अपनी ग्रहणकी हुई प्रतिज्ञाको निर्वाह करनेमें समर्थ हैं। हमलोगोंने तो मनुष्य जन्म पाकर तथा जैन शासनको लाभकरके मद्यपीनेका त्याग लेकर भी अच्छी तरह उसका पालन नहीं किया है इस व्रत भंगके कारण अपनेको अधार्मिक तथा अधमसे

अनेन व्रतभङ्गेन मन्यमाना अधार्मिकम् ।
अधमाधममात्मानं, कृष्णप्रासादमाश्रिताः ॥२॥

तथाहि—

लज्जागुणौघजननीं जननी मिवार्या ।
मत्यन्तशुद्धहृदया मनुवर्तमानाः ॥
तेजस्विनः सुख मसूनपि संत्यजन्ति ।
सत्यव्रतव्यसनिनो न पुनः प्रतिज्ञाम् ॥३॥

वरं प्रवेष्टुं ज्वलितं हुताशनं न चाऽपि भग्नं चिरसंचितव्रतम् ।
वरं हि मृत्युः सुविशुद्धचेतसो न चाऽपि शीलस्खलितस्य जीवितम् ॥४॥

इति तदेवं प्रायशः सर्वोऽप्यात्मानं धार्मिकं मन्यत इति कृत्वा बहु जननमनो धर्म इति स्थितम् । तस्मिंश्च संवृतः समाहितः सन् नरः पुमान् सर्वार्थैः वाह्याभ्यन्तरैर्धनधान्यकलत्रममत्वादिभिः अनिश्रितः अप्रतिवद्धः सन् धर्मं प्रकाशितवानित्युत्तरेण सह सम्बन्धः निदर्शनमाह—हृदइव स्वच्छाम्भसा भृतः सदा अनाविलः अनेकमत्स्यादिजलचरसंक्रमेणाप्यनाकुलोऽकलुषो वा क्षान्त्यादिलक्षणं धर्मं प्रादुरकार्षीत् प्रकटं कृतवान् यदि वा एवंविशिष्ट एव काश्यपं तीर्थङ्करसम्बन्धिनं धर्मं प्रकाशयेत् छान्दसत्वाद् वर्तमाने भूतनिर्देश इति ॥ ७ ॥

अधम समझकर हमने कृष्ण प्रासादका आश्रय लिया है । क्योंकि—लज्जा आदि गुण समूहको उत्पन्न करनेवाली अत्यंत शुद्धहृदया आर्य्या माताके समान प्रतिज्ञाकी सेवा करनेवाले सत्यव्रतव्यसनी, तेजस्वी पुरुष अपने प्राणोंको सुखपूर्वक छोड़देते हैं परन्तु प्रतिज्ञाको नहीं छोड़ते हैं । जलती हुई आगमें प्रवेश करना अच्छा परन्तु चिरसंचित व्रतको तोड़ना अच्छा नहीं । शुद्ध चित्तवाले पुरुषका मरजाना भी अच्छा परन्तु शीलभ्रष्ट पुरुषका जीवन अच्छा नहीं । इस प्रकार सभी लोग प्रायः अपनेको धार्मिक ही मानते हैं इसलिए यहाँ धर्मको वहुजननमन कहा है यह वात सत्य है । उस धर्ममें सावधान होकर मनुष्य, वाह्य धनधान्य कलत्र आदि तथा आभ्यन्तर ममता आदि पदार्थोंमें आसक्त न रहकर धर्मको प्रकट करे यह उत्तर गाथाके साथ सम्बन्ध है । इसविषयमें दृष्टान्त दिया जाता है । जैसे तालाव स्वच्छ जलसे भरा हुआ होता है । अथवा वह जैसे अनेक जलचरोंके संचारसे भी मलिन नहीं होता है इसी तरह साधु मलिन न होते हुए क्षांति आदि दशविध धर्मको प्रकट करते थे । अथवा इस प्रकार रहता हुआ ही साधु तीर्थंकर सम्बन्धी धर्मको प्रकाश करे, यहाँ वर्तमानमें छान्दसत्वात् भूतका निर्देश किया है ॥७॥

वहवे पाणा पुढो सिया पत्तेयं समयं समीहिया ।
जो मोणपदं उवट्ठिए, विरतिं तत्थ अकासि पंडिए ॥८॥

छाया—वहवः प्राणाः पृथक् श्रिताः प्रत्येकं समतां समीक्ष्य ।
यो मौनपदमुपस्थितो विरतिं तत्राकार्षीत् पण्डितः ॥

व्याकरण—(वहवे) प्राणीका विशेषण (पाणा) कर्ता (पुढो) अव्यय (सिया) प्राणीका विशेषण (पत्तेयं) अव्यय (समयं) कर्म (समीहिया) पूर्वकालिक क्रिया । (जो) कर्ता (मोणपदं) कर्म (उवट्ठिए) कर्ताका विशेषण (तत्थ) अधिकरण (विरतिं) कर्म (अकासी) क्रिया (पंडिए) कर्ता ।

अन्वयार्थ—(वहवे) बहुतसे (पाणा) प्राणी (पुढो) पृथक् पृथक् (सिया) इस जगत्में निवास करते हैं । (पत्तेयं) प्रत्येक प्राणीको (समयं) समभावसे (समीहिया) देखकर (मोणपदं) संयममें (उवट्ठिए) उपस्थित (पंडिए) पण्डित पुरुष (तत्थ) उन प्राणियोंके घातसे (विरतिं) विरति (अकासी) करे ।

भावार्थ—इस संसारमें बहुतसे प्राणी पृथक् पृथक् निवास करते हैं । उन सब प्राणियोंको समभावसे देखनेवाला संयम मार्गमें उपस्थित विवेकी पुरुष उन प्राणियोंके घातसे विरत रहे ।

टीका—स बहुजननमने धर्मे व्यवस्थितो यादृग् धर्मं प्रकाशयति तद्दर्शयितुमाह—यदि वोपदेशान्तरमेवाधिकृत्याह—'बहवे' इत्यादि, बहवः अनन्ताः प्राणाः दशविधप्राणभाक्त्वात्तदभेदोपचारात् प्राणिनः पृथगिति पृथिव्यादिभेदेन सूक्ष्मबादरपर्य्याप्तकापर्य्याप्तनरकगत्यादिभेदेन वा संसारमाश्रिताः तेषाञ्च पृथगाश्रितानामपि प्रत्येकं समतां दुःखद्वेषित्वं सुखप्रियत्वञ्च समीक्ष्य दृष्ट्वा यदिवा समतां माध्यस्थ्यमुपेक्ष्य (त्य) यो मौनीन्द्रपदमुपस्थितः संयममाश्रितः स साधुः तत्र अनेकभेदभिन्नप्राणि-

---

बहुत जनोंसे नमस्कृत धर्ममें स्थित साधु, जैसा धर्मको प्रकाश करता है वह दिखानेके लिए सूत्रकार कहते हैं—अथवा दूसरा उपदेश करते हैं—

दशविध प्राणोंको धारण करनेके कारण यहाँ प्राणोंके साथ अभेद आरोप करके प्राणियोंको प्राण कहा है । इस जगत्में पृथिवी आदि भेदसे अथवा सूक्ष्म, बादर, पर्य्याप्त, अपर्य्याप्त और नरकगति आदि भेदसे अनन्त प्राणी निवास करते हैं । पृथक् रहनेवाले वे प्रत्येक प्राणी समान रूपसे दुःखके साथ द्वेष और सुखके साथ प्रेम करते हैं, यह देखकर अथवा सब प्राणियोंके विषयमें मध्यस्थवृत्ति

गणे दुःखद्विषि सुखाभिलाषिणि सति तदुपघाते कर्तव्ये विरतिमकार्षीत् कुर्याद्वेति, पापाड्डीनः पापानुष्ठानाद् देवीयान् पण्डित इति ॥ ८ ॥

धारण करके संयममें उपस्थित पापके अनुष्ठानसे दूर रहनेवाला पण्डित पुरुष, दुःख द्वेषी और सुख प्रेमी उन अनेक भेदवाले प्राणियोंके घातसे विरत रहे ॥ ८ ॥
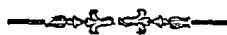
धम्मस्स य पारए मुणी आरंभस्स य अंतए ठिए ।
सोयंति य णं ममाइणो णो लब्भंति णियं परिग्गहं ॥९॥

छाया—धर्मस्य च पारगो मुनि रारम्भस्य चान्तके स्थितः ।
शोचन्ति च ममतावन्तः नो लभन्ते निजं परिग्रहम् ॥

व्याकरण—(धम्मस्स) सम्बन्धषष्ठयन्त । (पारगो) मुनिका विशेषण । (आरंभस्स) सम्बन्धषष्ठ्यन्त । (अंतए) अधिकरण । (ठिए) मुनिका विशेषण । (मुणि) कर्ता । (ममाइणो) कर्ता । (सोयंति) क्रिया । (णियं) कर्म विशेषण । (परिग्गहं) कर्म । (लब्भंति क्रिया ।

अन्वयार्थ—(धम्मस्स) धर्मका (पारगो) पारगामी (आरंभस्स) आरम्भके (अंतए) अन्तमें (ठिए) स्थित पुरुष (मुणी) मुनि कहलाता है । (ममाइणो) ममतावाले पुरुष, (सोयंति य) शोक करते हैं (णियं) अपने (परिग्गहं) परिग्रहको (णो लब्भंति) नहीं प्राप्त करते हैं ।

भावार्थ—जो पुरुष धर्मके पारगामी और आरम्भके अभावमें स्थित है उसे मुनि समझना चाहिए । ममता रखनेवाले जीव परिग्रहके लिए शोक करते हैं और वे शोक करते हुए भी अपने परिग्रहको प्राप्त नहीं करते ।

टीका—अपि च धर्मस्य श्रुतचारित्रभेदभिन्नस्य पारं गच्छतीति पारगः सिद्धान्तपारगामी सम्यक्चारित्रानुष्ठायी वेति, चारित्रमधिकृत्याह— 'आरम्भस्य' सावद्यानुष्ठानरूपस्य 'अन्ते' पर्यन्ते तदभावरूपे स्थितो मुनिर्भवति ये पुनर्नैवं भवन्ति ते अकृतधर्माः मरणे दुःखे वा समुत्थिते आत्मानं

और भी—श्रुत और चारित्र भेदसे धर्म द्विविध है—ऐसे धर्मको जिसने पार किया है अर्थात् जो सिद्धान्तका पारगामी है अथवा जो सम्यक् चारित्रका अनुष्ठान करता है वह मुनि कहलाता है। चारित्रके विषयमें कहते हैं कि जो सावद्य अनुष्ठानके अन्तमें अर्थात् अभावमें स्थित रहता है वह पुरुष मुनि है । परन्तु जो ऐसे नहीं हैं वे धर्माचरण नहीं किए हुए पुरुष, मरण अथवा दुःख उपस्थित होनेपर अपने

शोचन्ति, णमिति वाक्यालङ्कारे, यदिवेष्टमरणादौ अर्थनाशे वा 'ममाइणो' त्ति ममेदमहमस्य स्वामीत्येवमध्यवसायिनः शोचन्ति, शोचमाना अप्येते 'निजम्' आत्मीयं परि समन्तात् गृह्यते आत्मसात्क्रियत इति परिग्रहः। हिरण्यादिरिष्टस्वजनादिर्वा तं नष्टं मृतं वा 'न लभन्ते' न प्राप्नुवन्तीति, यदि वा धर्मस्य पारगं मुनिमारम्भस्यान्ते व्यवस्थितमेनमागत्य 'स्वजनाः' मातापित्रादयः शोचन्ति 'ममत्वयुक्ताः' स्नेहालवः न च ते लभन्ते निजमप्यात्मीयपरिग्रहबुद्ध्या गृहीतमिति ॥ ९ ॥

आत्माके लिए शोक करते हैं। 'णं' शब्द वाक्यालंकारमें आया है। अथवा इष्ट मरण और अर्थनाश होनेपर "यह मेरा है और मैं इसका स्वामी हूँ" ऐसा अध्यवसाय रखनेवाले वे उसके लिए शोक करते हैं। शोक करनेपर भी वे अपने उस परिग्रहको नहीं प्राप्त करते हैं। जो चारो तरफसे अपने आधीन किया जाता है। उसे परिग्रह कहते हैं। वह सुवर्ण आदि और स्वजन आदि हैं। नष्ट हुए सुवर्ण आदिको अथवा मरे हुए स्वजन आदिको वे नहीं प्राप्त करते हैं। अथवा, धर्मका पारगामी और आरम्भके अन्तमें स्थित मुनिके पास आकर उसके माता पिता आदि स्वजनवर्ग उस मुनिपर ममत्व और स्नेह करते हुए शोक करते हैं परन्तु उस मुनिको अपना परिग्रह समझते हुए भी वे उन्हें प्राप्त नहीं करते हैं।
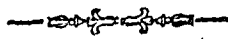
इह लोग दुहावहं विऊ परलोगे य दुहं दुहावहं।
विद्धंसणधम्ममेव तं इति विज्जं कोऽगार मावसे ॥१०॥

छाया—इहलोकदुःखावहं विद्याः परलोके च दुःखं दुःखावहम्।
विध्वंसनधर्ममेव तद् इति विद्वान् कोऽगार मावसेत् ॥

व्याकरण—(इहलोगदुहावहं, परलोगे विय दुहं दुहावहं) कर्म (विऊ) क्रिया। (तं विद्धंसणधम्मं) अध्याहृत अस्ति क्रियाका कर्ता (एव) अव्यय (इति) अव्यय (विज्जं) कर्ताका विशेषण (को) कर्ता (आगारं) कर्म (आवसे) क्रिया।

अन्वयार्थ—(इहलोगदुहावहं) सोना चाँदी और स्वजन वर्ग इस लोकमें दुःख देनेवाले हैं (परलोगे य) और परलोकमें भी (दुहं दुहावहं) दुःख देनेवाले हैं। (विऊ) यह जानो। (तं) वह (विद्धंसनधम्ममेव) नश्वर स्वभाव है (इति विज्जं) यह जाननेवाला (को) कौन पुरुष (अगारं) गृहवासमें (आवसे) निवास कर सकता है ?।

भावार्थ—सोना चाँदी और स्वजन वर्ग, सभी परिग्रह इसलोक तथा परलोकमें दुःख देनेवाले हैं। तथा सभी नश्वर हैं, अतः यह जानने वाला कौन पुरुष गृहवास को पसन्द कर सकता है ?।

टीका—अत्रान्तरे नागार्जुनीयास्तु पठन्ति "सोऊण तयं उवट्ठियं केइ गिही विग्घेण उट्ठिया। धम्मंमि अणुत्तरे मुणी, तंपि जिणिज्ज इमेण पंडिए ॥१॥ एतदेवाह—इह अस्मिन्नेव लोके हिरण्यस्वजनादिकं दुःखमावहति। 'विउ'त्ति विद्याः जानीहि, तथाहि—अर्थानामर्जने दुःखमर्जितानाञ्च रक्षणे। आये दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थं दुःखभाजनम्" ॥ १ ॥ तथाहि—"रेवापयः किसलयानि च सल्लकीनां विन्ध्योपकण्ठविपिनं स्वकुलञ्च हित्वा। किं ताम्यसि द्विप ! गतोऽसि वशं करिण्याः, स्नेहो निबन्धनमनर्थपरम्परायाः" ॥ २ ॥ परलोके च हिरण्यस्वजनादिममत्वापादितकर्मजं दुःखं भवति, तदप्यपरं दुःखमावहति, तदुपादानकर्मोपादानादितिभावः। तथैतदुपार्जितमपि विध्वंसनधर्मं विशरारुस्वभावं गत्वरमित्यर्थः इत्येवं विद्वान् जानन् कः सकर्णः अगारवासं गृहवासमावसेत् गृहपाशमनुबध्नीयादिति। उक्तञ्च "दाराः परिभवकाराः बन्धुजनो बन्धनं विषं विषयाः।

यहाँ नागार्जुनीय यह पाठ करते हैं "सोऊण" इत्यादि। अर्थात् कोई गृहस्थ मुनिको वहाँ आए हुए जानकर विघ्न करनेके लिए यदि आवें तो अनुत्तर धर्ममें स्थित पण्डित मुनि उनको इस रीतिसे जीत लेवे यही बात सूत्रकार कहते हैं—

हिरण्य और स्वजन आदि, इसलोकमें भी दुःख उत्पन्न करते हैं यह जानो। क्योंकि धनको पैदा करनेमें दुःख होता है और पैदा किये हुए धनकी रक्षा करनेमें दुःख होता है। धनको प्राप्त करनेमें दुःख होता है और व्यय करनेमें दुःख होता है इसलिए दुःखोंका पात्र धनको धिकार है। तथा हे करिराज ! तू रेवा नदीका जल, सल्लकी वृक्षके पत्ते और अपने कुलको छोड़कर क्यों दुःख भोग रहे हो ?। इसका कारण यही है कि तुम हथिनीके वश हो गए हो ठीक है संसारमें स्नेह ही अनर्थ परंपराका कारण है। परलोकमें भी हिरण्य और स्वजनकी ममतासे उत्पन्न कर्मसे दुःख होता है। वह दुःख, फिर दूसरा दुःख उत्पन्न करता है क्योंकि उससे किए हुए कर्मके द्वारा फिर दुःख होता है। तथा उपार्जन किया हुआ भी धन नश्वरस्वभाव है स्थिर नहीं है अतः इस वातको जाननेवाला कौन विद्वान् पुरुष, गृहवासको पसन्द कर सकता है अथवा गृहपाशमें अपनेको बाँध सकता है ? कहा भी है "दाराः" अर्थात् स्त्री अपमान करती है। बन्धुजन बन्धन हैं। विषय विषके तुल्य हैं तथापि

कोऽयं जनस्य मोहो ? ये रिपवस्तेषु सुहृदाशा" ॥ १० ॥

मनुष्यका यह क्या मोह है कि जो शत्रु हैं उनमें वह मित्रकी आशा रखता है ॥१०॥
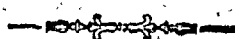
महयं परिगोव जाणिया जावि य वंदणपूयणा इहं ।
सुहुमे सल्ले दुरुद्धरे विउमंता पयहिज्ज संथवं ॥११॥

छाया—महान्तं परिगोपं ज्ञात्वा याऽपि च वन्दनपूजनेह ।
सूक्ष्मे शल्ये दुरुद्धरे विद्वान् परिजह्यात् संस्तवम् ॥

व्याकरण—(महयं) परिगोपका विशेषण । (परिगोवं) कर्म । (जाणिया) पूर्वकालिक क्रिया । (जा) सर्वनाम । वन्दन पूजनका विशेषण (अवि) (य) अव्यय । (इह) अव्यय । (वंदन पूयणा) अध्याहृत अस्ति क्रियाका कर्ता । (विउमंता) कर्ता । (सुहुमे) शल्यका विशेषण । (दुरुद्धरे) शल्यका विशेषण । (सल्ले) अध्याहृत अस्ति क्रियाका कर्ता । (संथवं) कर्म । (पयहिज्ज) क्रिया ।

अन्वयार्थ—(महयं) सांसारिकजीवोंका परिचय महान् (परिगोवं) पंक है (जाणिया) यह जानकर (जावि य) तथा जो (इह) इसलोकमें (वंदन पूयणा) वन्दन और पूजन है उसे भी कर्मके उपशमका फल जानकर (विउमंता) विद्वान् पुरुष गर्व न करे क्योंकि गर्व, (सुहुमे) सूक्ष्म (सल्ले) शल्य है (दुरुद्धरे) उसका उद्धार करना कठिन है । (संथवं) अतः परिचयको (पयहिज्ज) त्याग देवे ।

भावार्थ—सांसारिक जीवोंके साथ परिचय महान् कीचड़ है यह जानकर मुनि उनके साथ परिचय न करे तथा वन्दन और पूजन भी कर्मके उपशमका फल है यह जानकर मुनि वन्दन पूजन पाकर गर्व न लावे क्योंकि गर्व सूक्ष्म शल्य है उसका उद्धार करना कठिन होता है ।

टीका—पुनरप्युपदेशमधिकृत्याह–'महान्तं संसारिणां दुस्त्यजत्वान्महता वा संरम्भेण परिगोपणं परिगोपः द्रव्यतः पङ्कादिः भावतोऽभिष्वङ्गः तं

फिर दूसरा उपदेश देनेके लिए सूत्रकार कहते हैं—

संसारी जीवके लिए परिचय छोड़ना कठिन है इसलिए परिचयको यहाँ महान् कहा है । अथवा महान् संरंभ अर्थमें यहाँ महत् शब्द आया है । जो प्राणियोंको अपनेमें फँसा लेता है उसे 'परिगोप' कहते हैं । वह परिगोप दो प्रकारका है एक द्रव्य परिगोप और दूसरा भाव 'परिगोप' । द्रव्य परिगोप पंक (कीचड़) को कहते हैं और संसारी प्राणियोंके साथ परिचय या आसक्ति भावपरिगोप है । इसका

'ज्ञात्वा' स्वरूपतः तद्विपाकतो वा परिच्छिद्य याऽपि च प्रव्रजितस्य सतो राजादिभिः कायादिभि र्वन्दना वस्त्रपात्रादिभिश्च पूजना तां च 'इह' अस्मिन् लोके मौनीन्द्रे वा शासने व्यवस्थितेन कर्मोपशमजं फलमित्येवं परिज्ञायोत्सेको न विधेयः, किमिति? यतो गर्वात्मकमेतत्सूक्ष्मं शल्यं वर्त्तते, सूक्ष्मत्वाच्च 'दुरूद्धरं' दुःखेनोद्धर्तुं शक्यते, अतः 'विद्वान्' सदसद्विवेकज्ञस्तत्तावत् 'संस्तवं' परिचयमभिष्वङ्गं 'परिजह्यात्' परित्यजेदिति। नागार्जुनीयास्तु पठन्ति—

"पलिमंथ महं वियाणिया, जाऽविय वंदणपूयणा इह।
सुहुमं सल्लं दुरुद्धरं, तंपि जिणे एएण पंडिए" ॥१॥

अस्य चायमर्थः—साधोः स्वाध्यायध्यानपरस्यैकान्तनिःस्पृहस्य योऽपि चायं परैः वन्दनापूजनादिकः सत्कारः क्रियते असावपि सदनुष्ठानस्य सद्गते र्वा महान् पलिमन्थो-विघ्नः, आस्तां तावच्छब्दादिष्वभिष्वङ्गः, तमित्येवं परिज्ञाय तथा सूक्ष्मशल्यं दुरुद्धरं च अतस्तमपि 'जयेद्' अपनयेत् पण्डितः 'एतेन' वक्ष्यमाणेनेति ॥ ११ ॥

स्वरूप और विपाकको जानकर मुनि इसे त्याग देवे। तथा प्रव्रज्या धारण किए हुए मुनिकी जो राजा महाराजा आदि, शरीरसे वन्दना और वस्त्रपात्र आदिके द्वारा पूजा करते हैं उसको इसलोकमें अथवा जैनेन्द्र शासनमें स्थित मुनि, कर्मके उपशमका फल जानकर गर्व न करे। क्यों गर्व न करे? क्योंकि यह गर्व, प्राणियोंके हृदयका सूक्ष्म शल्य है और सूक्ष्म होनेके कारण यह दुःखसे उद्धार किया जाता है। अतः सत् और असत् का विवेक रखने वाला मुनि परिचय और गर्व न करे। इस गाथाके स्थानमें नागार्जुनीय "पलिमंथ" इत्यादि गाथा पढ़ते हैं। इसका अर्थ यह है कि—स्वाध्याय और ध्यानमें तत्पर, एकान्त निस्पृह विवेकी पुरुष दूसरे लोगोंसे किए हुए वन्दन पूजन आदि सत्कारको सत् अनुष्ठान और सद्गतिका महान् विघ्न जानकर उसे छोड़ देवे। जब कि वन्दन पूजन आदि भी सत् अनुष्ठान या सद्गतिका विघ्न रूप है तब फिर शब्दादि विषयोंमें आसक्तिकी तो बात ही क्या है अतः बुद्धिमान् पुरुष आगे कहे जानेवाले उपायसे उस दुरुद्धर सूक्ष्म शल्यको निकाल दे ॥११॥

एगे चरे (र) ठाण मासणे, सयणे एगे (ग) समाहिए सिया।
भिक्खू उवहाणवीरिए वइगुत्ते अज्झत्तसंवुडो ॥१२॥

छाया—एकश्चरेत् स्थानमासने शयन एकः समाहितः स्यात्।
भिक्षुरुपधानवीर्य्यः वाग्गुप्तोऽध्यात्मसंवृतः॥

व्याकरण—(वइगुत्ते) (अज्झत्तसंवुडे) (उवहाणवीरिए) ये भिक्षुके विशेषण हैं। (भिक्खू) कर्ता (एगे) भिक्खूका विशेषण। (आसणे) (सयणे) अधिकरण (समाहिए) भिक्षुका विशेषण (चरे, सिया) क्रिया।

अन्वयार्थ—(वइगुत्ते) वचनगुप्त (अज्झत्तसंवुडे) और मनसे गुप्त (उवहाणवीरिए) और तपमें बल प्रकट करनेवाला (भिक्खू) साधु (एगे) अकेला (चरे) विचरे तथा (ठाणं) अकेलाही कायोत्सर्ग करे। एवं (आसणे सयणे) आसन तथा शयन आदि भी अकेलाही करता हुआ (समाहिए सिया) धर्मध्यानसे युक्त रहे।

भावार्थ—वचन और मनसे गुप्त, तपमें पराक्रम प्रकट करनेवाला साधु, स्थान आसन और शयन अकेला करता हुआ धर्मध्यानसे युक्त होकर अकेलाही विचरे।

टीका—एकोऽसहायो द्रव्यत एकल्लविहारी भावतो रागद्वेषरहितश्चरेत् तथा स्थानं कायोत्सर्गादिकम् एक एव कुर्य्यात्, तथा आसनेऽपि व्यवस्थितोऽपि रागद्वेषरहितएव तिष्ठेत् एवं शयनेऽप्येकाक्येव समाहितः धर्मादिध्यानयुक्तः स्यात् भवेत्। एतदुक्तं भवति सर्वास्वप्यवस्थासु चरणस्थानासनशयनरूपासु रागद्वेषविरहात् समाहित एव स्यादिति। तथा भिक्षणशीलो भिक्षुः उपधानं तपस्तत्र वीर्य्यं यस्य स उपधानवीर्य्यः—तपस्यनिगूहितबलवीर्य्य इत्यर्थः। तथा वाग्गुप्तः सुपर्य्यालोचिताभिधायी अध्यात्मं मनस्तेन संवृतो भिक्षु र्भवेदिति॥ १२॥

साधु पुरुष द्रव्यसे अकेला और भावसे रागद्वेषरहित होकर विचरे। वह अकेलाही कायोत्सर्ग आदि भी करे। वह आसन पर बैठा हुआ भी रागद्वेष रहित होकरही रहे। एवं शयनमें भी अकेलाही धर्मध्यानसे युक्त होकर रहे। आशय यह है कि—भिक्षण शील साधु, चलना, बैठना, स्थित होना और शयन करना आदि सभी अवस्थाओंमें रागद्वेष वर्जित होकर धर्मध्यान से युक्त होकर रहे। एवं वह तप करनेमें अपना पराक्रम खूब प्रकट करे वह विचारकर वाक्य बोले और मनसे गुप्त रहे॥१२॥

णो पीहे ण याव पंगुणे, दारं सुन्नघरस्स संजए ।
पुट्ठे ण उदाहरे वयं, ण समुच्छे णो संथरे तणं ॥१३॥

छाया—नो पिदध्यान्न यावत् प्रगुणयेद्द्वारं शून्यगृहस्य भिक्षुः ।
पृष्टो नो दाहरेद्वाचं न समुच्छिद्या न्नो संस्तरेत्तृणम् ॥

व्याकरण—(णो) अव्यय (पीहे पंगुणे) क्रिया (सुन्नघरस्स) सम्बन्धषष्ठ्यन्तपद (दारं) कर्म (संजए) कर्ता । (पुट्ठे) साधुका विशेषण (वयं) कर्म (उदाहरे) क्रिया (समुच्छे, संथरे) क्रिया (तणं) कर्म ।

अन्वयार्थ—(संजए) साधु, (सुन्नघरस्स) शून्यगृहका (दारं) दरवाजा (णो पीहे) बन्द न करे (ण याव पंगुणे) न खोले । (पुट्ठे) किसीसे पूछा हुआ (वयं) वचन (ण उदाहरे) न बोले । (ण समुच्छे) उस मकानका कचरा न निकाले । (तणं) तथा तृणभी (ण संथरे) न बिछावे ।

भावार्थ—साधु, शून्यगृहका द्वार न खोले और न बन्द करे । किसीके पूछनेपर कुछ न बोले तथा उस घरका कचरा न निकाले और तृण भी न विछावे ।

टीका—किञ्च केनचिच्छयनादिनिमित्तेन शून्यगृहमाश्रितो भिक्षुः तस्य गृहस्य द्वारं कपाटादिना न स्थगयेन्नापि तच्चालयेत्, यावत् 'न यावपंगुणे'त्ति, 'नोद्घाटयेत्' तत्रस्थोऽन्यत्र वा केनचिद्धर्मादिकं मार्गं वा पृष्टः सन् सावद्यां वाचं नोदाहरेन्न ब्रूयात् । आभिग्रहिको जिनकल्पिकादिर्निरवद्यामपि न ब्रूयात्, तथा न समुच्छिन्द्यात् तृणानि कचवरं च प्रमार्जनेन नापनयेत्, नाऽपि शयनार्थी कश्चिदाभिग्रहिकः तृणादिकं संस्तरेत् तृणैरपि संस्तारकं न कुर्य्यात् किं पुनः कम्बलादिना ? अन्यो वा शुपिरतृणं न संस्तरेदिति ॥ १३ ॥

साधु, शयन आदि किसी कारणवश यदि शून्य गृहका आश्रय लेवे तो उस गृहके द्वारको कपाट लगाकर बंद नकरे तथा उसके कपाटको न हिलावे । एवं उसका कपाट यदि वन्द हो तो उसे न खोले । वहाँ तथा अन्यत्र स्थित हुए साधुसे यदि कोई धर्म आदि अथवा मार्ग पूछे तो वह सावद्य वचन न वोले । अथवा अभिग्रह धारी जिनकल्पी आदि साधु निरवद्य वचन भी न बोले । तथा वह साधु उस मकानके तृण और कचरा आदिको प्रमार्जित करके दूर न करे । एवं कोई आभिग्रहिक साधु अपने शयनके निमित्त तृणकी भी शय्या न विछावे फिर कम्बल आदिकी तो वात ही क्या है ? । तथा दूसरा साधु भी पोला तृणकी शय्या न विछावे ॥१३॥

जत्थऽत्थमिए अणाउले समविसमाइं मुणीऽहियासए ।
चरगा अदुवावि भेरवा अदुवा तत्थ सरीसिवा सिया ॥१४॥

छाया—यत्रास्तमितोऽनाकुलः समविषमाणि मुनिरधिसहेत ।
चरका अथवाऽपि भैरवाः अथवा तत्र सरीसृपाः स्युः ॥

व्याकरण—(जत्थ) अव्यय (अत्थमिए) मुनिका विशेषण । (अणाउले) मुनिका विशेषण । (मुणी) कर्ता (समविसमाइं) कर्म (अहियासए) क्रिया । (चरगा, भेरवा, सरीसिवा) कर्ता (अदुवा) अव्यय (तत्थ) अव्यय (सिया) क्रिया ।

अन्वयार्थ—(मुणी) मुनिराज, (जत्थ) जहाँ (अत्थमिए) सूर्य्य अस्त हों वहीं (अणाउले) क्षोभरहित होकर रह जाय । (समविसमाइं) तथा अनुकूल और प्रतिकूल आसन शयन आदिको (अहियासए) सहन करे । (चरगा) वहाँ यदि मच्छड़ (अदुवावि) अथवा भयानक प्राणी (सरीसिवा) अथवा सर्प आदि हों तो भी वह वहीं रहे ।

भावार्थ—चारित्री पुरुष, जहाँ सूर्य्य अस्त हों वहीं क्षोभरहित होकर निवास करे । वह स्थान, आसन और शयनके अनुकूल हो अथवा प्रतिकूल हो उसको वह सहन करे । उस स्थान पर यदि दंश मशक आदि हों अथवा भयंकर प्राणी हों अथवा साँप आदि हों तो भी वहीं निवास करे ।

टीका—तथा भिक्षुर्यत्रैवास्त मुपैति सविता तत्रैव कायोत्सर्गादिना तिष्ठतीति यत्रास्तमितः, तथाऽनाकुलः समुद्रवन्नक्रादिभिः परीषहोपसर्गै-रक्षुभ्यन् समविषमाणि शयनासनादीन्यनुकूलप्रतिकूलानि, मुनिः यथाव-स्थितसंसारस्वभाववेत्ता सम्यग् अरक्तद्विष्टतयाऽधिसहेत, तत्र च शून्य गृहादौ व्यवस्थितस्य तस्य चरतीति चरकाः दंशमशकादयः अथवाऽपि भैरवाः भयानकाः रक्षःशिवादयः अथवा तत्र सरीसृपाः स्युः भवेयुः तत्कृतांश्च परीषहान् सम्यगधिसहेतेति ॥ १४ ॥

और भी साधु पुरुष, जहाँ सूर्य्य अस्त हों उसी स्थान पर कायोत्सर्ग अदि करके निवास करते हैं इसलिए कहते हैं कि—जहाँ सूर्य्य अस्त हो उसी स्थानपर साधु, जैसे समुद्र, नक्र आदिसे क्षोभ को प्राप्त नहीं होता है उसी तरह परीषह और उप-सर्गोंसे आकुल न होता हुआ निवास करे । वहाँ आसन और शयन आदि प्रतिकूल हो अथवा अनुकूल हो, संसारके यथार्थ स्वरूपको जाननेवाला मुनि राग द्वेष रहित होकर उसका सहन करे । उस शून्यगृह आदि स्थानोंमें निवास किए हुए मुनिको यदि दंशक मशक आदि अथवा भयंकर राक्षस और शृगाल आदि तथा सर्प आदि प्राणियोंके द्वारा परीषह उत्पन्न हो तो उसे वह अच्छी तरह सहन करे ॥१४॥

तिरिया मणुया य दिव्वगा, उवसग्गा तिविहाऽहियासिया ।
लोमादीयं ण हारिसे, सुन्नागारगओ महामुणी ॥१५॥

छाया—तैरश्चान् मानुषाँश्च दिव्यगान् उपसर्गान् त्रिविधानधिसहेत ।
रोमादिकमपि न हर्षयेत् शून्यागारगतो महामुनिः ॥

व्याकरण—(तिरिया, मणुया, दिव्वगा, तिविहा) ये उपसर्गके विशेषण हैं । (उवसग्गा) कर्म (हियासिया) क्रिया (सुन्नागारगओ) महामुनिका विशेषण (महामुणी) कर्ता (लोमादीयं) कर्म (ण) अव्यय (हारिसे) क्रिया ।

अन्वयार्थ—(सुन्नागारगओ) शून्य गृहमें गया हुआ (महामुणी) महामुनि (तिरिया) तिर्य्यञ्च सम्बन्धी (मणुया) मनुष्यसम्बन्धी (दिव्वगा) तथा देवजनित (तिविहा) त्रिविध (उवसग्गा) उपसर्गोंको (अहियासिया) सहन करे । (लोमादीयं) भयसे अपने रोम आदिको भी (ण हारिसे) हर्षित न करे ।

भावार्थ— शून्य गृहमें गया हुआ महामुनि तिर्य्यञ्च मनुष्य तथा देवता सम्बन्धी उपसर्गोंको सहन करे । भयसे अपने रोमको भी हर्षित न करे ।

टीका—साम्प्रतं त्रिविधोपसर्गाधिसहनमधिकृत्याह—तैरश्चाः सिंह व्याघ्रादिकृताः तथा मानुषा अनुकूलप्रतिकूलाः सत्कारपुरस्कारदण्ड-कशाताडनादिजनिताः तथा दिव्यगा इति व्यन्तरादिना हास्यप्रद्वेषादि-जनिताः एवं त्रिविधानप्युसर्गान् अधिसहेत, नोपसर्गैं विंकारं गच्छेत्, तदेव दर्शयति–लोमादिकमपि न हर्षयेद् भयेन रोमोद्गममपि न कुर्य्यात् यदि वा एव मुपसर्गास्त्रिविधा अपि 'अहियासिय'त्ति अधिसोढाः भवन्ति

साधुको तीन प्रकारका उपसर्ग सहन करना चाहिए इस विषयको लेकर सूत्रकार अब यह कहते हैं—

टीकार्थ—तैरश्च यानी सिंह व्याघ्र आदि तिर्यक् प्राणियोंसे किया हुआ तथा मानुषा यानी मनुष्यसे किया हुआ सत्कार पुरस्कार और डंडा तथा चाबुकसे ताडन आदि अनुकूल तथा प्रतिकूल उपसर्ग एवं व्यन्तर आदि देवताओंसे किया हुआ हास्य और प्रद्वेष आदिसे उत्पन्न उपसर्ग, इन तीन प्रकारके उपसर्गोंको साधु निर्विकार भावसे सहन करे इनके द्वारा विकारको प्राप्त न हो । यही दिखानेके लिए सूत्रकार कहते हैं कि "लोमादिकं" इत्यादि । अर्थात् साधु उक्त उपसर्गोंके भयसे अपना रोम भी कम्पित न करे अथवा इसी प्रकार साधु उक्त त्रिविध उपसर्गोंको सह सकता है यदि उनके होनेपर वह अपना रोम भी कम्पित न करे । यहां आदि शब्दसे उक्त

यदि रोमोद्गमादिकमपि न कुर्य्यात्। आदि ग्रहणात् दृष्टिमुखविकारादि परिग्रहः, शून्यागारगतः शून्यगृहव्यवस्थितस्य चोपलक्षणार्थत्वात् पितृवनादिस्थितो वा महामुनि र्जिनकल्पिकादिरिति ॥ १५ ॥

तिर्य्यञ्च आदिका विकृत देखना और विकृत मुख आदिका ग्रहण है। तथा शून्य गृहमें स्थित रहना यहाँ उपलक्षणमात्र है इसलिए श्मशान आदि भयंकर स्थानोंमें रहे हुए जिनकल्पी आदि मुनिके विषयमें भी यही बात जाननी चाहिए। यहां जिनकल्पी आदि महामुनि कहे गए हैं स्थविरकल्पी नहीं ॥१५॥

—— ❀ ——
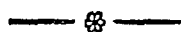
णो अभिकंखेज्ज जीवियं, नोऽविय पूयणपत्थए सिया।
अब्भत्थ मुविंति भेरवा सुन्नागारगयस्स भिक्खुणो ॥१६॥

छाया—नाभिकांक्षेत जीवितं नाऽपि च पूजनप्रार्थकः स्यात्।
अभ्यस्ता उपयंति भैरवाः शून्यागारगतस्य भिक्षोः ॥

व्याकरण—(णो) अव्यय (अभिकंखेज्ज) क्रिया (जीवियं) कर्म (पूयणपत्थए) मुनिका विशेषण (सिया) क्रिया। (भेरवा) कर्ता (अब्भत्थं) कर्म (उविंति) क्रिया (सून्नागारगयस्स) भिक्षुका विशेषण (भिक्खुणो) सम्बन्धषष्ठ्यन्तपद।

अन्वयार्थ—(णो) नहीं (जीवियं) जीवनकी (अभिखेकंज्ज) इच्छा करे (नोविय) और न (पूयणपत्थए सिया) पूजाका प्रार्थी बने। (सुन्नागारगयस्स) शून्य गृहमें गए हुए (भिक्खुणो) साधुको (भेरवा) भैरव यानी भयंकर प्राणी (अब्भत्थं) अभ्यस्त (उविंति) हो जाते हैं।

भावार्थ—उक्त उपसर्गोंसे पीडित होकर साधु जीवनकी इच्छा न करे तथा पूजा, मान बड़ाईकी भी प्रार्थना न करे। इस प्रकार पूजा और जीवनसे निरपेक्ष होकर शून्य गृहमें जो साधु निवास करता है उसको भैरवादिकृत उपसर्ग सहनका अभ्यास हो जाता है।

टीका—किञ्च स तै भैरवै रुपसर्गैरुदीर्णैस्तोतुद्यमानोऽपि जीवितं नाभिकाङ्क्षेत जीवितनिरपेक्षेणोपसर्गः सोढव्य इति भावः न चोपसर्गसहनद्वारेण पूजाप्रार्थकः प्रकर्षाभिलाषी स्यात् भवेत्, एवञ्च जीवितपूजानिर-

और भी साधु उन उपसर्गोंसे बार बार पीडित किया हुआ भी जीवनकी इच्छा न करे अर्थात् साधु जीवनसे निरपेक्ष होकर उपसर्गोंको सहन करे यह तात्पर्य्य है। तथा उपसर्ग सहनके द्वारा वह पूजाकी चाहना अर्थात् अपनी बड़ाईकी इच्छा न करे।

पेक्षेणासकृत् सम्यक् सह्यमाणा भैरवाः भयानकाः शिवापिशाचादयोऽभ्यस्तभावं स्वात्मताम्रुपसामीप्येन यान्ति गच्छन्ति तत्सहनाच्च भिक्षोः शून्यागारगतस्य नीराजितवारणस्येव शीतोष्णादिजनिता उपसर्गाः सुसहा एव भवन्तीति भावः ॥१६॥

इस प्रकार जीवन और पूजासे निरपेक्ष होकर जो साधु वार-वार भयंकर पिशाच तथा शृगाली आदिके उपद्रवको सहता रहता है उसको वे पिशाच आदि आत्मीय जैसे अभ्यासको प्राप्त हो जाते हैं। तथा उनका सहन करनेसे मत्त हस्तीके समान शून्यागारगत साधुको शीतोष्णादिकृत उपद्रव भी सुखसे सह्य हो जाते हैं ॥१६॥
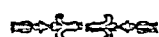
उवणीयतरस्स ताइणो भयमाणस्स विविक्कमासणं ।
सामाइय माहु तस्स जं, जो अप्पण भए ण दंसए ॥१७॥

छाया—उपनीततरस्य तायिनो भजमानस्य विविक्तमासनम् ।
सामायिक माहुः तस्य यद्य आत्मानं भये न दर्शयेत् ॥

व्याकरण—(उवणीयतरस्स) मुनिका विशेषण। (तायिणो) मुनिका विशेषण। (विविक्कं) आसनका विशेषण। (आसणं) कर्म। (भयमाणस्स) मुनिका विशेषण। (तस्स) मुनिका परामर्शक सम्बन्धषष्ठ्यन्तपद। (सामाइयं) कर्म। (आहु) क्रिया। (जो) कर्ता। (अप्पाणं) कर्म। (भए) अधिकरण। (दंसए) क्रिया।

अन्वयार्थ—(उवणीयतरस्स) जिसने अपने आत्माको ज्ञान आदिके समीप पहुँचा दिया है (तायिणो) तथा जो अपना और दूसरेका उपकार करता है (विविक्कं) स्त्री नपुंसक वर्जित (आसणं) स्थानको जो (भयमाणस्स) सेवन करता है (तस्स) ऐसे मुनिका सर्वज्ञोंने (सामाइयं) सामायिक चारित्र (आहु) कहा है (जं) इसलिए चारित्री पुरुषको (अप्पाणं) आत्मामें (भए ण दंसए) भय प्रदर्शित नहीं करना चाहिए।

भावार्थ—जिसने अपने आत्माको ज्ञान आदिमें अतिशयरूपसे स्थापित किया है, जो अपना तथा दूसरेका उपकार करता है, जो स्त्री नपुंसक रहित स्थानमें निवास करता है ऐसे मुनिका तीर्थंकरोंने सामायिक चारित्र कहा है इसलिए मुनिको भयभीत न होना चाहिए।

टीका—पुनरप्युपदेशान्तरमाह—

उप सामीप्येन नीतः प्रापितो ज्ञानादावात्मा येन स तथा अतिशयेनोपनीत

फिर भी सूत्रकार दूसरा उपदेश देते हैं—

जिसने अपने आत्माको ज्ञान आदिके पास पहुँचा दिया है उसे 'उपनीत' कहते हैं। तथा जो अत्यन्त उपनीत है उसे 'उपनीततर' कहते हैं। जो उपनीततर है और जो

उपनीततरस्तस्य, 'तायिनः' परात्मोपकारिणः त्रायिणो वा सम्यक्पालकस्य, तथा 'भजमानस्य' सेवमानस्य 'विविक्तं' स्त्रीपशुपण्डकविवर्जितम् आस्यते स्थीयते यस्मिन्निति तदासनं वसत्यादि, तस्यैवम्भूतस्य मुनेः 'सामायिकं' समभावरूपं सामायिकादि चारित्रमाहुः सर्वज्ञाः, 'यद्' यस्मात् ततश्चारित्रिणा प्राग्व्यवस्थितस्वभावेन भाव्यम्, यश्चात्मानं 'भये' परिषहोपसर्गजनिते 'न दर्शयेत्' तद्भीरु र्न भवेत् तस्य सामायिकमाहुरिति सम्बन्धनीयम् ॥१७॥

तायी यानी अपना और दूसरेका उपकार करता है अथवा जो अपना और दूसरेका सम्यक् प्रकारसे पालन करता है, जो स्त्री पशु और नपुंसकवर्जित स्थानमें निवास करता है। यहाँ, जिसपर स्थित होते हैं उसे आसन कहा है वह वसति आदि है। ऐसे उस मुनिका सर्वज्ञोंने समभाव रूप सामयिक चारित्र कहा है। इसलिए चारित्री पुरुषको पूर्वोक्त रूपसे व्यवस्थितस्वभाव होकर ही रहना चाहिए। तथा जो साधु परीषह और उपसर्गजनित भयसे भय नहीं पाता है उसका भी सर्वज्ञोंने सामयिक चारित्र कहा है यह सम्बन्ध कर लेना चाहिए ॥१७॥

—❀—
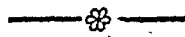
उसिणोदगतत्तभोइणो, धम्मट्ठियस्स मुणिस्स हीमतो।
संसग्गि असाहु राइहिं, असमाही उ तहागयस्सवि ॥१८॥

छाया—उष्णोदकतप्तभोजिनो धर्मस्थितस्य मुने र्ह्रीमतः।
संसर्गोऽसाधू राजभि रसमाधिस्तु तथागतस्याऽपि ॥

व्याकरण—(उसिणोदगतत्तभोइणो) मुनिका विशेषण (धम्मट्ठियस्स) मुनिका विशेषण (हीमतो) मुनिका विशेषण (मुणिस्स) सम्बन्धषष्ठ्यन्तपद (राइहिं) सहार्थक तृतीयान्त (संसग्गि) कर्त्ता (असाहु) संसर्गका विधेय विशेषण (तहागयस्स) सम्बन्धषष्ठ्यन्त पद (अवि) अव्यय (असमाही) कर्त्ता (उ) अव्यय।

अन्वयार्थ—(उसिणोदगतत्तभोइणो) विना ठंढा किए गरम जल पीनेवाले (धम्मट्ठियस्स) श्रुत और चारित्र धर्ममें स्थित (हीमतो) असंयमसे लज्जित होनेवाले (मुणिस्स) मुनिको (राइहिं) राजा आदिसे (संसग्गि) संसर्ग करना (असाहु) बुरा है (तहागयस्सवि) वह शास्त्रोक्त आचार पालनेवालेका भी (असमाही) समाधि भंग करता है।

भावार्थ—गरम जलको विना ठंढा किए पीनेवाले, श्रुत और चारित्र धर्ममें स्थित, असंयमसे लज्जित होनेवाले मुनिका राजा महाराजा आदिके साथ संसर्ग बुरा है क्योंकि वह शास्त्रोक्त आचार पालनेवाले मुनिका भी समाधि भंग करता है।

टीका–किञ्च मुनेः 'उष्णोदकतप्तभोजिनः' त्रिदण्डोद्वृत्तोष्णोदकभोजिनः, यदि वा—उष्णं सन्न शीतीकुर्यादिति तप्तग्रहणं, तथा श्रुतचारित्राख्ये धर्मे स्थितस्य 'हीमतो'त्ति हीः–असंयमं प्रति लज्जा तद्वतोऽसंयमजुगुप्सावत इत्यर्थः, तस्यैवम्भूतस्य मुनेराजादिभिः सार्द्धं यः 'संसर्गः' सम्बन्धोऽसावसाधुः अनर्थोदयहेतुत्वात् 'तथागतस्यापि' यथोक्तानुष्ठायिनोऽपि राजादिसंसर्गवशाद् 'असमाधिरेव' अपध्यानमेव स्यात्, न कदाचित् स्वाध्यायादिकम्भवेदिति ॥१८॥

जो मुनि, तीनबार जिसमें उकाला आगया है ऐसे गर्म जलको पीता है, अथवा गर्म जलको ठंढा किए विना जो पीता है, यह बतानेके लिए यहाँ 'तप्त' पद आया है। तथा श्रुत और चारित्र धर्ममें जो स्थित है और असंयमसे जिसको लज्जा आती है अर्थात् जो असंयमसे घृणा रखता है ऐसे मुनिका राजा आदिके साथ संसर्ग बुरा होता है क्योंकि वह अनर्थकी उत्पत्तिका कारण है। जो साधु शास्त्रोक्त आचारका पालन करता है उसका भी राजा आदिके संसर्गसे असमाधि यानी अपध्यान ही सम्भव है कभी भी स्वाध्याय आदि सम्भव नहीं है। अतः राजादिसंसर्ग त्याज्य है ॥१८॥

—※—
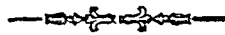
अहिगरणकडस्स भिक्खुणो, वयमाणस्स पसज्झ दारुणं।
अट्ठे परिहायती वहु अहिगरणं न करेज्ज पंडिए ॥१९॥

छाया—अधिकरणकरस्य भिक्षोः वदतः प्रसह्य दारुणाम्।
अर्थः परिहीयते वहु अधिकरणं न कुर्य्यात्पण्डितः ॥

व्याकरण—(अहिकरणकडस्स) भिक्षुका विशेषण (दारुणं) कर्म (वयमाणस्स) भिक्षुका विशेषण (भिक्खुणो) सम्बन्धषष्ठ्यन्तपद (अट्ठे) कर्त्ता (वहु) क्रियाविशेषण (परिहायती) क्रिया (पंडिए) कर्त्ता (अहिगरणं) कर्म (करेज्ज) क्रिया।

अन्वयार्थ—(भिक्खुणो) जो साधु (अहिगरणकडस्स) कलह करता है (पसज्झ) और प्रकट रूपसे (दारुणं) भयानक वाक्य (वयमाणस्स) बोलता है (अट्ठे) उसका मोक्ष अथवा संयम (वहु) अत्यन्त (परिहायती) नष्ट हो जाता है (पंडिए) इसलिए पण्डित साधु (अहिगरणं) कलह (न करेज्ज) न करे।

भावार्थ—जो साधु कलह करनेवाला है और प्रकट ही भयानक वाक्य बोलता है उसका मोक्ष अथवा संयम नष्ट हो जाता है इसलिए विवेकी पुरुष कलह न करे।

टीका—परिहार्यदोषप्रदर्शनेन अधुनोपदेशाभिधित्सयाऽऽह—

अधिकरणं कलहस्तत्करोति तच्छीलश्चेत्यधिकरणकरः तस्यैवम्भूतस्य भिक्षो स्तथाधिकरणकरीं दारुणां वा भयानकां वा 'प्रसह्य' प्रकटमेव वाचं ब्रुवतः स्ततः 'अर्थो' मोक्षः तत्कारणभूतो वा संयमः स बहु 'परिहीयते' ध्वंसमुपयाति, इदमुक्तं भवति बहुना कालेन यदर्जितम् विप्रकृष्टेन तपसा महत्पुण्यं तत्कलहं कुर्वतः परोपघातिनीं च वाचं ब्रुवतः तत्क्षणमेव ध्वंसमुपयाति, तथाहि-'जं अज्जियं समीखल्लएहिं तवनियमबंभमइएहिं। मा हु तयं कलहंता छड्डे अह सागपत्तेहिं ॥१॥' इत्येवं मत्वा मनागप्यधिकरणं न कुर्यात् 'पण्डितः' सदसद्विवेकीति ॥१९॥

त्याग करने योग्य दोषोंको दिखाकर अब सूत्रकार उपदेश देनेके लिए कहते हैं-

अधिकरण नाम कलहका है। उसे करनेका जिसका स्वभाव है उसे "अधिकरणकर" कहते हैं। जो साधु कलह करनेवाला है और जिससे कलह उत्पन्न हो ऐसी दारुण अथवा भयंकर वाणी प्रकट ही बोलता है उसका मोक्ष अथवा मोक्षका कारण संयम बहुत नष्ट हो जाता है। आशय यह है कि जो कलह करता है और दूसरेके चित्तको दुःखानेवाली वाणी बोलता है उसका बहुत कालके द्वारा कठिन तपस्यासे उपार्जित पुण्य तत्क्षण नाशको प्राप्त होता है क्योंकि तप नियम और ब्रह्मचर्य्यवासके द्वारा जो पुण्य उपार्जन किया है उसे कलह करके नाश मत करो ऐसा पण्डितजन उपदेश करते हैं। अतः सत् और असत्का विवेक रखनेवाला पण्डित पुरुष, स्वल्प भी कलह न करे ॥ १९ ॥

सीओदगपडिदुगुंछिणो, अपडिण्णस्स लवावसप्पिणो।
सामाइयमाहु तस्स जं, जो गिहिमत्तेऽसणं न भुंजती ॥२०॥

छाया—शीतोदकप्रतिजुगुप्सकस्य, अप्रतिज्ञस्य लवावसर्पिणः।
सामायिकमाहु स्तस्य यत् यो गृहमत्रेऽशनं न भुंक्ते ॥

व्याकरण—(सीओदगपडिदुगुंछिणो) साधुका विशेषण (अपडिण्णस्स) साधुका विशेषण (लवावसप्पिणो) साधुका विशेषण (तस्स) साधुका परामर्शक सर्वनाम षष्ठ्यन्त पद (सामाइयं) कर्म (आहु) क्रिया (जो) कर्त्ता (गिहिमत्ते) अधिकरण (न) अव्यय (भुंजती) क्रिया।

अन्वयार्थ—(सीओदगपडिदुगुंछिणो) जो साधु कच्चा पानीसे घृणा करता है (अपडिण्णस्स) तथा किसी प्रकारकी प्रतिज्ञा यानी कामना नहीं करता है। (लवावसप्पिणो) एवं जो कर्मबन्धको उत्पन्न करनेवाले कर्मोंके अनुष्ठानसे दूर रहताहै (तस्स) उस साधुका सर्वज्ञोंने (सामाइयं) समभाव, (आह) कहा है तथा (जो) जो साधु (गिहिमत्ते) गृहस्थके पात्रमें (असणं) आहार (ण भुंजती) नहीं खाता है उसका समभाव है।

भावार्थ—जो साधु कच्चा पानीसे घृणा करता है और किसी प्रकारकी कामना नहीं करता है तथा कर्मबन्धन देनेवाले कार्य्योंका त्याग करता है सर्वज्ञ पुरुषोंने उस साधुका समभाव कहा है तथा जो साधु गृहस्थोंके पात्रमें आहार नहीं खाता है उसका भी सर्वज्ञोंने समभाव कहा है।

टीका—तथा शीतोदकम् अप्रासुकोदकं तत्प्रतिजुगुप्सकस्याप्रासुकोदकपरिहारिणः साधोः न विद्यते प्रतिज्ञा निदानरूपा यस्य सोऽप्रतिज्ञो ऽनिदान इत्यर्थः, लवं कर्म तस्मात् अवसप्पिणोत्ति अवसर्प्पिणः यदनुष्ठानं कर्मबन्धोपादानभूतं तत्परिहारिण इत्यर्थः, तस्यैवम्भूतस्य साधोर्यस्मात् यत् 'सामायिकं' समभावलक्षणमाहुः सर्वज्ञाः, यश्च साधुः 'गृहमात्रे' गृहस्थभाजने कांस्यपात्रादौ न भुङ्क्ते तस्य च सामायिकमाहुरिति संबन्धनीयमिति ॥२०॥

जो साधु अप्रासुक जलसे घृणा करता है अर्थात् अप्रासुक जलको नहीं पीता है और प्रतिज्ञा यानी निदान नहीं करता है तथा लव नाम कर्मका है उससे जो अलग रहता है अर्थात् जो अनुष्ठान कर्मबन्धनका कारण है उसका जो त्याग करता है ऐसे साधुका सर्वज्ञोंने समभावरूप सामायक कहा है तथा जो साधु, गृहस्थके पात्र यानी कांस्य पात्र आदि में भोजन नहीं करता है उसका भी सर्वज्ञोंने समभावरूप सामायक कहा है यह सम्बन्ध कर लेना चाहिए ॥ २० ॥

ण य संखय माहु जीवियं तहवि य बालजणो पगब्भइ।
बाले पापेहिं मिज्जती इति संखाय मुणी ण मज्जती ॥२१॥

छाया—न च संस्कार्य्य माहु जीवितं तथाऽपि च बालजनः प्रगल्भते।
बालः पापै मीयते इति संख्याय मुनि र्न माद्यति ॥

व्याकरण—(जीवियं) कर्म (संखयं) जीवनका विधेयविशेषण (ण, य,) अव्यय (आहु) क्रिया (तहवि य) अव्यय (बालजणो) कर्त्ता (पगब्भइ) क्रिया (बाले) उक्त

कर्म (पापेहिं) कर्तृतृतीयान्त (मिज्जती) क्रिया (इति) अव्यय (संखाय) पूर्वकालिक क्रिया (मुणी) कर्ता (मज्जती) क्रिया ।

अन्वयार्थ—(जीवियं) प्राणियोंका जीवन, (ण य संखयमाहु) संस्कार करने (जोडने) योग्य नहीं कहा है । (तहवि य) तथापि (बालजणो) मूर्खजन (पगब्भइ) पाप करनेमें धृष्टता करते हैं । (बाले) ये अज्ञजीव (पापेहिं) पापी कहकर (मिज्जती) बताये जाते हैं । (इति) यह (संखाय) जानकर (मुणी) मुनि (ण मज्जती) मद नहीं करते हैं ।

भावार्थ—टूटा हुआ मनुष्योंका जीवन फिर जोड़ा नहीं जासकता है यह सर्वज्ञोंने कहा है तथापि मूर्ख जीव, पाप करनेमें धृष्टता करता है । वह अज्ञ पुरुष, पापी समझा जाता है यह जानकर मुनि, मद नहीं करते हैं ।

टीका—किञ्च—न च, नैव जीवितम् आयुष्कं कालपर्यायेण त्रुटितं सत् पुनः 'संखय' मिति संस्कर्त्तुं तन्तुवत्सन्धातुं शक्यते इत्येवमाहुस्तद्विदः, तथाऽपि एवमपि व्यवस्थिते 'बालः' अज्ञो जनः 'प्रगल्भते' पापं कुर्वन् धृष्टो भवति, असदनुष्ठानरतोऽपि न लज्जत इति, स चैवम्भूतो बालस्तैरसदनुष्ठानापादितैः 'पापैः' कर्मभिः 'मीयते' तद्युक्त इत्येवं परिच्छिद्यते, भ्रियते वा मेयेन धान्यादिना प्रस्थकवदिति, एवं 'संख्याय' ज्ञात्वा 'मुनिः' च यथावस्थितपदार्थानां वेत्ता 'न माद्यतीति' तेष्वसदनुष्ठानेष्वहं शोभनः कर्त्तेत्येवं प्रगल्भमानो मदं न करोति ॥२१॥

जीवनके रहस्यको जाननेवाले विद्वान् पुरुषोंने कहा है कि "कालके पर्य्यायसे टूटा हुआ प्राणियोंका जीवन, टूटे हुए डोरेकी तरह फिर जोड़ा नहीं जा सकता है" तथापि (ऐसी दशामें भी) अज्ञ जन धृष्टताके साथ पाप करता है। वह असत् अनुष्ठान करता हुआ भी लज्जित नहीं होता है। वह अज्ञ जीव उन असत् अनुष्ठानोंसे उत्पन्न पापोंके द्वारा "यह पापी है" ऐसा समझा जाता है। अथवा जैसे धान्य आदिके द्वारा 'प्रस्थक' कोठा भर दिया जाता है उसी तरह वह पापोंसे भर दिया जाता है। यह जानकर पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपको जाननेवाला मुनि, यह मद नहीं करते हैं कि "इन असत् अनुष्ठान करनेवालोंमें मैं ही शोभन अनुष्ठान करनेवाला हूँ"। मैं धर्मात्मा हूँ और अमुक मनुष्य पापी है ऐसा अभिमान करना भी पाप है अतः मुनिको अभिमान नहीं करना चाहिये ॥२१॥

छंदेण पले इमा पया, वहुमाया मोहेण पाउडा ।
वियडेण पलिंति माहणे, सीउण्हं वयसाऽहियासए ॥२२॥

छाया—छन्दसा प्रलीयन्ते इमाः प्रजाः वहुमायाः मोहेन प्रावृताः ।
विकटेन प्रलीयते माहनः शीतोष्णं वचसाऽधिसहेत ॥

व्याकरण—(छंदेण) हेतुतृतीयान्त (पले) क्रिया (इमा) प्रजाका विशेषण (पया) कर्त्ता (बहुमाया) प्रजाका विशेषण (मोहेण) कर्तृतृतीयान्त (पाउडा) प्रजाका विशेषण (वियडेण) हेतुतृतीयान्त (पलिंति) क्रिया (माहणे) कर्त्ता (सीउण्हं) कर्म (वयसा) करण (अहियासए) क्रिया ।

अन्वयार्थ—(बहुमाया) बहुत माया करनेवाली (मोहेन) मोहसे (पाउडा) आच्छादित (इमा) ये (पया) प्रजाएँ (छन्देण) अपनी इच्छा से (पले) नरक आदि गतिमें जाती हैं । (माहणे) परन्तु साधु पुरुष (वियडेण) कपट रहित कर्मके द्वारा (पलिंति) मोक्षमें या संयममें लीन होता है । तथा (वयसा) मन वचन और कायसे (सीउण्हं) शीत और उष्णको (अहियासए) सहन करते हैं ।

भावार्थ—वहुत माया करनेवालीं और मोहसे आच्छादित प्रजाएँ अपनी इच्छासे ही नरक आदि गतियोंमें जाती हैं । परन्तु साधु पुरुष, कपट रहित कर्मके द्वारा मोक्ष अथवा संयम में लीन होते हैं और मनवचन तथा कायसे शीत उष्णको सहन करते हैं ।

टीका—उपदेशान्तरमाह—'छन्दः' अभिप्रायस्तेन तेन स्वकीयाभिप्रायेण कुगतिगमनैकहेतुना 'इमाः प्रजाः' अयं लोकस्तासु गतिषु प्रलीयते, तथाहि—छागादिवधमपि स्वाभिप्रायग्रहग्रस्ताः धर्मसाधनमित्येवं प्रगल्भमाना विदधति, अन्ये तु संघादिकमुदिश्य दासीदासधनधान्यादिपरिग्रहं कुर्वन्ति, तथाऽन्ये मायाप्रधानैः कुक्कुटैरसकृदुत्प्रोक्षणश्रोत्रस्पर्शनादिभि मुग्धजनं प्रतारयन्ति, तथाहि—"कुक्कुटसाध्यो लोको नाकुक्कुटतः प्रवर्त्तते

अब दूसरा उपदेश शास्त्रकार देते हैं—

प्रजाजन, अपने अपने अभिप्रायके अनुसार ही भिन्न-भिन्न गतियोंमें जाते हैं । उनकी दुर्गतिका कारण एकमात्र उनका अभिप्राय ही है । कोई लोग वकरे आदि प्राणियोंका वध करना धर्मका साधन मानते हैं और इस कार्य्यको वे धृष्टताके साथ करते हैं । तथा दूसरे लोग अपने संघकी रक्षाके लिए दासीदास और धन धान्य आदि परिग्रहोंका संग्रह करते हैं । एवं कोई, बार-बार शरीरपर जल छिटकना और कानोंको स्पर्श करना आदि माया प्रधान व्यापारोंके द्वारा भोले जीवोंको ठगते हैं ।

किञ्चित् । तस्माल्लोकस्यार्थे पितरमपि स कुक्कुटं कुर्यात् ॥१॥" तथेयं प्रजा 'बहुमाया' कपटप्रधाना, किमिति ?—यतो मोहः अज्ञानं तेन 'प्रावृता' आच्छादिता सदसद्विवेकविकलेत्यर्थः, तदेतदवगम्य 'माहणे'त्ति साधुः 'विकटेन' प्रकटेनामायेन कर्मणा मोक्षे संयमे वा प्रकर्षेण लीयते प्रतीयते, शोभनभावयुक्तो भवतीति भावः, तथा शीतं च उष्णं च शीतोष्णं शीतोष्णा वा अनुकूलप्रतिकूलपरीषहास्तान् वाचा कायेन मनसा च करणत्रयेणाऽपि सम्यगधिसहेत इति ॥२२॥

जैसे कि वे कहते हैं—"कुक्कुट साध्यो लोको" इत्यादि । अर्थात् यह लोक कपटसे ही सिद्ध होता है । बिना कपटके कुछ भी काम नहीं होता है इसलिए लोक व्यवहारके लिए पितासे भी कपट करना चाहिए । तथा यह प्रजा, कपटप्रधान है क्योंकि यह मोह यानी अज्ञानसे आच्छादित है अतः यह सत् और असत्के विवेकसे वर्जित है अतः साधु पुरुष इस बातको जान कर माया रहित कर्मके द्वारा मोक्ष या संयममें लीन होते हैं । वे शुभ भावसे युक्त रहते हैं यह आशय है । साधु शीत और उष्ण अथवा अनुकूल और प्रतिकूल परीषहों को मन वचन और काय तीनों करणोंसे सहन करते हैं ॥२२॥

कुजए अपराजिए जहा, अक्खेहिं कुसलेहिं दीवयं ।
कडमेव गहाय णो कलिं नो तीयं नो चेव दावरं ॥२३॥

छाया—कुजयोऽपराजितो यथाऽक्षैः कुशलो दीव्यन् ।
कृतमेव गृहीत्वा नो कलिं नो त्रेतं नो चैव द्वापरम् ॥

व्याकरण—(अपराजिए) कुजयका विशेषण । (जहा) अव्यय (कुजए) कर्ता । (अक्खेहिं) करण (दीवयं) कर्ताका विशेषण (कडं) कर्म (एव) अव्यय (गहाय) पूर्वकालिक क्रिया (कलिं) कर्म (तीयं, दावरं) कर्म ।

अन्वयार्थ—(अपराजिए) पराजित न होनेवाला (कुसलेहिं) चतुर (कुजए) जुआड़ी (जहा) जैसे (अक्खेहिं दीवयं) जुआ खेलता हुआ (कडमेव गहाय) कृत नामक स्थान को ही ग्रहण करता है (णो कलिं) कलिको नहीं ग्रहण करता है तथा (णो तीयं नो चेव दावरं) तृतीय और द्वितीय स्थानको भी ग्रहण नहीं करता है ।

भावार्थ—जुआ खेलनेमें निपुण और किसीसे पराजित न होनेवाला जुआड़ी जैसे जुआ खेलता हुआ सर्वश्रेष्ठ कृतनामक स्थानको ही ग्रहण करता है, कलि, द्वापर, और त्रेता नामक स्थानोंको ग्रहण नहीं करता है उसी तरह पण्डित पुरुष, सर्वश्रेष्ठ सर्वज्ञोक्त कल्याणकारी धर्मको ही स्वीकार करे जैसे—शेष स्थानोंको छोड़कर चतुर जुआड़ी कृत नामक स्थानको ही ग्रहण करता है।

टीका—अपि च कुत्सितो जयोऽस्येति कुजयो द्यूतकारः, महतोऽपि द्यूतजयस्य सद्भिः निन्दितत्वादनर्थहेतुत्वाच्च कुत्सितत्वमिति, तदेव विशिनष्टि—अपराजितो दीव्यन् कुशलत्वादन्येन न जीयते, अक्षैः वा पाशकैः दीव्यन् क्रीडंस्तत्पातज्ञः कुशलो निपुणः यथाऽसौ द्यूतकारोऽक्षैः पाशकैः कपर्दकैर्वा रममाणः 'कडमेवे'त्ति चतुष्कमेव गृहीत्वा तल्लब्धजयत्वाच्चैनैव दीव्यति, ततोऽसौ तल्लब्धजयः सन्न कलिं एककं नाऽपि त्रैतं त्रिकं च नाऽपि द्वापरं द्विकं गृह्णातीति ॥२३॥

जिसका विजय निन्दित है उसे 'कुजय' कहते हैं। कुजय नाम जुआड़ीका है क्योंकि जुआड़ीका महान् विजय होनेपर भी सज्जन जन निन्दा ही करते हैं और वह है भी अनर्थका कारण, इसलिए वह निन्दित है। अब जुआड़ीका विशेषण बताते हुए सूत्रकार कहते हैं कि "अपराजितः" अर्थात् जुआ खेलनेमें निपुण होनेके कारण जो दूसरे जुआड़ीसे जीता नहीं जाता है वह 'अपराजित' कहा जाता है। जुआ खेलनेमें निपुण जुआड़ी जैसे जुआ, पाशा या कौड़ी खेलता हुआ कृतनामक चौथे स्थानको ही ग्रहण करके खेलता है क्योंकि उसीके द्वारा विजय प्राप्त होती है इसलिए इसप्रकार खेलता हुआ वह जुआड़ी कृतनामक स्थानके प्रभावसे विजय प्राप्त कर लेता है परन्तु वह पहले दूसरे या तीसरे स्थानोंको ग्रहण नहीं करता है ॥२३॥
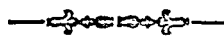
एवं लोगंमि ताइणा बुइए जे धम्मे अणुत्तरे।
तं गिण्ह हियंति उत्तमं कडमिव सेसऽवहाय पंडिए ॥२४॥

छाया—एवं लोके त्रायिणोक्तो यो धर्मोऽनुत्तरः।
तं गृहाण हितमित्युत्तमं कृतमिव शेष मपहाय पण्डितः ॥

व्याकरण—(एवं) अव्यय (लोगंमि) अधिकरण (ताइणा) कर्तृतृतीयान्त। (बुइए) क्तान्त कर्मवाच्य (जे) धर्मका विशेषण (अणुत्तरे) धर्मका विशेषण (धम्मे) क्तप्रत्ययसे अनिहित कर्म) (तं) कर्म (गिण्ह) क्रिया मध्यम पुरुष। (हियं, उत्तमं) कर्मका विशेषण (कडं) कर्म (इव) अव्यय (सेस) कर्म (अवहाय) पूर्वकालिक क्रिया (पंडिए) कर्ता।

अन्वयार्थ—(एवं) इसी तरह (लोगंमि) इसलोकमें (ताइणा) जगतकी रक्षा करनेवाले सर्वज्ञसे (वुइए) कहा हुआ (जे) जो (अणुत्तरे) सर्वोत्तम (धम्मे) धर्म है (गिण्ह) उसे ग्रहण करना चाहिए (हियंति उत्तमं) वही हित तथा उत्तम है (सेसऽवहाय) चतुर जुआड़ी सब स्थानोंको छोड़कर (कडंमिव) जैसे कृत नामक स्थानको हीं ग्रहण करता है ।

भावार्थ—इसप्रकार इस लोकमें जगतकी रक्षा करनेवाले सर्वज्ञने जो सर्वोत्तम धर्म कहा है उसे कल्याण कारक और उत्तम समझकर ग्रहण करो जैसे चतुर जुआड़ी शेष स्थानोंको छोड़कर चौथे स्थानको ग्रहण करता है ।

टीका—दार्ष्टान्तिकमाह—

यथा द्यूतकारः प्राप्तजयत्वात् सर्वोत्तमं दीव्यं श्चतुष्कमेव गृह्णाति एवमस्मिन् लोके मनुष्यलोके तायिना त्रायिणा वा सर्वज्ञेनोक्तो योऽयंधर्मः क्षान्त्यादिलक्षणः श्रुतचारित्राख्यो वा नास्योत्तरः अधिकोऽस्तीत्यनुत्तरः तमेकान्तहितमिति कृत्वा सर्वोत्तमञ्च गृहाण विस्रोतसिकारहितः स्वीकुरु, पुनरपि निगमनार्थं तमेव दृष्टान्तं दर्शयति—यथा कश्चिद् द्यूतकारः कृतं कृतयुगं चतुष्कमित्यर्थः शेषमेककादि अपहाय त्यक्त्वा दीव्यन् गृह्णाति एवं पण्डितोऽपि साधुरपि शेषं गृहस्थकुप्रावचनिकपार्श्वस्थादिभावमपहाय सम्पूर्णं महान्तं सर्वोत्तमं धर्मं गृह्णीयादिति भावः ॥२४॥

अब दार्ष्टान्त बताते हैं—जैसे चतुर जुआड़ी विजय प्राप्तिका साधन होनेके कारण सर्वोत्तम स्थान चौकको ही ग्रहण करके खेलता है इसी तरह इस मनुष्य लोकमें, सर्व प्राणिरक्षक सर्वज्ञ द्वारा कथित क्षान्ति आदि अथवा श्रुत चारित्र रूप सर्वोत्तम धर्मको ही एकान्त हित समझकर स्वीकार करो । निगमनके लिए फिर उसी दृष्टान्तको दिखाते हैं—जैसे चतुर जुआड़ी जुआ खेलता हुआ एक आदि स्थानोंको छोड़कर कृतयुग नामक चतुर्थ स्थानको ही ग्रहण करता है इसी तरह साधु भी, गृहस्थ, कुप्रावचनिक और पार्श्वस्थ आदिके धर्मको छोड़कर सर्वोत्तम, सर्वमहान् सर्वज्ञकथित धर्मको स्वीकार करे ॥२४॥
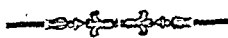
उत्तर मणुयाण आहिया, गामधम्मा(म्म) इह मे अणुस्सुयं ।
जंसी विरता समुट्ठिया कासवस्स अणुधम्मचारिणो ॥२५॥

छाया—उत्तराः मनुजानामाख्याताः ग्रामधर्मा इह मयानुश्रुतम् ।
येभ्यो विरताः समुत्थिताः काश्यपस्यानुधर्मचारिणः ॥

व्याकरण—(मणुयाणं) सम्बन्धषष्ठ्यन्त पद (उत्तरा) ग्रामधर्मका विशेषण (गामधम्मा) अभिहित कर्म (आहिया) क्तान्त कर्मवाच्य (इह) अव्यय (मे) कर्ता (अणुस्सुयं) क्रिया (जंसी) लुप्तल्यबन्तक्रियाका कर्म, पञ्चम्यन्त अथवा सप्तम्यन्त। (विरया, समुट्ठिया कासवस्स अणुधम्मचारिणो) ये सब अध्याहृत संयमी पुरुषके विशेषण हैं।

अन्वयार्थ—(मे) मैने (अणुस्सुयं) यह सुना है कि (गामधम्मा) शब्द आदि विषय अथवा मैथुनसेवन (मणुयाणं) मनुष्योंके लिए (उत्तरा) दुर्जय (अहिया) गहे गये हैं। (जंसी विरता) उनसे निवृत्त (समुट्ठिया) तथा संयममें उत्थित पुरुष ही (कासवस्स) काश्यपगोत्री भगवान् ऋषभदेवजी अथवा महावीर स्वामीके (अणुधम्म चारिणो) धर्मानुयायी हैं।

भावार्थ—श्री सुधर्मा स्वामी श्रीजम्बूस्वामी आदि शिष्य वर्गके प्रति कहते हैं कि "शब्द आदि विषय अथवा मैथुन सेवन मनुष्योंके लिए दुर्जेय कहा है" यह मैंने सुना है। उन शब्दादि विषयों और मैथुन सेवनको छोड़कर जो संयमके अनुष्ठानमें प्रवृत्त हैं वे ही भगवान् महावीर स्वामी अथवा ऋषभदेव स्वामीके धर्मके अनुयायी हैं।

टीका—पुनरप्युपदेशान्तरमाह—

उत्तराः प्रधानाः दुर्जयत्वात्, केषाम् ? उपदेशार्हत्वान्मनुष्याणामन्यथा सर्वेषामेवेति, के ते ? ग्रामधर्माः शब्दादिविषयाः मैथुनरूपा वेति, एवं ग्रामधर्मा उत्तरत्वेन सर्वज्ञैराख्याताः मयैतदनु पश्चाच्छ्रुतमेतच्च सर्वमेव प्रागुक्तं यच्च वक्ष्यमाणं तन्नाभेयेनाऽऽदितीर्थकृता पुत्रानुद्दिश्याभिहितं सत् पाश्चात्यगणधराः सुधर्मस्वामिप्रभृतयः स्वशिष्येभ्यः प्रतिपादयन्ति, अतो मयैतदनुश्रुतमित्यनवद्यम्। यस्मिन्निति कर्मणि ल्यब्लोपे पञ्चमी सप्तमी

फिर भी सूत्रकार दूसरा उपदेश देनेके लिए कहते हैं—

उत्तर नाम प्रधानका है क्योंकि वह दुर्जय होता है। किसके लिए ? कहते हैं कि मनुष्योंके लिए क्योंकि मनुष्य ही उपदेशके योग्य होते हैं। नहीं तो वे सभी के लिए दुर्जेय हैं। वे कौन हैं ? कहते हैं कि ग्रामधर्म। शब्द आदि विषय अथवा मैथुनको ग्रामधर्म कहते हैं। इसप्रकार सर्वज्ञोंने कहा है कि "ग्रामधर्म दुर्जेय होता है" मैंने यह सुना है। यह सब जो पहले कहा है और जो आगे कहा जानेवाला है वह नभिनन्दन आदितीर्थंकर श्रीऋषभ देवजीने अपने पुत्रोंसे कहा था। इसके पश्चात् श्रीसुधर्मा स्वामी आदि गणधरोंने अपने शिष्योंको प्रतिपादन किया था इसलिए यहां जो यह कहा है कि "मैंने यह सुना है" सो निर्दोष समझना चाहिए। यहां 'यस्मिन्' इस पदमें कर्ममें ल्यब्लोपे पञ्चमी अथवा सप्तमी है इसलिए इसका यह अर्थ है कि जो पुरुष इन ग्रामधर्मोंके आश्रयसे

वेति यान् ग्रामधर्मान् आश्रित्य ये विरताः पञ्चम्यर्थे वा सप्तमी येभ्यो विरताः सम्यक् संयमरूपेणोत्थिताः समुत्थितास्ते काश्यपस्य ऋषभस्वामिनो वर्धमानस्वामिनो वा सम्बन्धी यो धर्मस्तदनुचारिणः तीर्थंकरप्रणीतधर्मानुष्ठायिनो भवन्तीत्यर्थः ॥२५॥

निवृत्त हैं अथवा यहां पंचमीके अर्थमें सप्तमी हुई है इसलिए इसका अर्थ यह है कि जो पुरुष, इन ग्रामधर्मोंसे निवृत्त हैं और सम्यक् प्रकारसे संयमके द्वारा उत्थित हैं वे ही कश्यपगोत्री श्री ऋषभदेव स्वामी अथवा वर्धमान स्वामीके धर्मका आचरण करनेवाले हैं वे ही तीर्थंकर सम्बंधी धर्मका अनुष्ठान करनेवाले हैं यह भाव समझना चाहिए ॥ २५ ॥
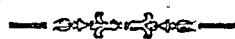
जे एय चरंति आहियं नाएणं महया महेसिणा ।
ते उट्ठिय ते समुट्ठिया अन्नोन्नं सारंति धम्मओ ॥२६॥

छाया—य एनं चरन्त्याख्यातं, ज्ञातेन महता महर्षिणा ।
ते उत्थितास्ते समुत्थिता अन्योऽन्यं सारयन्ति धर्मतः ॥

व्याकरण—(महया, महेसिणा) नाएणं का विशेषण (नाएणं) कर्तृतृतीयान्त (आहियं) कर्मका विशेषण (एयं) धर्मका परामर्शक सर्वनाम कर्म (जे) कर्ता (चरंति) क्रिया (उट्ठिय समुट्ठिया) कर्ताके विशेषण (ते) कर्ताका परामर्शक सर्वनाम (अन्नोन्नं) कर्म (धम्मओ) लुप्तल्य बन्तका कर्म पञ्चम्यन्त (सारंति) क्रिया ।

अन्वयार्थ—(महया) महान् (महेसिणा) महर्षि (नाएणं) ज्ञातपुत्रके द्वारा (आहियं) कहे हुए (एयं) इस धर्मको (जे) जो पुरुष, (चरंति) आचरण करते हैं। (ते) वेही (उट्ठिया) उत्थित हैं (ते) और वे ही (समुट्ठिया) सम्यक् प्रकारसे उत्थित हैं। (धम्मओ) तथा धर्मसे भ्रष्ट होते हुए (अन्नोन्नं) एक दूसरेको वे ही (सारंति) फिर धर्ममें प्रवृत्त करते हैं।

भावार्थ—महान् महर्षि ज्ञात पुत्रके द्वारा कहे हुए धर्मको जो पुरुष आचरण करते हैं वेही उत्थित धर्म मार्गमें प्रवृत्त तथा सम्यक् प्रकारसे प्रवृत्त समुत्थित हैं। तथा वे ही धर्मसे भ्रष्ट होते हुए परस्परको फिर धर्ममें प्रवृत्त करते हैं।

टीका—किञ्च ये मनुष्या एनं प्रागुक्तं धर्मं ग्रामधर्मविरतिलक्षणं चरन्ति कुर्वन्ति आख्यातं ज्ञातेन ज्ञातपुत्रेण 'महये'त्ति महाविषयस्य ज्ञान-

---

जिसका विषय महान् है ऐसा केवल ज्ञान, भगवान् महावीर स्वामीसे भिन्न नहीं है इसलिए यहां भगवानको महान् कहा है। ऐसे महान् तथा अनुकूल और

स्यानन्यभूतत्वान्महान् तेन तथाऽनुकूलप्रतिकूलोपसर्गसहिष्णुत्वान्महर्षिणा श्रीवर्धमानस्वामिना आख्यातं धर्मं ये चरन्ति तएव संयमोत्थानेन कुतीर्थिक-परिहारेणोत्थिताः तथा निह्नवादिपरिहारेण तएव सम्यक् कुमार्गदेशना परित्यागेनोत्थिताः समुत्थिता इति, नाऽन्ये कुप्रावचनिकाः जमालि-प्रभृतयश्चेति भावः त एव च यथोक्तधर्मानुष्ठायिनः अन्योऽन्यं परस्परं धर्मतो धर्ममाश्रित्य धर्मतो वा भ्रश्यन्तं सारयन्ति चोदयन्ति पुनरपि सद्धर्मे प्रवर्तयन्तीति ॥२६॥

प्रतिकूल उपसर्गोंको सहनशील महर्षि ज्ञातपुत्र श्रीवर्धमान स्वामीके द्वारा प्रति पादित, ग्रामधर्मका त्यागस्वरूप जो धर्म है उसका जो आचरण करते हैं वे ही संयममें प्रवृत्त तथा कुतीर्थिक धर्मको त्याग कर सम्यग्धर्ममें प्रवृत्त हैं। तथा वे ही निह्नव आदिको छोड़कर कुमार्गके उपदेशसे अच्छी तरह हटे हुए हैं परन्तु कुप्रा वचनिक और जामालि प्रभृति कुमार्गदेशनासे हटे हुए नहीं हैं। एवं यथोक्त धर्मका अनुष्ठान करनेवाले वे ही परस्पर एक दूसरेको धर्ममें प्रेरित करते हैं अथवा धर्मसे भ्रष्ट होते हुएको फिर वे धर्ममें प्रवृत्त करते हैं ॥२६॥
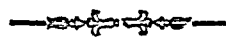
मा पेह पुरा पणामए, अभिकंखे उवधिं धूणित्तए ।
जे दूमण तेहि णो णया, ते जाणंति समाहि माहियं ॥२७॥

छाया—मा प्रेक्षस्व पुरा प्रणामकान्, अभिकांक्षेद् उपधिं धूनयितुम् ।
ये दुर्मनसस्तेषु नो नतास्ते जानन्ति समाधिमाख्यातम् ॥

व्याकरण—(मा) अव्यय (पेह) क्रिया मध्यमपुरुष (पुरा) अव्यय (पणामए) कर्म (अभिकंखे) क्रिया (उवधिं) कर्म (धूणित्तए) प्रयोजनार्थक क्रिया (जे) सर्वनाम दूमणंका विशेषण (दूमण) अध्याहृत संति क्रियाका कर्ता (तेहिं) अधिकरण (णया) कर्ताका विशेषण (ते) कर्ताका परामर्शक सर्वनाम (जाणंति) क्रिया (आहियं) समाधिका विशेषण (समाहिं) कर्म ।

अन्वयार्थ—(पुरा) पहले भोगे हुए (पणामए) शब्दादि विषयोंको (मा पेह) मत स्मरण करो (उवधिं) माया अथवा आठ प्रकारके कर्मोंको (धूणित्तए) नाश करनेकी (अभिकंखे) इच्छा करो। (दुमण) मनको दुष्ट बनानेवाले जो शब्दादि विषय हैं (तेहिं) उनमें (जे) जो (णो णया) आसक्त नहीं हैं (ते) वे पुरुष (आहियं) अपने आत्मामें स्थित (समाहिं) राग द्वेषका त्याग अथवा धर्म ध्यानको (जाणंति) जानते हैं।

भावार्थ—पहले भोगे हुए शब्दादि विषयोंको स्मरण नहीं करना चाहिए। माया अथवा आठ प्रकारके कर्मोंको दूर करनेकी इच्छा करनी चाहिए। जो पुरुष, मनको दूषित करनेवाले शब्दादि विषयोंमें आसक्त नहीं हैं वे अपने आत्मामें स्थित धर्मध्यान तथा रागद्वेषके त्याग रूप धर्मको जानते हैं।

टीका—किञ्च दुर्गतिं संसारं वा प्रणामयन्ति प्रह्वीकुर्वन्ति प्राणिनां प्रणामकाः शब्दादयो विषया स्तान् पुरा पूर्वं भुक्तान् मा प्रेक्षस्व मा स्मर, तेषां स्मरणमपि यस्मान्महते अनर्थाय, ऽनागतांश्च नोदीक्षेत नाकाङ्क्षेदिति, तथा अभिकाङ्क्षेत् अभिलषेदनारतं चिन्तयेदनुरूपमनुष्ठानं कुर्य्यात् किमर्थमिति दर्शयति—उपधीयते ढौक्यते दुर्गतिं प्रत्यात्मा येनासावुपधिः माया अष्टप्रकारं वा कर्म तद् हननाय अपनयनायाभिकाङ्क्षेदिति सम्बन्धः, दुष्टधर्मम्प्रत्युपनताः कुमार्गानुष्ठायिन स्तीर्थिकाः यदि वा 'दूमण'त्ति, दुष्टमनः कारिण उपतापकारिणो वा शब्दादयो विषया स्तेषु ये महासत्त्वाः न नताः न प्रह्वीभूताः तदाचारानुष्ठायिनो न भवन्ति ते सन्मार्गानुष्ठायिनो जानन्ति विदन्ति समाधिं रागद्वेषपरित्यागरूपं धर्मध्यानञ्च आहितम् आत्मनि व्यवस्थितम्, आ समन्ताद्धितं वा त एव जानन्ति नाऽन्य इति भावः ॥२७॥

जो, प्राणियोंको दुर्गतिमें अथवा संसारमें डाल देते हैं उन्हें "प्रणामक" कहते हैं वे शब्दादि विषय है क्योंकि वे ही प्राणियोंको दुर्गति अथवा संसारमें डालते हैं। जो शब्दादि विषय पहले भोगे हुए हैं उनको स्मरण नहीं करना चाहिए क्योंकि उनका स्मरण भी महान् अनर्थका कारण है। तथा भविष्यमें उनकी प्राप्तिकी भी इच्छा नहीं करनी चाहिए किन्तु निरन्तर योग्य अनुष्ठानका चिन्तन करना चाहिए। किस लिए ? यह दिखलाते हैं—जिसके द्वारा आत्मा दुर्गतिमें पहुँचाया जाता है उसे 'उपधि' कहते हैं। उपधि नाम मायाका अथवा आठ प्रकार के कर्मोंका है साधु उनको हनन यानी दूर करने की इच्छा करे। दुष्ट धर्ममें आसक्त, कुमार्गका अनुष्ठान करने वाले जो अन्यतीर्थी हैं उनमें, अथवा मनको दूषित करनेवाले जो शब्दादि विषय हैं उनमें, जो महापुरुष आसक्त नहीं हैं, जो उनका आचरण नहीं करते हैं किन्तु सन्मार्गका अनुष्ठान करते हैं वे ही अपने आत्मामें स्थित रागद्वेषपरित्यागरूप समाधिको अथवा धर्मध्यानको जानते हैं। अथवा वे ही चारो तरफसे अपने हितको जानते हैं दूसरे नहीं जानते ॥ २७ ॥

णो काहिए होज्ज संजए, पासणिए णय संपसारए ।
णच्चा धम्मं अणुत्तरं, कयकिरिए णयावि मामए ॥२८॥

छाया—नो काथिको भवेत्संयतः नो प्राश्निको न च संप्रसारकः ।
ज्ञात्वा धर्म मनुत्तरं कृतक्रियो न चाऽपि मामकः ॥

व्याकरण—(संजए) कर्ता (काहिए) संजएका विशेषण (होज्ज) क्रिया (पासणिए, संपसारए) संजएका विशेषण (अणुत्तरं) धर्मका विशेषण (धम्मं) कर्म (णच्चा) पूर्वकालिक क्रिया (कयकिरिए मामए) संजएके विशेषण ॥२८॥

अन्वयार्थ—(संजए) संयमी पुरुष (णो काहिए) विरुद्ध कथा न करे। (णो पासणिए) तथा प्रश्नका फल बतानेवाला न हो। (णय संपसारए) एवं वृष्टि और धनोपार्जनके उपायोंको बतानेवाला भी न बने। किन्तु (अणुत्तरं) सर्वोत्तम (धम्मं) धर्मको (णच्चा) जानकर (कयकिरिए) संयमरूप क्रियाका अनुष्ठान करे (णयावि मामए) और किसी वस्तुपर ममता न करे।

भावार्थ—संयमी पुरुष, विरुद्ध कथा वार्ता न करे तथा प्रश्नफल और वृष्टि तथा धनवृद्धिके उपायोंको भी न बतावे। किन्तु लोकोत्तर धर्मको जानकर संयमका अनुष्ठान करे और किसी वस्तु पर ममता न करे।

टीका—तथा संयतः प्रव्रजितः कथया चरति काथिकः गोचरादौ न भवेद् यदि वा विरुद्धां पैशून्यापादनीं स्त्र्यादिकथां वा न कुर्यात् तथा प्रश्नेन राजादिकिंवृत्तरूपेण दर्पणादिप्रश्ननिमित्तरूपेण वा चरतीति प्राश्निको न भवेत्, नाऽपि संप्रसारकः देववृष्ट्यर्थकाण्डादिसूचककथाविस्तारको भवेदिति किं कृत्वेति दर्शयति—ज्ञात्वा अवबुध्य नास्योत्तरो विद्यत इत्यनुत्तरस्तं श्रुतचारित्राख्यं धर्मं सम्यगवगम्य तस्य हि धर्मस्यैतदेवफलं यदुत विकथानिमित्तपरिहारेण सम्यक् क्रियावान् स्यादिति, तद्दर्शयति कृता

प्रव्रज्या लिया हुआ संयमी पुरुष, गोचरी आदिके समय कथा न कहे। अथवा चुगुली आदि विरुद्ध कथा अथवा स्त्री सम्बन्धी कथा न करे। किसी राजा महाराजा आदि द्वारा "मेरे देशमें क्या होगा" इत्यादि प्रश्न पूछने पर ज्योतिषीके समान उसके प्रश्नका फल न बतावे, एवं देववृष्टि तथा धनलाभके उपायोंको भी साधु न बतावे किन्तु श्रुत और चारित्ररूप धर्मको सर्वोत्तम जानकर संयमका अनुष्ठान करे क्योंकि लोकोत्तर धर्म जाननेका यही फल है कि विकथा और निमित्त बताना आदि कार्य्योंको छोड़कर सम्यक् क्रियाके अनुष्ठानमें प्रवृत्ति

स्वभ्यस्ता क्रिया संयमानुष्ठानरूपा येन स कृतक्रियः तथाभूतश्च न चाऽपि मामको ममेदमहमस्य स्वामीत्येवं परिग्रहाग्रही भवेदिति ॥२८॥

करे। तथा "यह वस्तु मेरी है और मैं इसका स्वामी हूँ" इस प्रकारकी ममता साधु न करे ॥ २८ ॥

छन्नं च पसंस णो करे, नय उक्कोसपगास माहणे ।
तेसिं सुविवेग माहिए पणया जेहिं सुजोसियं धुयं ॥२९॥

छाया—छन्नं च प्रशस्यं च न कुर्य्यान्नचोत्कर्षं प्रकाशं माहनः ।
तेषां सुविवेक आहितः प्रणताः यैः सुजुष्टं धुतम् ॥

व्याकरण—(छन्नं पसंसं) कर्म (करे) क्रिया (उक्कोसपगास) कर्म (माहणे) कर्ता (तेसिं) कषायोंका परामर्शक सम्बन्धषष्ठ्यन्तपद (सुविवेग) उक्तकर्म (आहिए) कर्मवाच्य क्तान्तपद (जेहिं) कर्ता (धुयं) उक्तकर्म (सुजोसियं) कर्मवाच्य क्तान्तपद (पणया) मुनिका विशेषण ॥२९॥

अन्वयार्थ—(माहणे) साधु पुरुष, (छन्नंच) माया (पसंस), लोभ (उक्कोस) मान (पगासंच) और क्रोध (णो करे) नहीं करे। (जेहिं) जिनने (धुयं) आठ प्रकारके कर्मोंको नाश करनेवाले संयमको (सुजोसियं) अच्छी तरहसे सेवन किया है। (तेसिं) उन्हीका (सुविवेग आहिए) उत्तम विवेक प्रसिद्ध हुआ है। (पणया) और वेही धर्ममें आसक्त हैं।

भावार्थ—साधु पुरुष, क्रोध मान माया और लोभ न करे। जिनने आठ प्रकारके कर्मोंको नाश करनेवाले संयमका सेवन किया है उन्हीका उत्तम विवेक जगत्में प्रसिद्ध हुआ है और वे ही धर्ममें आसक्त पुरुष हैं।

टीका—किञ्च 'छन्नं'त्ति, माया तस्याः स्वाभिप्रायप्रच्छादनरूपत्वात् तां न कुर्य्यात्। च शब्दः उत्तरापेक्षया समुच्चयार्थः, तथा प्रशस्यते सर्वैरप्यविगानेनाद्रियत इति प्रशस्यो लोभस्तं च न कुर्य्यात्, तथा जात्यादिभिर्मदस्थानैर्लघुप्रकृतिं पुरुषमुत्कर्षयतीत्युत्कर्षको मानस्तमपि न कुर्य्यादिति

'छन्न' मायाका नाम है क्योंकि अपने अभिप्रायको छिपाना 'माया' है। साधु माया न करे। यहाँ 'च' शब्द अगले पदार्थोंको समुच्चय करनेके लिए कहा है। तथा सबलोग विना किसी आपत्तिके जिसको आदर करते हैं उसे 'प्रशस्य' कहते हैं। प्रशस्य नाम लोभका है वह नहीं करना चाहिए। 'उत्कर्ष' नाम मानका है क्योंकि वह छोटी प्रकृतिवाले पुरुषको जाति आदि मदस्थानोंके द्वारा मत्त बना देता है इस-

सम्बन्धः, तथाऽन्तर्व्यवस्थितोऽपि मुखदृष्टिभ्रूभङ्गविकारैः प्रकाशीभवतीति प्रकाशः क्रोधस्तञ्च 'माहणे'त्ति साधु र्न कुर्य्यात्, तेषां कपायाणां यैर्महात्मभिः विवेकः परित्यागः आहितो जनित स्तएव धर्मम्प्रति प्रणता इति। यदि वा तेषामेव सत्पुरुषाणां सुष्ठु विवेकः परिज्ञानरूपः आहितः प्रथितः प्रसिद्धिं गतः त एव च धर्मं प्रति प्रणताः यैः महासत्वैः सुष्ठु जुष्टं सेवितं धूयतेऽष्टप्रकारं कर्म तद्रूपं संयमानुष्ठानं, यदि वा यैः सदनुष्ठायिभिः 'सुजोसिअं'त्ति सुष्ठु क्षिप्तं धूननार्हत्वाद् धूतं कर्मेति ॥२९॥

लिए साधु मान न करे। एवं 'प्रकाश' नाम क्रोधका है क्योंकि वह मनुष्यके अन्दर रहकर भी मुख, दृष्टि, भ्रूकुटिभंग आदि विकारोंसे प्रकट होता है। साधु पुरुष क्रोध भी न करे। जिन महात्माओंने इन कषायोंका परित्याग किया है वे ही धर्ममें प्रवृत्त हैं अथवा उन्हीं सत्पुरुषोंका उत्तम परिज्ञान स्वरूप विवेक जगत्‌में प्रसिद्ध हुआ है और वे ही धर्ममें प्रवृत्त हैं। जिन महापुरुषोंने आठ प्रकारके कर्मोंको दूर करनेवाले संयमानुष्ठानको भलीभांति सेवन किया है अथवा सत्कर्मका अनुष्ठान करनेवाले जिन महात्माओंने अच्छी तरह अष्टविध कर्मोंको दूर कर दिया है वे ही धर्ममें प्रवृत्त हैं। यहाँ धूनन यानी क्षेपण करने योग्य होनेसे कर्मोंको 'धुत' कहा है ॥२९॥

अणिहे सहिए सुसंवुडे धम्मट्ठी उवहाणवीरिए।
विहरेज्ज समाहिइंदिए अत्तहियं खु दुहेण लब्भइ ॥३०॥

छाया—अस्निहः सहितः सुसंवृतः धर्मार्थी उपधानवीर्य्यः।
विहरेत्समाहितेन्द्रियः आत्महितं दुःखेन लभ्यते ॥

व्याकरण—(अणिहे सहिए, सुसंवुडे, धम्मट्ठी उवहाणवीरिए, समाहिइंदिए) ये सब आक्षिप्त मुनिके विशेषण हैं। (विहरेज्ज) क्रिया (आत्तहिअं) कर्म (खु) अव्यय (दुहेण) करण (लब्भइ) क्रिया।

अन्वयार्थ—(अणिहे) साधु पुरुष, किसी भी वस्तुमें स्नेह न करे। (सहिए) जिससे अपना हित हो वह कार्य्य करे। (सुसंवुडे) इन्द्रिय तथा मनसे गुप्त रहे। (धम्मट्ठी) धर्मार्थी बने। (उवहाणवीरिए) तपमें पराक्रम प्रकट करे। (समाहिइंदिए) इन्द्रियको वशमें रखे (विहरेज्ज) इस प्रकार साधु संयमका अनुष्ठान करे क्योंकि (आत्तहियं) अपना कल्याण (दुहेण) दुःखसे (लब्भइ) प्राप्त किया जाता है।

भावार्थ—साधु पुरुष, किसी भी वस्तुपर ममता न करे तथा जिससे अपना हित हो उस कार्य्यमें सदा प्रवृत्त रहे। इन्द्रिय तथा मनसे गुप्त रहकर वह धर्मार्थी

बने । एवं तपमें अपना पराक्रम प्रकट करता हुआ जितेन्द्रिय होकर संयमका अनुष्ठान करे क्योंकि अपना कल्याण दुःखसे प्राप्त होता है ।

टीका—अपि च स्निह्यत इति स्निहः न स्निहः अस्निहः सर्वत्र ममत्त्व रहित इत्यर्थः, यदि वा परीषहोपसर्गैर्निहन्यत इति निहः न निहोऽनिहः उपसर्गैरपराजित इत्यर्थः, पाठान्तरं वा 'अणहे'त्ति नास्याघमस्तीत्यनघो निरवद्यानुष्ठायीत्यर्थः सह हितेन वर्तत इति सहितः सहितो युक्तो वा ज्ञानादिभिः स्वहितः आत्महितो वा सदनुष्ठानप्रवृत्तेः, तामेव दर्शयति—सुष्ठु संवृतः इन्द्रियनोइन्द्रियैर्विस्रोतसिकारहित इत्यर्थः तथा धर्मः श्रुतचारित्राख्यः तेनाऽर्थः प्रयोजनं स एवार्थः तस्यैव सद्भिरर्थ्यमानत्वाद् धर्मार्थः स यस्याऽस्तीति धर्मार्थी तथा उपधानं तपस्तत्र वीर्यवान् स एवंभूतो विहरेत् संयमानुष्ठानं कुर्यात् समाहितेन्द्रियः संयतेन्द्रियः कुत एवं ? यत आत्महितं दुःखेनासुमता संसारे पर्यटता अकृतधर्मानुष्ठानेन लभ्यते अवाप्यत इति तथाहि—

"न पुनरिदमतिदुर्लभमगाधसंसारजलधिविभ्रष्टम् ।
मानुष्यं खद्योतकतडिल्लताविलसितप्रतिमम् ॥"

किसी वस्तुपर प्रेम करनेवाला 'स्निह' कहलाता है तथा किसी वस्तुपर प्रेम नहीं करनेवाला 'अस्निह' कहलाता है। आशय यह है कि साधु, सर्वत्र ममताको त्याग करे । अथवा परीषह और उपसर्गोंके द्वारा जो पराजित किया जाता है उसे 'निह' कहते हैं और जो परीषह तथा उपसर्गोंसे पराजित नहीं किया जा सकता है उसे 'अनिह' कहते हैं । साधु परीषह तथा उपसर्गोंसे पराजित न हो यह आशय है। यहाँ 'अणहे' यह पाठान्तर भी पाया जाता है । इसका अर्थ यह है कि—साधु पाप रहित यानी निरवद्य कर्मका अनुष्ठान करे । साधु अपने हितके साथ रहे अथवा ज्ञान आदिसे युक्त रहे अथवा वह सत्कर्मके अनुष्ठानमें प्रवृत्त होकर अपना हित सम्पादन करे । सत अनुष्ठानमें प्रवृत्ति दिखानेकेलिए कहते हैं कि—"सुसंवुडे" अर्थात् साधु इन्द्रिय और नो इन्द्रियोंके द्वारा विषयतृष्णारहित होकर रहे । श्रुत और चारित्रको धर्म कहते हैं उस धर्मको ही साधु अपना प्रयोजन जाने क्योंकि सज्जन पुरुष धर्मकी ही प्रार्थना करते हैं । एवं साधु तपमें अपना पराक्रम प्रकट करे और जितेन्द्रिय होकर संयमका अनुष्ठान करे । वह ऐसा इसलिए करे कि संसार सागरमें भ्रमण करनेवाले प्राणीको धर्मानुष्ठान किए विना आत्महितकी प्राप्ति होना बड़ा ही दुर्लभ है क्योंकि—(न पुनः) अर्थात् खद्योतकी ज्योति और विजलीके प्रकाशके

तथाहि युगसमिलादिदृष्टान्तनीत्या मनुष्यभव एव तावद् दुर्लभः तत्राऽप्यार्य्यक्षेत्रादिकं दुरापमिति अत आत्महितं दुःखेनावाप्यत इति मन्तव्यम् । अपि च—

भूतेषु जङ्गमत्वं तस्मिन् पञ्चेन्द्रियत्वमुत्कृष्टम् ।
तस्मादपि मानुष्यं, मानुष्येऽप्यार्यदेशश्च ॥१॥
देशे कुलं प्रधानं कुले प्रधाने जाति रुत्कृष्टा ।
जातौ रूपसमृद्धी रूपे च बलं विशिष्टतमम् ॥२॥
भवति बले चायुष्कं प्रकृष्टमायुष्कतोऽपि विज्ञानम् ।
विज्ञाने सम्यक्त्वं सम्यक्त्वे शीलसंप्राप्तिः ॥३॥
एतत्पूर्वश्चायं समासतो मोक्षसाधनोपायः ।
तत्र च बहु सम्प्राप्तं भवद्भिरल्पश्च संप्राप्यम् ॥४॥

समान अति चञ्चल मनुष्य भव, यदि अगाध संसार सागरमें गिर गया तो उसे फिर प्राप्त करना अति दुर्लभ है । अतः * युग समिल आदिके दृष्टांतमें कही हुई नीतिके अनुसार प्रथम तो मनुष्य भवकी प्राप्ति ही कठिन है उसपर भी आर्य्यक्षेत्र पाना अति दुर्लभ है इसलिए दुःखसे आत्महितकी प्राप्ति होती है यह मानना पड़ता है । तथा प्राणियोंमें जंगम प्राणी श्रेष्ठ हैं और जंगम प्राणियोंमें पंचेन्द्रिय प्राणी उत्कृष्ट हैं । उनसे भी मनुष्यभव विशिष्ट है । मनुष्य भवमें भी आर्य्य देश पाना उत्तम है । आर्य्यदेशमें भी कुल प्रधान है और कुलमें भी जाति उत्कृष्ट है । जातिमें भी रूप और समृद्धि पाना कठिन है और उनमें भी बल पाना विशिष्ट है । बल पाकर आयु पाना उत्तम है और आयुसे भी विज्ञान पाना प्रधान है । विज्ञानमें भी सम्यक्त्वकी प्राप्ति होना उत्तम है उसपर भी शीलकी प्राप्ति उत्तम है । क्रमशः इन्हीं पदार्थोंको प्राप्त करना संक्षेपसे मोक्ष साधनका उपाय है । इनमें आपलोगोंने बहुतसा प्राप्त करलिया है अब

---

* "शम्या पूर्वपयोनिधौ निपतिता, भ्रष्टं युगं पश्चिमे ।
म्भोधौ दुर्धरवीचिभिश्च सुचिरात्संयोजितं तद् द्वयम् ॥
सा शम्या प्रविशेद्युगस्य विवरे तस्य स्वयं क्वाऽपिचेत् ।
भ्रष्टो मर्त्यभवात् तथाप्यसुकृती भूयस्तमाप्नोति न ॥"

अर्थात् पूर्व समुद्रमें किल्लीको फेंक दीजिए और पश्चिम समुद्रमें जुएको डाल दीजिए वे दोनों समुद्रके प्रबल तरंगसे बहकर कदाचित् इकट्ठे हों और वह किल्ली उस जुवेमें प्रवेश करे यह संभव है परंतु जिसने पुण्य नहीं किया है उस पुरुषके द्वारा भ्रष्ट मनुष्यभवको फिर प्राप्त करना संभव नहीं है यही युगसमिलका दृष्टान्त है ।

तत्कुरुतोद्यम मधुनामदुक्तमार्गे समाधि मास्थाय ।
त्यक्त्वा सङ्गमनार्य्यं कार्य्यं सद्भिः सदाश्रेयः ॥ ५ इति ३०

थोड़ा ही प्राप्त करना शेष रहा है। अतः मेरे बताए हुए मार्गमें समाधि लगाकर प्रयत्न कीजिए क्योंकि अनार्य्योंका संग छोड़कर सज्जनोंको सदा कल्याणका आचरण करना चाहिए ॥३०॥

णहि णूण पुरा अणुस्सुतं अदुवा तं तह णो समुट्ठियं ।
मुणिणा सामाइ आहियं, नाएणं जगसव्वदंसिणा ॥३१॥

छाया—नहि नूनं पुराऽनुश्रुतमथवा तत्तथा नो समनुष्ठितम् ।
मुनिना सामायकाद्याख्यातम्, ज्ञातेन जगत्सर्वदर्शिना ॥

व्याकरण—(ण, हिं) अव्यय (पुरा) अव्यय (अणुस्सुतं) क्तान्त कर्मवाच्य (अदुवा) अव्यय (तह) अव्यय (अणुट्ठियं) क्तान्त कर्मवाच्य। (जगसव्वदंसिणा, नाएणं) मुनिका विशेषण (मुणिणा) कर्ता (सामाइ) उक्त कर्म (अहियं) क्तान्त कर्मवाच्य।

अन्वयार्थ—(जगसव्वदंसिणा) समस्त जगत् को देखनेवाले (मुणिणा) मुनि (नाएण) ज्ञातपुत्रने (सामाइ आहियं) सामायिक आदि कहा है (णूण) निश्चय जीवने (पुरा) पहले (ण हि अणुस्सुयं) नहीं सुना है (अदुवा) अथवा (तं) उसे (तह) उस प्रकार (णो समुट्ठियं) अनुष्ठान नहीं किया है।

भावार्थ—समस्त जगत् को जाननेवाले ज्ञातपुत्र मुनि श्रीभगवान वर्धमान स्वामीने साममिक आदिका कथन किया है। निश्चय जीवने उसे सुना नहीं है अथवा सुनकर यथार्थरूपसे उसका आचरण नहीं किया है।

एतच्च न प्राणिभिः कदाचिदवाप्तपूर्व मित्येतद्दर्शयितुमाह—यदेतत् मुनिना जगतः सर्वभावदर्शिना ज्ञातपुत्रीयेण सामायिकादि आहितम् आख्यातं तत् नूनं निश्चितं नहि नैव पुरा पूर्वं जन्तुभिः अनुश्रुतं श्रवणपथ

प्राणियोंने इस सामायक आदिको पहले कभी नहीं प्राप्त किया है यह दिखानेके लिए सूत्रकार कहते हैं—

जगत्के समस्त भावोंको देखनेवाले ज्ञातपुत्र मुनि श्रीभगवान् वर्धमान स्वामीने जो सामायिक आदि कहा है निश्चय प्राणियोंने उसे पहले कभी नहीं सुना है अथवा सुनकर भी जिसतरह उसका अचरण करना चाहिए वैसा आचरण नहीं किया है।

मायातम् अथवा श्रुतमपि तत्सामायकादि यथाऽवस्थितं तथा नाऽनुष्ठितं, पाठान्तरं वा 'अवितह'न्ति, अवितथं यथावन्नानुष्ठित मतः कारणादसुमतामात्महितं सुदुर्लभ मिति ॥३१॥

यहाँ पाठान्तर भी पाया जाता है "अवितहं" अर्थात् उस सामायक आदिको प्राणियोंने यथावत् अनुष्ठान नहीं किया है अतएव प्राणियोंको आत्महित दुर्लभ है ॥३१॥

—— ❀ ——
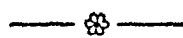
एवं मत्ता महंतरं धम्ममिणं सहिया वहूजणा।
गुरुणो छंदाणुवत्तगा विरया तिन्न महोघ माहियं त्तिबेमि ३२

छाया—एवं मत्वा महदन्तरं धर्ममेनं सहिताः वहवो जनाः।
गुरोश्छन्दानुवर्तकाः विरता स्तीर्णाः महौघ माख्यातम् ॥ इति ब्रवीमि।

व्याकरण—(एवं) अव्यय (इणं, महंतरं) धर्मके विशेषण (धम्मं) कर्म (मत्ता) पूर्वकालिक क्रिया। (सहिया, गुरुणो छन्दानुवत्तगा, विरया) ये सब बहुजनके विशेषण हैं (भवोघं) कर्म (तिन्न) बहुजनका विशेषण (आहियं) भाववाच्य क्तान्त पद।

अन्वयार्थ—(एवं) इस प्रकार (मत्ता) मानकर (महंतरं) सर्वोत्तम (धम्ममिणं) इस आर्हत धर्मको स्वीकार करके (सहिता) ज्ञानादिसम्पन्न (गुरुणो छन्दाणुवत्तगा) गुरुके अभिप्रायके अनुसार वर्तनेवाले (विरया) पापसे रहित (वहुजणा) वहुत जनोंने (महोघं) संसार सागरको (तिन्ना) पार किया है (आहियं) यह मैं आपसे कहता हूं।

भावार्थ—प्राणियोंको हितकी प्राप्ति वहुत कठिन है यह जानकर तथा यह आर्हत धर्म सब धर्मोंमें श्रेष्ठ है यह समझकर ज्ञानादिसम्पन्न, गुरुके उपदिष्ट मार्गसे चलनेवाले पापसे विरत बहुत पुरुषोंने इस संसारको पार किया है यह मैं कहता हूँ।

पुनरप्युपदेशान्तर मधिकृत्याह—

एवम् उक्तरीत्या आत्महितं सुदुर्लभं मत्वा ज्ञात्वा धर्माणाञ्च महदन्तरं धर्मविशेषं कर्मणो वा विवरं ज्ञात्वा यदि वा 'महंतरं' ति, मनुष्यार्य्यक्षेत्रादिकमवसरं सदनुष्ठानस्य ज्ञात्वा एनं जैनं धर्मं श्रुतचारित्रात्मकं

फिर भी शास्त्रकार दूसरा उपदेश देनेके लिए कहते हैं—

उक्त रीतिसे अपना हित प्राप्त करना अत्यन्त दुर्लभ है यह जानकर तथा सब धर्मोंसे महान् अन्तर रखनेवाले धर्मविशेषको अथवा कर्मके अन्तरको जानकर अथवा उत्तम अनुष्ठानके योग्य मनुष्य और आर्य्यक्षेत्र आदि अवसरको जानकर

सह हितेन वर्तन्त इति सहिताः ज्ञानादियुक्ता बहवो जनाः लघु कर्माणः समाश्रिताः सन्तो गुरोराचार्य्यादेस्तीर्थङ्करस्य वा छन्दानुवर्तकास्तदुक्तमार्गानुष्ठायिनो विरताः पापेभ्यः कर्मभ्यः सन्तस्तीर्णाः महौघमपारं संसारसागरमेव माख्यातं मया भवता मपरैश्च तीर्थकृद्भिरन्येषाम् इति शब्दः परिसमाप्त्यर्थं ब्रवीमीति पूर्ववत् ।

वैतालीयस्य द्वितीयोद्देशकः समाप्तः ।

अथ वैतालीयाध्ययनस्य तृतीयोद्देशकस्य प्रारम्भः

उक्तो द्वितीयोद्देशकः, साम्प्रतं तृतीयः समारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः—इहानन्तरोद्देशकान्ते विरता इत्युक्तं, तेषां च कदाचित्परीषहाः समुदीर्य्येरन् अतः तत्सहनं विधेयमिति, उद्देशकार्थाधिकारोऽपि निर्युक्तिकारेणाभिहितः यथाऽज्ञानोपचितस्य कर्मणोऽपचयो भवतीति, सच परीषहसहनादेवेत्यतः परीषहाः सोढव्या इत्येनेन सम्बन्धेनाऽऽयातस्यास्योद्देशकस्यादिसूत्रम् ।

तथा इस श्रुत चारित्र स्वरूप आर्हत धर्मको स्वीकार कर ज्ञान आदिसे सम्पन्न लघु कर्मी बहुत पुरुष, आचार्य्य आदि अथवा तीर्थंकरके बताए हुए मार्गका अनुष्ठान करके पाप कर्मसे निवृत्त हो गए हैं और उन्होंने अपार संसार सागरको पार किया है, यह मैंने आपलोगोंसे कहा है और दूसरे तीर्थंकरोंने दूसरोंसे कहा है। इति शब्द समाप्त्यर्थक है 'ब्रवीमि' पूर्ववत् है । इति द्वितीयोद्देशकः समाप्तः ॥३२॥

द्वितीय उद्देशक समाप्त हो चुका अब तीसरा उद्देशक आरम्भ किया जाता है। दूसरे उद्देशकके साथ इसका सम्बन्ध यह है, दूसरे उद्देशकके अन्तमें कहा है कि "पापसे विरत पुरुष संसार सागरको पार करते हैं" अब इस उद्देशकमें कहा जानेवाला है कि साधुको यदि कदाचित परीषह और उपसर्गोंकी उदीरणा हो तो उनका सहन करना चाहिए क्योंकि परीषह और उपसर्गोंको सहन करनेसे ही अज्ञान जनित कर्मोंका नाश होता है। निर्युक्तिकारने इस तीसरे उद्देशकका अर्थाधिकार बताते हुए भी यही कहा है कि परीषह और उपसर्गोंके सहनसे ही अज्ञानजनित कर्मोंका अपचय होता है इसलिए साधुको परीषहोंको सहन करना चाहिए यही बतानेके लिए इस तीसरे उद्देशका जन्म हुआ है। इसका प्रथम सूत्र यह है—

संवुडकम्मस्स भिक्खुणो, जं दुक्खं पुट्ठं अबोहिए ।
तं संजमओऽवचिज्जई, मरणं हेच्च वयंति पंडिया ॥१॥

छाया—संवृतकर्मणः भिक्षोः यद्दुःखं स्पृष्ट मबोधिना ।
तत्संयमतोऽवचीयते मरणं हित्वा व्रजन्ति पंडिताः ॥

व्याकरण—(संवुडकम्मस्स) भिक्षुका विशेषण (भिक्खुणो) सम्बन्धषष्ठ्यन्त (अबोहिए) हेतु तृतीयान्त । (जं) सर्वनाम दुःखका विशेषण (पुट्ठं) दुःखका विशेषण । (दुःखं) अध्याहृत अस्ति क्रियाका कर्ता (तं) दुःखका परामर्शक सर्वनाम (संजमओ) हेतु पञ्चम्यन्त (अवचिज्जई) क्रिया (मरणं) कर्म (हेच्च) पूर्वकालिक क्रिया (वयंति) क्रिया (पंडिया) कर्ता ।

अन्वयार्थ—(संवुडकम्मस्स) आठ प्रकारके कर्मोंका आना जिसने रोक दिया है (भिक्खुणो) ऐसे भिक्षु-साधुको (अबोहिए) अज्ञानवश (जं दुक्खं) जो कर्म (पुट्ठं) बँध गया है (तं) वह (संजमओ) संयमसे (अवचिज्जई) क्षीण हो जाता है (पंडिया) और वे पंडित पुरुष (मरणं हेच्चा) मरणको छोड़कर (वयंति) मोक्षको प्राप्त करते हैं ।

भावार्थ—जिस भिक्षुने आठ प्रकारके कर्मोंका आगमन रोक दिया है उसको जो अज्ञान वश कर्मबन्ध हुआ है वह संयमके अनुष्ठानसे क्षीण हो जाता है । वे विवेकी पुरुष, मरणको छोड़कर मोक्षको प्राप्त करते हैं ।

संवृतानि निरुद्धानि कर्माणि अनुष्ठानानि सम्यगनुपयोगरूपाणित्वा मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगरूपाणि वा यस्य भिक्षोः साधोः स तथा तस्य यद् दुःख मसत्वेद्यं तदुपादानं वाऽष्टप्रकारं कर्म स्पृष्टमिति वद्धस्पृष्टनिकाचितमित्यर्थः तच्चात्र अबोधिना अज्ञानेनोपचितं सत् संयमतो मानीन्द्रोक्तात् सप्तदशरूपादनुष्ठानाद् अपचीयते प्रतिक्षणं क्षय मुपयाति एतदुक्तं भवति यथा तटाकोदरसंस्थितमुदकं निरुद्धापरप्रवेशद्वारं सदादित्यकरसम्पर्कात् प्रत्यहमपचीयते एवं संवृताश्रवद्वारस्य भिक्षो-

जिस साधुने कर्मोंको रोक दिया है अथवा सम्यक् अनुपयोग रूप अनुष्ठान अथवा मिथ्या दर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग रूप कर्मोंको जिसने रोक दिया है उस साधुको अज्ञानवश जो दुःख-प्रतिकूल वेदनीय अथवा दुःखके कारण स्वरूप आठ प्रकारके कर्म, वद्ध, स्पृष्ट तथा निकाचित भेदसे उपचित हुए हैं वे तीर्थंकरोक्त १७ प्रकारके संयमके अनुष्ठानसे प्रतिक्षण नाशको प्राप्त होते हैं । भाव यह है कि जिस तालावमें पानी आनेका मार्ग बन्द है उसमें पहलेका रहा हुआ जल जैसे सूर्य्यकी किरणोंके सम्बन्धमें प्रतिदिन घटता जाता है उसी तरह जिस साधुने आश्रव द्वारको बन्द करदिया है तथा इन्द्रिय योग और कषाय को

रिन्द्रिययोगकषायम्प्रति संलीनतया संवृतात्मनः सतः संयमानुष्ठानेन चानेकभवाज्ञानोपचितं कर्म क्षीयते, ये च संवृतात्मानः सदनुष्ठायिनश्च ते हित्वा त्यक्त्वा मरणं मरणस्वभाव मुपलक्षणत्वाज्जातिजरामरण शोकादिकं त्यक्त्वा मोक्षं व्रजन्ति पण्डिताः सदसद्विवेकिनः, यदिवा पण्डिताः सर्वज्ञा एवं वदन्ति यत् प्रागुक्तमिति ॥ १ ॥

रोकनेमें सदा सावधान रहता है उस संवृतात्मा पुरुषके अनेक जन्म संचित अज्ञान जनित कर्म, संयमके अनुष्ठानसे क्षीण हो जाते हैं। जो पुरुष, संवृतात्मा हैं और सत्कर्मका अनुष्ठान करते हैं वे मरण स्वभावको तथा उपलक्षणत्वात् जाति, जरा, मरण और शोक आदिको छोड़कर मोक्षको प्राप्त करते हैं। जो सत् और असत्के विवेकी हैं उन्हें पंडित कहते हैं। अथवा जो पहले कहा गया है उसे सर्वज्ञ पुरुष ऐसा ही कहते हैं ॥ १ ॥

—✿—
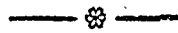
जे विन्नवणाहिऽजोसिया, संतिन्नेहिं समं वियाहिया।
तम्हा उड्ढंति पासहा अदक्खु कामाइ रोगवं ॥२॥

छाया—ये विज्ञापनाभिर्जुष्टाः संतीर्णैः समं व्याख्याताः।
तस्माद् ऊर्ध्वं पश्यत अद्राक्षुः कामान् रोगवत् ॥

व्याकरण—(जे) सर्वनाम, अध्याहृत पुरुषका विशेषण (विन्नवणाहिं) कर्तृतृतीयान्त (अजोसिया) कर्मक्तान्त, पुरुषका विशेषण (ते) पुरुषका परामर्शक सर्वनाम (संतिन्नेहिं) तुल्यार्थक शब्दके योगमें तृतीयान्त (समं) क्रियाविशेषण (वियाहिया) कर्मक्तान्त पुरुषका विशेषण। (तम्हा) हेतुपञ्चम्यन्त (उड्ढं) क्रियाविशेषण (पासह) क्रिया (कामाइं) कर्म (रोगवं) कर्मविशेषण (अदक्खु) क्रिया ॥ २ ॥

अन्वयार्थ—(जे) जो पुरुष (विन्नवणाहिं) स्त्रियोंसे (अजोसिया) सेवित नहीं हैं। (संतिन्नेहिं) वे मुक्त पुरुषोंके (समं) समान (वियाहिया) कहे गए हैं। (तम्हा) इसलिए (उड्ढं) स्त्री परित्यागके वाद ही (पासहा) मोक्षकी प्राप्ति होती है यह देखो। (कामाइं) काम भोगोंको जिन पुरुषोंने (रोगवं) रोगके समान (अदक्खु) देखा है वे मुक्तके समान हैं।

भावार्थ—जो पुरुष, स्त्रियोंसे सेवित नहीं हैं वे, मुक्त पुरुषके सदृश हैं। स्त्री परित्यागके वाद मुक्ति होती है यह जानना चाहिए। जिसने काम भोगको रोगके समान जान लिया है वे पुरुष मुक्त पुरुषके सदृश हैं।

टीका—येऽपि च तेनैव भवेन न मोक्षमाप्नुवन्ति तानधिकृत्याह—ये महासत्त्वाः कामार्थिभि र्विज्ञाप्यन्ते यास्तदर्थिन्यो वा कामिनं विज्ञापयन्ति ताः विज्ञापनाः स्त्रिय स्ताभिः अजुष्टाः असेविताः क्षयं वा अवसायलक्षण-मतीतास्ते सन्तीर्णैः मुक्तैः समं व्याख्याताः, अतीर्णा अपि सन्तो यतस्ते निष्किञ्चनतया शब्दादिषु विषयेष्वप्रतिबद्धाः संसारोदन्वत स्तटोपान्तवर्तिनो भवन्ति, तस्माद् ऊर्ध्वमिति मोक्षं योषित्परित्यागाद्वोर्ध्वं यद् भवति तत्पश्यत यूयम् । ये च कामान् रोगवद् व्याधिकल्पान् अद्राक्षुः दृष्टवन्तस्ते संतीर्णसमाः व्याख्याताः तथा चोक्तम्—

"पुप्फफलाणं च रसं सुराइ मंसस्स महिलियाणं च ।
जाणंता जे विरया ते दुक्करकारए वंदे" ॥१॥

तृतीयपादस्य पाठान्तरं वा "उड्ढं तिरियं अहे तहा" ऊर्ध्वमिति सौधर्मादिषु तिरियमिति तिर्यग्लोके, अध इति भवनपत्यादौ ये कामास्तान् रोगवद् अद्राक्षु र्ये ते तीर्णकल्पाः व्याख्याता इति ॥ २ ॥

जो पुरुष उसी भवमें मोक्षको नहीं प्राप्त करते हैं उनके विषयमें सूत्रकार कहते हैं—

कामी पुरुष जिसके प्रति अपनी कामना प्रकट करता है अथवा जो काम सेवनके लिए कामीको अपना अभिप्राय प्रकट करती हैं उसे 'विज्ञापना' कहते हैं । 'विज्ञापना' नाम स्त्रियोंका है । जो महासत्त्व पुरुष स्त्रियोंसे सेवित नहीं हैं अथवा जो स्त्रियोंके द्वारा विनाश स्वरूप क्षयको प्राप्त नहीं हैं वे, मुक्त पुरुषों के सदृश कहे गए हैं । यद्यपि वे संसार सागरको पार किए हुए नहीं हैं तथापि वे निष्किञ्चन और शब्दादि विषयोंमें आसक्त नहीं होनेके कारण संसार सागरके तटके समीप ही स्थित हैं । इसलिए स्त्रीसंसर्गके त्यागके बादही मोक्ष होता है यह जानना चाहिए । जिन महात्माओंने काम भोगोंको रोगके सदृश देख लिया है वे भी मुक्त पुरुषके सदृश ही कहे गए हैं । कहा भी है—"पुप्फफलाणं" अर्थात् जिनने फूल और फलका रस, मद्य, मांस एवं महिलाओंको अनर्थका कारण जानकर त्याग दिया है उन दुष्कर कर्म करनेवाले पुरुषोंको मैं वन्दना करता हूँ । यहाँ तीसरे चरणका यह पाठान्तर पाया जाता है "उड्ढं तिरियं अहे तहा" अर्थात् सौधर्म आदि देवलोकमें और तिर्य्यक् लोकमें एवं भवनपति आदि लोकमें जो कामभोग विद्यमान हैं उन्हें जो महात्मा रोगके सदृश समझते हैं वे संसारको पार किए पुरुषोंके समान कहे गए हैं ॥२॥

अग्गं वणिएहिं आहियं, धारंती राईणिया इहं ।
एवं परमा महव्वया अक्खाया उ सराइभोयणा ॥३॥

छाया—अग्रं वणिग्भि राहितं धारयन्ति राजान इह ।
एवं परमानि महाव्रतानि आख्यातानि सरात्रिभोजनानि ।

व्याकरण—(अग्गं) कर्म (वणिएहिं) कर्तृतृतीयान्त । (आहियं) कर्मका विशेषण । (धारंती) क्रिया (राईणिया) कर्ता (इहं) अव्यय । (एवं) अव्यय (सराइभोयणा) (अक्खाया) (परमा) महव्वयाके विशेषण । (महव्वया) कर्म (उ) अव्यय ।

अन्वयार्थ—(इह) इसलोकमें (वणिएहिं) बनियोंके द्वारा (आहियं) दूर देशसे लाए हुए (अग्गं) उत्तमोत्तम वस्तुओंको (राईणिया) राजा महाराजा आदि (धारन्ती) धारण करते हैं (एवं) इसी तरह (आक्खाया) आचार्य्य द्वारा प्रतिपादित (सराइ भोयणा) रात्रि भोजनका परित्यागके सहित (परमा) उत्कृष्ट (महव्वया) महाव्रतोंको साधु पुरुष धारण करते हैं ।

भावार्थ—जैसे बनियोंके द्वारा लाए हुए उत्तमोत्तम रत्न और वस्त्र आदिको बड़े-बड़े राजा महाराजा आदि धारण करते हैं इसी तरह आचार्य्योंके द्वारा कहे हुए, रात्रिभोजनविरमणके सहित पांच महाव्रतोंको साधु पुरुष धारण करते हैं ।

टीका—पुनरप्युपदेशान्तरमधिकृत्याह—

'अग्रं'वर्यं प्रधानं रत्नवस्त्राभरणादिकं तद्यथा वणिग्भिर्देशान्तराद् 'आहितम्' ढौकितं राजानस्तत्कल्पा ईश्वरादयः 'इह' अस्मिन्मनुष्यलोके 'धारयन्ति' बिभ्रति एवमेतान्यपि महाव्रतानि रत्नकल्पानि आचार्यैराख्यातानि प्रतिपादितानि नियोजितानि 'सरात्रिभोजनानि' रात्रिभोजनविरमणषष्ठानि साधवो बिभ्रति, तुशब्दः पूर्वरत्नेभ्यो महाव्रतरत्नानां विशेषापादक इति, इदमुक्तं भवति यथा प्रधानरत्नानां राजान एव भाजनमेवं महाव्रतरत्नानामपि महासत्वा एव साधवो भाजनं नान्ये इति ॥३॥

अब सूत्रकार दूसरा उपदेश देनेके लिए कहते हैं—

जैसे बनियोंके द्वारा दूसरे देशसे लाए हुए प्रधान रत्न, वस्त्र और पात्र आदिको राजा महाराजा तथा राजाके समान बड़े-बड़े ऐश्वर्य्य वाले लोग धारण करते हैं इसी तरह आचार्य्यके द्वारा कहे हुए रात्रिभोजनविरमणके साथ रत्नतुल्य इन पाँच महाव्रतोंको साधु पुरुष धारण करते हैं । यहाँ 'तु' शब्द पूर्व रत्नोंकी अपेक्षा महाव्रतोंकी विशिष्टता बताता है । आशय यह है कि जैसे प्रधान रत्नोंका राजालोग ही भाजन हैं इसी तरह महाव्रत रूपी रत्नोंका महापराक्रमी साधु पुरुष ही पात्र हैं दूसरे नहीं हैं ॥३॥

जे इह सायाणुगा नरा अज्झोववन्ना कामेहिं मुच्छिया ।
किवणेण समं पगब्भिया, न वि जाणंति समाहिमाहितं ॥४॥

छाया—ये इह सातानुगाः नराः अध्युपपन्नाः कामेषु मूर्च्छिताः ।
कृपणेन समं प्रगल्भिताः नाऽपि जानन्ति समाधि माख्यातम् ॥

व्याकरण—(जे) सर्वनाम, नरका विशेषण । (इह) अव्यय (सायाणुगा) नरका विशेषण । (अज्झोववन्ना, कामेहिं मूच्छिया) नरके विशेषण (किवणेण) तुल्यार्थके योगमें तृतीयान्त (समं) क्रियाविशेषण (नरा) कर्ता । (पगब्भिया) नरका विशेषण । (न, वि) अव्यय । (जाणंति) क्रिया । (आहितं) समाधिका विशेषण (समाहिं) कर्म ।

अन्वयार्थ—(इह) इसलोकमें (जे नरा) जो मनुष्य, (सायाणुगा) सुखके पीछे चलते हैं (अज्झोववन्ना) तथा समृद्धि रस और साता गौरवमें आसक्त हैं (कामेहिं) और कामभोगमें मूर्च्छित हैं (किवणेण) वे इन्द्रियलंपटोंके (समं) समान (पगब्भिया) धृष्टताके साथ काम सेवन करते हैं । (आहियं समाहिं) ऐसे लोग कहनेपर भी समाधि-धर्म ध्यानको (न विजाणंति) नहीं समझते हैं ।

भावार्थ—इस लोकमें जो पुरुष सुखके पीछे चलते हैं तथा समृद्धि रस और सातागौरवमें आसक्त हैं एवं काम भोगमें मूर्च्छित हैं वे इन्द्रियलम्पटोंके समान ही काम सेवनमें धृष्टता करते हैं । ऐसे लोग कहनेपर भी धर्मध्यानको नहीं समझते हैं ।

टीका—किञ्च ये नरा लघुप्रकृतयः 'इह' अस्मिन् मनुष्यलोके सातं सुखमनुगच्छन्तीति सातानुगाः सुखशीला ऐहिकामुष्मिकापायभीरवः समृद्धिरससातागौरवेषु 'अध्युपपन्ना' गृद्धाः तथा 'कामेषु' इच्छामदनरूपेषु 'मूर्च्छिता' कामोत्कटतृष्णाः कृपणो दीनो वराकक इन्द्रियैः पराजितस्तेन समाः तद्वत्कामासेवने 'प्रगल्भिताः' धृष्टतां गताः, यदि वा किमनेन स्तोकेन दोषेणासम्यक्प्रत्युपेक्षणादिरूपेणास्मत्संयमस्य विराधनं भविष्यत्येवं प्रमादवन्तः कर्तव्येष्ववसीदन्तः समस्तमपि संयमं पटवन्मणिकुट्टिम-

---

इस मनुष्यलोकमें, जो मनुष्य लघुप्रकृतिवाले हैं और इसलोक और परलोकके दुःखोंसे डरते हुए सुखके पीछे चलते हैं तथा समृद्धि रस और साता गौरवमें आसक्त हैं एवं काम भोगमें उत्कट तृष्णावाले हैं वे, इन्द्रियोंसे पराजित दीन पुरुषके समान कामसेवनमें धृष्टता करते हैं । अथवा जो पुरुष यह समझते हैं कि "अच्छी तरह प्रतिलेखन आदि समितिका पालन नहीं करने आदि अल्प दोषोंसे क्या मेरा संयम नष्ट हो सकता है ?" वे इस प्रकार प्रमाद करते हुए वस्त्र

बद्धा मलिनीकुर्वन्ति, एवम्भूताश्च ते 'समाधिं' धर्मध्यानादिकम् 'आख्यातं' कथितमपि न जानन्तीति ॥ ४ ॥

और मणिमय भूमिकी तरह निर्मल अपने समस्त संयमको मलिन कर डालते हैं। ऐसे लोग कहनेपर भी धर्मध्यान आदिको नहीं समझते हैं ॥४॥

वाहेण जहावविच्छए, अबले होइ गवं पचोइए।
से अंतसो अप्पथामए, नाइवहइ अबले विसीयति ॥५॥

छाया—वाहेन यथावविक्षतोऽबलो भवति गौः प्रचोदितः।
सोऽन्तशोऽल्पस्थामा नातिवहत्यबलो विषीदति ॥

व्याकरण—(वाहेण) कर्तृतृतीयान्त। (जहा) अव्यय (ववििच्छए, पचोइए, अबले) गवंके विशेषण (अप्पथामए) गवंका विशेषण। (अंतसो) अव्यय (से) गवंका विशेषण (अइवहइ) क्रिया (गवं) कर्ता।

अन्वयार्थ—(जहा) जैसे (वाहेन) गाड़ीवान्के द्वारा (ववििच्छए) चाबुक मारकर (पचोइए) प्रेरित किया हुआ (अबले) दुर्बल (गवं) बैल चल नहीं सकता है। किंतु (से) वह (अप्पथामए) अल्प सामर्थ्यवाला (अबले) दुर्बल बैल, (अंतसो) आखिरकार (नाइवहइ) भार वहन नहीं कर सकता है अपितु (विसीयइ) कीचड़ आदिमें फँसकर क्लेश भोगता है।

भावार्थ—जैसे गाड़ीवान्के द्वारा चाबुक मारकर प्रेरित किया हुआ भी दुर्बल बैल कठिन मार्गको पार नहीं करता है किन्तु अल्प पराक्रमी तथा दुर्बल होनेके कारण वह विषम मार्गमें क्लेश भोगता है परंतु भार वहन करनेमें समर्थ नहीं होता है।

पुनरप्युपदेशान्तरमधिकृत्याह—

टीका—'व्याधेन' लुब्धकेन 'जहा व'त्ति यथा 'गव'न्ति मृगादिपशुर्विविधमनेकप्रकारेण कूटपाशादिना क्षतः परवशीकृतः श्रमं वा ग्रहितः प्रणोदितोऽप्यबलो भवति, जातश्रमत्वात् गन्तुमसमर्थः, यदिवा वाहय-

फिर शास्त्रकार दूसरा उपदेश देते हैं जैसे—मृग आदि पशु व्याधके द्वारा कूटपाश आदि अनेक प्रकारसे घायल किया हुआ अथवा थकाया हुआ दुर्बल हो जाता है अतः प्रेरणा करने पर भी वह थक जानेके कारण चल नहीं सकता है। अथवा वहन करानेवालेको 'वाह' कहते हैं। 'वाह' नाम गाडीवानका

तीति वाहः शाकटिकस्तेन यथावदवहन् गौ र्विविधं प्रतोदादिना क्षतः प्रचोदितोऽप्यबलो विषमपथादौ गन्तुमसमर्थो भवति, 'सचान्तशः' मरणान्तमपि यावदल्पसामर्थ्यो नातीव वोढुं शक्नोति, एवम्भूतश्च 'अबलो' भारं वोढुमसमर्थः तत्रैव पङ्कादौ विषीदतीति ॥ ५ ॥

है। जैसे गाड़ीको ठीक ठीक वहन नहीं करते हुए बैलको गाड़ीवान्, चाबुक मारकर चलनेके लिए प्रेरित करता है परंतु दुर्बल होनेके कारण वह बैल विषम मार्गमें चल नहीं सकता वह मरणान्त कष्ट पाकर भी दुर्बल होनेके कारण भारको वहन नहीं कर सकता किन्तु वहीं कीचड़ आदि विषम स्थानोंमें कष्ट भोगता है॥ ५ ॥

एवं कामेसणं विऊ अज्जसुए पयहेज्ज संथवं ।
कामी कामे ण कामए लद्धेवावि अलद्ध कण्हुई ॥६॥

छाया—एवं कामेषणायां विद्वान् अद्यश्वः प्रजह्यात्संस्तवम् ।
कामी कामान्न कामये ल्लब्धान्वाऽप्यलब्धान् कुतश्चित् ॥

व्याकरण—(एवं) अव्यय। (कामेसणं) कर्म। (विऊ) कामीका विशेषण। (अज्जसुए) अव्यय। (पयहेज्ज) क्रिया। (संथवं) कर्म। (कामी) कर्ता। (ण) अव्यय। (कामए) क्रिया। (लद्धे) कामका विशेषण। (वावि) अव्यय। (अलद्ध) कामका विशेषण। (कण्हुई) अव्यय।

अन्वयार्थ—(एवं) इसी तरह (कामेसणं विऊ) कामके अन्वेषणमें निपुण पुरुष, (अज्जसुए) आज या कल (संथवं) कामभोगकी एषणाको (पयहेज्ज) छोड़ देवे ऐसी चिन्तामात्र करता है परंतु (कामी) कामी पुरुष (कामे) कामकी (न कामए) कामना न करे और (लद्धेवावि) और मिले हुए कामभोगको भी (अलद्ध कण्डुइ) नहीं मिलेके समान जाने ।

भावार्थ—काम भोगके अन्वेषणमें निपुण पुरुष, आज या कल कामभोगको छोड़ दे ऐसी वह चिन्ता मात्र करता है परंतु छोड़ नहीं सकता है। अतः काम भोगकी कामनाही न करनी चाहिए और प्राप्त कामभोगोंको अप्राप्तकी तरह जानकर उनसे निःस्पृह होजाना चाहिए।

टीका—दार्ष्टान्तिकमाह—'एवम्' अनन्तरोक्तया नीत्या कामानां शब्दादीनां विषयाणां या गवेषणा प्रार्थना तस्यां कर्तव्यायां 'विद्वान्' निपुणः कामप्रार्थनासक्तः शब्दादिपङ्के मग्नः स चैवंभूतोऽद्यश्वो वा संस्तवं परिचयं कामसम्बन्धं प्रजह्यात् किलेति, एवमध्यवसाय्येव सर्वदाऽवतिष्ठते न च तान् कामान् अबलो बलीवर्दवत् विषमं मार्गं त्यक्तु मलं, किञ्च—नचैहिकामुष्मिकापायदर्शितया कामी भूत्वोपनतानपि कामान् शब्दादिविषयान् वैरस्वामिजम्बूनामादिवद्वा कामयेदभिलषेदिति, तथा क्षुल्लककुमारवत् कुतश्चिन्निमित्तात् "सुट्ठुगाइय" मित्यादिना प्रतिबुद्धो लब्धानपि प्राप्तानपि कामान् अलब्धसमान् मन्यमानो महा सत्त्वतया तन्निस्पृहो भवेदिति ॥ ६ ॥

दृष्टान्त बताकर अब सूत्रकार दार्ष्टान्त बताते हैं—

पूर्वोक्त प्रकारसे शब्दादिविषयोंके अन्वेषण करनेमें निपुण अर्थात् कामकी प्रार्थनामें आसक्त पुरुष शब्दादिरूप विषयपंकमें फँस कर आज या कल कामके परिचयको छोड़ देवे ऐसा विचारमात्र सदा किया करता है परंतु दुर्बल बैल जैसे विषममार्गको नहीं छोड़ सकता है उसी तरह वह उन कामोंको नहीं छोड़ सकता है। अतः कामी होकर भी इस लोक और परलोकके कष्टको देखकर मिले हुए शब्दादि विषयों को वैरस्वामी और जम्बूस्वामी आदि की तरह इच्छा न करनी चाहिए तथा क्षुल्लककुमारकी तरह किसी भी निमित्तसे प्रतिबोध पाए हुए पुरुषको मिले हुए विषयोंको नहीं मिले हुएके समान ही जानकर तथा महासत्त्व बनकर उनसे निःस्पृह हो जाना चाहिए ॥ ६ ॥
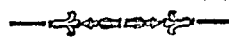
मा पच्छ असाधुता भवे, अच्चेही अणुसास अप्पगं ।
अहियं च असाहु सोयती से थणति परिदेवती बहु ॥७॥

छाया—मा पश्चादसाधुता भवे दत्येह्यनुशाध्यात्मानम् ।
अधिकञ्चासाधुः शोचते स स्तनति परिदेवते बहु ॥

व्याकरण—(मा, पच्छ) अव्यय । (असाधुता) कर्ता (अच्चेही, अणुसास) क्रिया (अप्पगं) कर्म । (अहियं) क्रियाविशेषण । (च) अव्यय । (असाहु) कर्ता । (सोयती) क्रिया । (से) असाधुका विशेषण । (थणति, परिदेवती) क्रिया । (बहु) क्रियाविशेषण ।

अन्वयार्थ (पच्छ) पीछे (मा असाधुता भवे) दुर्गति गमन न हो इसलिए (अच्चेही) विषय सेवनसे (अप्पगं) अपने आत्माको पृथक् करो (अणुसास) और उसे शिक्षा दो (असाहु) असाधु पुरुष (अहियंच) अधिक (सोयती) शोक करता है (से; थणति) वह बहुत चिल्लाता है (बहु परिदेवती) और वह बहुत रोता है ।

भावार्थ—मरण कालके पश्चात् दुर्गति न हो इसलिए विषयसेवनसे अपने आत्माको हटा देना चाहिए और उसे शिक्षा देनी चाहिए कि असाधु पुरुष, बहुत शोककरता है वह चिल्लाता है और रोता है ।

टीका—किमिति कामपरित्यागो विधेय इत्याशङ्क्याह—मा पश्चात् मरणकाले भवान्तरे वा कामानुषङ्गाद् असाधुता कुगतिगमनादिरूपा भवेत् प्राप्नुयादिति, अतो विषयासङ्गादात्मानम् अत्येहि त्याजय तथा आत्मानञ्च अनुशाधि आत्मनोऽनुशास्तिं कुरु तथा हे जीव! यो हि असाधुः असाधुकर्मकारी हिंसाऽनृतस्तेयादौ प्रवृत्तः सन् दुर्गतौ पतितः अधिकम् अत्यर्थमेवं शोचति स च परमाधार्मिकैः कदर्थ्यमानः तिर्य्यक्षु वा क्षुधादिवेदनाग्रस्तोऽत्यर्थं स्तनति सशब्दं निःश्वसिति तथा परिदेवते विलपति आक्रन्दति सुबह्विति हा मात म्रियत इति त्राता नैवाऽस्ति साम्प्रतं कश्चित् किं शरणं मे स्यादिह दुष्कृतचरितस्य पापस्य । इत्येवमादीनि दुःखान्यसाधुकारिणः प्राप्नुवन्तीत्यतो विषयानुषङ्गो न विधेय इत्येव मात्मनोऽनुशासनं कुर्विति सम्बन्धनीयम् ॥ ७ ॥

कामका परित्याग क्यों करना चाहिए ? यह आशंका करके सूत्रकार कहते हैं—

काममें आसक्त होनेके कारण मरण कालमें अथवा दूसरे भवमें दुर्गति न हो इसलिए विषय सेवनसे अपनेको अलग हटाना चाहिए तथा अपने आत्माको इस प्रकार शिक्षा देनी चाहिए कि "हे जीव ! हिंसा झूठ तथा चोरी आदि असत् कर्म करने वाला असाधु पुरुष, दुर्गतिमें जाकर परमाधार्मिकोंके द्वारा पीड़ित किया जाता हुआ बहुत शोक करता है तथा तिर्यञ्च होकर क्षुधासे व्याकुल वह जीव बहुत चिल्लाता है तथा वह बहुत रोता हुआ कहता है कि 'हे मातः मैं मर रहा हूँ मेरा कोई इस समय रक्षक नहीं है । मैंने बड़ा पाप किया है । मुझ पापीका शरण इस समय कौन हो सकता है ?। इस प्रकार असत्कर्मकरनेवाले पुरुष, बहुत दुःख भोगते हैं इसलिए पुरुषको विषयसंसर्ग नहीं करना चाहिए इसप्रकार आत्माको शिक्षा दो।
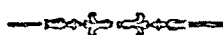
इह जीविय मेव पासहा, तरुण एवा (णवा) ससयस्य तुट्टती ।
इत्तरवासे य बुज्झह गिद्धनरा कामेसु मुच्छिया ॥ ८ ॥

छाया—इह जीवितमेव पश्यत तरुण एव वर्षशतस्य त्रुट्यति ।
इत्वरवासश्च बुध्यध्वं गृद्धनराः कामेषु मूर्च्छिताः ॥

व्याकरण—(इह) अव्यय । (जीवियं) कर्म । (एव) अव्यय । (पासहा) क्रिया मध्यम पुरुष । (तरुणे) अधिकरण । (वाससयस्स) सम्बन्धषष्ठ्यन्तपद (तुट्टती) क्रिया । (इत्तरवासे) कर्म । (य) अव्यय । (बुज्झह) क्रिया । (गिद्धनरा) कर्ता । (कामेसु) अधिकरण । (मुच्छिया) नरका विशेषण ।

अन्वयार्थ—(इह) इसलोकमें (जीवियमेव) जीवनको ही (पासह) देखो । (वाससयस्स) सौ वर्षकी आयुवाले पुरुपका भी जीवन, (तरुण एव) युवावस्थामें ही (तुट्टती) नष्ट हो जाता है । (इत्तरवासेव बुज्झह) इस जीवनको थोड़े दिनके निवासके समान समझो । (गिद्धनरा) क्षुद्र मनुष्य (कामेपु) कामभोगमें (मूच्छिया) मूर्च्छित होते हैं ।

भावार्थ—हे मनुष्यों ! इस मर्त्यलोकमें पहले तो अपने जीवनको ही देखो । कोई मनुष्य शतायु होकर भी युवावस्थामें ही मृत्युको प्राप्त होते हैं । अतः इस जीवनको थोड़े कालका निवासके समान समझो । क्षुद्र मनुष्य ही विषय भोगमें आसक्त होते हैं ।

टीका—'किञ्च इह अस्मिन् संसारे आस्तां तावदन्यज्जीवितमेव सकलसुखास्पदमनित्यताघ्रातम् आवीचिमरणेन प्रतिक्षणं विशरारुस्वभावं,

---

इस संसारमें और वस्तुओंकी तो वात ही क्या है ? समस्त सुखोंका स्थान अपने जीवन को ही पहले देखो । यह जीवन, अनित्यतासे युक्त है और * आवीचि

---

* "आ समंताद्वीचय इव वीचयः"
आयुर्दलिकविच्युतिलक्षणा अवस्था यस्मिंस्तदावीचि । अथवा वीचिर्विच्छेदस्तदभावादवीचिः दीर्घत्वंतु प्राकृतत्वात्तदेवंभूतं मरणमावीचिमरणम्" ।

जैसे समुद्रकी तरंगे प्रतिक्षण ऊपर आकर नष्ट होती रहती हैं इसी तरह प्रतिक्षण आयुका नष्ट होना आवीचिमरण कहलाता है । अथवा विच्छेद होना वीचि कहलाता है और विच्छेद न होना अवीचि है अर्थात् जो लगातार होता रहता है उसे आवीचि कहते हैं अतः प्रतिक्षण होनेवाले आयुका नाशरूपी मरणको आवीचिमरण कहते हैं । यहां प्राकृतत्वात् दीर्घ हुआ है ।

तथा सर्वायुःक्षय एव वा तरुण एव वा युवैव वर्षशतायुरप्युपक्रमतोऽध्यवसाननिमित्तादिरूपादायुषः त्रुट्यति प्रच्यवते यदिवा साम्प्रतं सुवह्वप्यायुर्वर्षशतं तच्च तस्य तदन्ते त्रुट्यति तच्च सागरोपमापेक्षया कतिपयनिमेष प्रायत्वात् इत्वरवासकल्पं वर्तते स्तोकनिवासकल्पमित्येवं बुध्यध्वं यूयं तथैवंभूतेऽप्यायुषि नराः पुरुषाः लघुप्रकृतयः कामेषु शब्दादिषु विषयेषु गृद्धा अध्युपपन्नाः मूर्च्छिताः तत्रैवासक्तचेतसो नरकादियातनास्थान माप्नुवन्तीति शेषः ॥ ८ ॥

मरणसे प्रतिक्षण विनाशी है। समस्त आयु क्षीण होने पर अथवा अध्यवसान * निमित्तस्वरूप उपक्रमके कारण कोई शतायु पुरुष भी युवावस्थामें ही मर जाता है। अथवा इस मर्त्यलोकमें सबसे बड़ी आयु सौ वर्षकी मानी जाती है वह भी सौ वर्षके अन्तमें समाप्त हो ही जाती है और वह आयु सागरोपम कालकी अपेक्षा कई एक निमिषके समान ही है इसलिए वह थोड़े दिनके निवासके समान है यह समझो। आयुकी ऐसी अवस्थामें क्षुद्र अर्थात् लघु प्रकृतिके जीव ही शब्दादि विषयोंमें आसक्त होते हैं और आसक्त होकर नरक आदि यातना स्थानको प्राप्त करते हैं ॥ ८ ॥
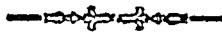
जे इह आरंभनिस्सिया, आतदंडा (ड) एगंतलूसगा।
गंता ते पावलोगयं, चिररायं आसुरियं दिसं ॥९॥

छाया—य इह आरंभनिश्रिता आत्मदण्डा एकान्तलूषकाः।
गंतारस्ते पापलोककं चिररात्र मासुरीं दिशम् ॥

व्याकरण—(इह) अव्यय। (जे, आरंभनिस्सिया, आतदंडा, एगंतलूसगा, ते)

* (अध्यवसान निमित्त)

"अतिहर्षविषादाभ्यामधिकमवसानं चिन्तनमध्यवसानं तस्मादायुर्भिद्यते उपक्रम्यते आयुरतिशयेन हृदयांशरोधात्" अथवा रागस्नेहभयभेदादध्यवसानं त्रिधा तस्मादायुर्भिद्यते। निमित्तं दण्डकशादिकं तत्र च सत्यायु र्भिद्यते।"

अत्यन्त हर्ष और विषादके कारण अतिचिन्ता करना अध्यवसान कहलाता है। इसके होने पर आयु नष्ट हो जाती है क्योंकि अतिचिन्तासे हृदयकी गति रुक जाती है। अथवा रागद्वेष और भयके कारण भी अति चिन्ता उत्पन्न होती है और उससे आयु नष्ट हो जाती है। लाठी चावुक आदिको निमित्त कहते हैं इनसे भी आयु नष्ट हो जाती है।

ये सब अध्याहृत नरके विशेषण हैं। (पावलोगयं) कर्म (चिररायं) क्रियाविशेषण (आसुरियं दिसं) पापलोकका विशेषण। (गंता) नरका विशेषण।

अन्वयार्थ—(इह) इस लोकमें (जे) जो मनुष्य, (आरंभनिस्सिया) आरंभमें आसक्त (आत्तदंडा) आत्माको दंड देनेवाले (एगंतलूसगा) और एकान्तरूपसे प्राणियोंके हिंसक हैं (ते) वे (पावलोगयं) पापलोक यानी नरकमें (चिररायं) चिरकालके लिए (गंता) जाते हैं (आसरियं दिसं) तथा वे असुर सम्बन्धी दिशाको जाते हैं।

भावार्थ—जो मनुष्य आरंभमें आसक्त तथा आत्माको दंड देनेवाले और जीवोंके हिंसक हैं वे चिरकालके लिए नरक आदि पापलोकोंमें जाते हैं। यदि बाल तपस्या आदिसे वे देवता हों तो भी अधम असुरसंज्ञक देवता होते हैं।

टीका—अपि च ये केचन महामोहाकुलितचेतसः इह अस्मिन् मनुष्यलोके आरम्भे हिंसादिके सावद्यानुष्ठानरूपे निश्चयेन श्रिताः संबद्धा अध्युपपन्नास्ते आत्मानं दण्डयन्तीत्यात्मदण्डकाः तथैकान्तेनैव जन्तूनां लूषकाः हिंसकाः सदनुष्ठानस्य वा ध्वंसकाः, ते एवंभूताः गन्तारो यास्यन्ति पापं लोकं पापकारिणां यो लोको नरकादिः चिररात्रम् इति प्रभूतं कालं तन्निवासिनो भवन्ति तथा बालतपश्चरणादिना यद्यपि तथाविध-देवत्वापत्तिः तथापि असुराणामियमासुरी तां दिशं यान्ति अपरप्रेष्याः किल्बिषिकाः देवाधमाः भवन्तीत्यर्थः ॥ ९ ॥

महामोहके प्रभावसे जिनका चित्त आकुल है ऐसे जो लोग इस मनुष्यलोकमें सावद्यानुष्ठानरूप हिंसा आदि कार्य्योंमें निश्चयरूपसे आसक्त हैं तथा आत्माको दंड देनेवाले और प्राणियोंके एकान्तरूपसे हिंसक हैं अथवा सत्कर्मके विध्वंसक हैं, वे पापियोंके लोक नरक आदि स्थानोंमें जाते हैं और वे वहां चिर-काल तक निवास करते हैं। यदि बालतपस्या आदिके प्रभावसे वे दवता हों तो भी असुरसम्बन्धी दिशाको ही जाते हैं अर्थात् वे दूसरोंके दासभूत अधम किल्बिषी देवता होते हैं ॥ ९ ॥
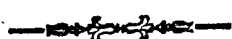
णा य संखय माहु जीवितं तहवि य बालजणो पगब्भई।
पच्चुप्पन्नेन कारियं, को दट्ठुं परलोय मागते ॥१०॥

छाया—न च संस्कार्य्य माहु जीवितं तथापि च बालजनः प्रगल्भते।
प्रत्युत्पन्नेन कार्य्यं को दृष्ट्वा परलोक मागतः ॥

व्याकरण—(ण, य) अव्यय (जीवितं) कर्म (संखयं) जीवितका विशेषण (आहु) क्रिया । (तहवि य) अव्यय (वालजणो) कर्ता (पगब्भई) क्रिया । (पच्चुप्पन्नेन) अभेद तृतीयान्त (कारियं) अध्याहृत अस्तिक्रियाका कर्ता । (को) कर्ता ((दट्ठुं) पूर्वकालिकक्रिया (परलोयं) कर्म (आगते) कर्ताका विशेषण ।

अन्वयार्थ—(जीवितं) जीवनको (संखयं) संस्कार करने योग्य (ण य आहु) सर्वज्ञोंने नहीं कहा है (तहविय) तो भी (बालजणो) मूर्ख जन (पगब्भई) पाप करनेमें धृष्टता करते हैं । वे कहते हैं कि (पच्चुप्पन्नेन कारियं) मुझको तो वर्तमान सुखसे प्रयोजन है (परलोयं) परलोकको (दट्ठुं) देखकर (को आगयो) कौन आया है ।

भावार्थ—सर्वज्ञ पुरुषोंने कहा है कि "यह जीवन संस्कार करने योग्य नहीं है" तथापि मूर्ख जीव पाप करनेमें धृष्टता करते हैं । वे कहते हैं कि हमको वर्तमान सुखसे प्रयोजन है, परलोकको देखकर कौन आया है ।

टीका—किञ्च न च नैव त्रुटितं जीवितमायुः संस्कर्त्तुं संधातुं शक्यते एवमाहुः सर्वज्ञाः तथाहि—"दंडकलियं करिन्ता वच्चंति हु राइओ य दिवसा य । आउं संवेल्लंता गता य ण पुणो निवत्तंति" ॥१॥ तथापि एवमपि व्यवस्थिते जीवानामायुषि बालजनो अज्ञो लोको निर्विवेकतया असदनुष्ठाने प्रवृत्तिं कुर्वन् प्रगल्भते धृष्टतां याति असदनुष्ठानेनाऽपि न लज्जत इत्यर्थः सचाज्ञो जनः पापानि कर्माणि कुर्वन् परेण चोदितो धृष्टतया अलीकपाण्डित्याभिमानेनेदमुत्तरमाह—प्रत्युत्पन्नेन वर्तमानकालभाविना परमार्थसता अतीतानागतयोर्विनष्टानुत्पन्नत्वेनाविद्यमानत्वात् कार्य्यं प्रयोजनं प्रेक्षापूर्वकारिभिस्तदेव प्रयोजनसाधकत्वादादीयते, एवञ्च

सर्वज्ञ पुरुषोंने कहा है कि "टुटी हुई आयु जोड़ी नहीं जासकती है क्योंकि दिन और रात्रि दण्ड घटीके प्रमाणसे आयुको क्षीण करती हुई' व्यतीत होती हैं जो व्यतीत हो जाती हैं वे फिर लौटकर नहीं आती हैं । यद्यपि जीवोंकी आयुकी ऐसी ही व्यवस्था है तथापि अज्ञानी जीव, निर्विवेकी होनेके कारण असत्कर्मके अनुष्ठानमें धृष्टताके साथ प्रवृत्ति करते हैं । वे असत्कर्मके अनुष्ठानसे लज्जित नहीं होते हैं । उन पाप कर्म करनेवालोंको पाप कर्म करते हुए देखकर यदि कोई पाप न करनेके लिए उपदेश करता है तो वे मिथ्या पाण्डित्यके अभिमानसे यह उत्तर देते हैं कि "हमको तो वर्तमानकालसे प्रयोजन है क्योंकि वर्तमानकालमें होनेवाले पदार्थ ही वस्तुतः सत् हैं अतीत और अनागत पदार्थ नहीं । वे तो विनष्ट और अनुत्पन्न होनेके कारण अविद्यमान हैं । बुद्धिमान् पुरुष वर्तमानकालके पदार्थोंको ही स्वीकार करते हैं क्योंकि वेही प्रयोजनको सिद्ध

सतीहलोक एव विद्यते न परलोक इति दर्शयति कः परलोकं दृष्ट्वेहायातः तथा चोचुः—पिब खाद च साधु शोभने ! यदतीतं वरगात्रि ! तन्न ते । नहि भीरु ! गतं निवर्तते समुदयमात्रमिदं कलेवरम् ॥ १ ॥ तथा एतावानेव पुरुषो यावानिन्द्रियगोचरः । भद्रे ! वृकपदं पश्य यद् वदन्त्यबहुश्रुताः २ । इति ॥ १० ॥

करते हैं । अतः वे कहते हैं कि "यह लोक ही वास्तवमें सत् हैं परलोकमें कोई प्रमाण नहीं हैं । परलोक को देखकर कौन आया है ?" तथा उन्होंने यह श्लोक भी कहा है "पिव" इत्यादि । अर्थात हे सुन्दरि ? अच्छे अच्छे पदार्थ खाओ और पीओ । जो वस्तु बीत गई है वह तुम्हारी नहीं है । हे भीरु ! गत वस्तु लौटकर नहीं आती है तथा यह शरीर भी महाभूतोंका समुदायस्वरूप है । तथा हे भद्रे ! जितना देखनेमें आता है उतना ही पुरुष है परंतु अज्ञ लोग जिस तरह मनुष्यके पंजेको पृथिवी पर उखड़े हुए देखकर भेड़ियेके पैरकी मिथ्या ही कल्पना करते हैं उसी तरह मिथ्या ही लोकान्तरकी कल्पना है ॥ १० ॥

अदक्खुव दक्खुवाहियं, (तं) सद्दहसु अदक्खुदंसणा ! ।
हंदि हु सुनिरुद्धदंसणे मोहणिज्जेण कडेण कम्मुणा ॥११॥

छाया—अपश्यवत् ! पश्यव्याहृतं श्रद्धत्स्व अपश्यदर्शन !
गृहाण सुनिरुद्धदर्शनः मोहनीयेन कृतेन कर्मणा ॥

व्याकरण—(अदक्खु व, अदक्खुदंसणा) ये सम्बोधन हैं । (दक्खुवाहियं) कर्म (सद्दहसु) क्रिया (हंदि) क्रिया (हु) अव्यय (मोहणिज्जेण, कडेण) कर्मके विशेषण । (कम्मुणा) हेतुतृतीयान्त (सुनिरुद्धदंसणे) कर्ता ।

अन्वयार्थ—(अदक्खुव) हे अन्धतुल्य पुरुष ! (दक्खुवाहियं) सर्वज्ञ पुरुषसे कहे हुए सिद्धान्तमें (सद्दहसु) श्रद्धा करो । (अदक्खुदंसणा) हे असर्वज्ञ दर्शनवालों ! (मोहणिज्जेण कडेण) स्वयं किए हुए मोहनीय (कम्मुणा) कर्मसे (सुनिरुद्धदंसणे) जिसकी ज्ञान दृष्टि बंद हो गई है वह सर्वज्ञोक्त आगमको नहीं मानता है (हंदि हु) यह जानो ।

भावार्थ—हे अन्ध तुल्य पुरुष ? तूँ सर्वज्ञोक्त सिद्धान्त में श्रद्धाशील बनो । हे असर्वज्ञोक्त आगम को स्वीकार करने वाले जीवों ? जिसकी ज्ञान दृष्टि अपने किए हुए मोहनीय कर्मके प्रभावसे बंद हो गई है वह सर्वज्ञोक्त आगमको नहीं मानता है यह समझो ।

टीका—एवमैहिकसुखाभिलाषिणा परलोकं निन्हुवानेन नास्तिकेन अभिहिते प्रत्युत्तरप्रदानायाह—पश्यतीति पश्यो न पश्योऽपश्योऽन्धस्तेन तुल्यः कार्य्याकार्य्याविवेचित्वादन्धवत्तस्यामन्त्रणं हेऽपश्यवत् अन्धसदृश ! प्रत्यक्षस्यैवैकस्याभ्युपगमेन कार्य्याकार्य्यानभिज्ञ ! पश्येन सर्वज्ञेन व्याहृतम् उक्तं सर्वज्ञागमं श्रद्धत्स्व प्रमाणीकुरु प्रत्यक्षस्यैवैकस्याभ्युपगमेन समस्तव्यवहारविलोपेन हन्त हतोऽसि, पितृनिबन्धनस्याऽपि व्यवहारस्यासिद्धेरिति तथा अपश्यकस्य असर्वज्ञस्याभ्युपगतं दर्शनं येनासावपश्यकदर्शनस्तस्याऽऽमन्त्रणं हेऽपश्यकदर्शन ! स्वतोऽर्वाग्दर्शी भवांस्तथाविधदर्शनप्रमाणश्च सन् कार्य्याकार्य्याविवेचितया अन्धवदभविष्यद् यदि सर्वज्ञाभ्युपगमं नाकरिष्यत् यदि वा अदक्षो वा अनिपुणो वा दक्षो वा निपुणो वा यादृश स्तादृशो वा अचक्षुर्दर्शनमस्यासावचक्षुर्दर्शनः केवलदर्शनः सर्वज्ञस्तस्माद्यदवाप्यते हितं तत् श्रद्धत्स्व इदमुक्तं भवति अनिपुणेन निपुणेन

इस प्रकार ऐहिक सुखकी इच्छा करनेवाले और परलोकको मिथ्या कहनेवाले नास्तिकके कथनका उत्तर देनेके लिए शास्त्रकार कहते हैं—

जो देखता है उसे 'पश्य' कहते हैं और जो नहीं देखता है यानी अंधा है उसे 'अपश्य' कहते हैं। जो पुरुष कर्तव्य और अकर्तव्यके विचारसे शून्य है वह अन्ध पुरुषके सदृश है उसीका संबोधन करते हुए कहते हैं कि "हे अन्धके समान पुरुष ! एक प्रत्यक्षको ही प्रमाण माननेके कारण हे कर्तव्य और अकर्तव्यके विवेकसे रहित पुरुष ! तूं सर्वज्ञ पुरुषसे कहे हुए आगममें श्रद्धा रख। एक प्रत्यक्षको ही प्रमाण स्वीकार करने पर समस्त व्यवहार लोप हो जानेसे तूं नाशको प्राप्त होगा क्योंकि एक प्रत्यक्षको ही प्रमाण मानने पर कौन किसका पिता है और कौन किसका पुत्र है इत्यादि व्यवहार भी नहीं हो सकता है। तथा हे असर्वज्ञ पुरुषके कहे हुए दर्शनको स्वीकार करनेवाला जीव ! प्रथमतो तूं स्वयं अर्वाग्दर्शी यानी सामनेके पदार्थको देखनेवाला है और उसपर भी एक प्रत्यक्षको ही प्रमाण माननेवाले दर्शनको स्वीकार करता है ऐसी दशामें यदि तूं सर्वज्ञोक्त आगमको स्वीकार नहीं करेगा तो कर्तव्य और अकर्तव्यके विवेकसे रहित होकर अन्ध पुरुषके सदृश हो जायगा। अथवा हे अन्यदर्शनवाला पुरुष ! चाहे तूं अदक्ष यानी अनिपुण है अथवा दक्ष यानी निपुण है, जैसा भी क्यों न है तुझको अचक्षुर्दर्शन यानी केवल ज्ञानी सर्वज्ञ पुरुषके द्वारा जो हितकी प्राप्ति होती है उसमें श्रद्धा करनी चाहिए। आशय यह है कि निपुण हो अथवा अनिपुण हो, सभीको सर्वज्ञ दर्शनोक्त हितमें

वा सर्वज्ञदर्शनोक्तं हितं श्रद्धातव्यम् । यदिवा हेऽदृष्ट ! हे अर्वाग्दर्शन ! द्रष्ट्रा अतीतानागतव्यवहितसूक्ष्मपदार्थदर्शिना यद् व्याहृतम् अभिहितम् आगमे तत् श्रद्धत्स्व हे अदृष्टदर्शन ! अदक्षदर्शन ! इति वा असर्वज्ञोक्त-शासनानुयायिन् ! तमात्मीयमाग्रहं परित्यज्य सर्वज्ञोक्ते मार्गे श्रद्धानं कुर्विति तात्पर्य्यार्थः । किमिति सर्वज्ञोक्ते मार्गे श्रद्धानमसुमान्न करोति येनैवमुपदिश्यते ? तन्निमित्तमाह—हंदीत्येवंगृहाण हु शब्दो वाक्यालङ्कारे सुष्ठु अतिशयेन निरुद्ध मावृतं दर्शनं सम्यगवबोधरूपं यस्य स तथा केनेत्याह—मोहयतीति मोहनीयं मिथ्यादर्शनादि ज्ञानावरणादिकं वा तेन स्वकृतेन कर्मणा निरुद्धदर्शनः प्राणी सर्वज्ञोक्तं मार्गं न श्रद्धत्ते अतः सन्मार्ग श्रद्धानम्प्रति चोद्यत इति ॥ ११ ॥

श्रद्धा रखनी चाहिए । अथवा हे अदृष्ट—अर्वाग्दर्शिन् ! भूत भविष्यत् व्यवहित और सूक्ष्म पदार्थोंको जाननेवाले सर्वज्ञ पुरुषने आगममें जो कहा है उसमें श्रद्धा रखो । अथवा हे अदृष्टदर्शन ! अर्थात् हे असर्वज्ञोक्त दर्शनके अनुयायिन् ! तू अपने आग्रहको छोड़कर सर्वज्ञोक्त मार्गमें श्रद्धा करो यह तात्पर्य्यार्थ है । कहते हैं कि सर्वज्ञोक्त मार्गमें प्राणी क्यों नहीं श्रद्धा करता है जिससे यह उपदेश करते हो ? तो इसका कारण बतानेके लिए सूत्रकार कहते हैं 'हु' शब्द वाक्यालङ्कारमें आया है । जिस पुरुषका दर्शन यानी सम्यक् ज्ञान अत्यंत रुक गया है उसे निरुद्धदर्शन कहते हैं । किससे उसका ज्ञान रुक गया है ? सो बताते हैं । जीवोंको मोहित करनेवाले मिथ्यादर्शन आदि अथवा ज्ञानावरणीय आदि अपने किए कर्मके द्वारा जिसका ज्ञान रुक गया है वह प्राणी सर्वज्ञोक्त मार्गमें श्रद्धा नहीं करता है इसलिए शास्त्रकार, सर्वज्ञोक्त मार्गमें श्रद्धा करनेकी प्रेरणा करते हैं ॥ ११ ॥

—— ❀ ——
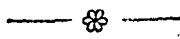
दुक्खी मोहे पुणो पुणो, निव्विंदेज्ज सिलोगपूयणं ।
एवं सहितेऽहिपासए, आयतुले पाणेहिं संजए ॥१२॥

छाया—दुःखी मोहं पुनः पुनर्निर्विन्देत श्लोकपूजनम् ।
एवं सहितोऽधिपश्येद् आत्मतुल्यान् प्राणान् संयतः ॥

व्याकरण—(दुक्खी) कर्ता (मोहे) कर्म (पुणोपुणो) अव्यय । अध्याहृत याति क्रिया (सिलोगपूयणं) कर्म (निव्विंदेज्ज) क्रिया । (एवं) अव्यय । (सहिते) संजएका विशेषण (संजए) कर्ता (पाणेहिं) सहार्थतृतीयान्त (आयतुलं) कर्म (अहिपासए) क्रिया ।

अन्वयार्थ—(दुक्खी) दुःखी जीव (पुणो पुणो) वार वार (मोहे) अविवेक को प्राप्त करता है। (सिलोगपूयणं) अतः साधु अपनी स्तुति और पूजा (निव्विदेज्ज) त्याग देवे। (एवं) इस प्रकार (सहिते) ज्ञानादिसंपन्न (संजए) साधु (पाणेहिं) प्राणियोंको (आयतुलं) अपने समान (अहिपासए) देखे।

भावार्थ—दुःखी जीव, वार वार मोहको प्राप्त होता है इसलिए साधु अपनी स्तुति और पूंजाको त्याग देवे। इस प्रकार ज्ञानादिसंपन्न साधु सब प्राणियोंको अपने समान देखे।

टीका—पुनरप्युपदेशान्तरमाह—दुःखम् असातवेदनीयमुदयप्राप्तं तत्कारणं वा, दुःखयतीति दुःखं तदस्याऽस्तीति दुःखी सन् प्राणी पौनः पुन्येन मोहं याति सदसद्विवेकविकलोभवति। इदमुक्तं भवति—असातोदयाद् दुःखमनुभवन्नार्त्तो मूढस्तत्तत्करोति येन पुनः पुनः दुःखी संसारसागरमनन्तमभ्येति, तमेवंभूतं मोहं परित्यज्य सम्यगुत्थानेनोत्थाय-निर्विंद्येत जुगुप्सयेत् परिहरेदात्मश्लाघां स्तुतिरूपां तथा पूजनं वस्त्रादिलाभरूपं परिहरेद् एवमनन्तरोक्तया नीत्या प्रवर्तमानः सह हितेन वर्तत इति सहितो ज्ञानादियुक्तो वा संयतः प्रव्रजितोऽपरप्राणिभिः सुखार्थिभिः आत्मतुलामात्मतुल्यतां दुःखाप्रियत्वसुखप्रियत्वरूपामधिकं पश्येत्, आत्मतुल्यान् सर्वानपि प्राणिनः पालयेदिति ॥ १२ ॥

फिर शास्त्रकार दूसरा उपदेश करते हैं—

उदय अवस्थाको प्राप्त असातावेदनीयको दुःख कहते हैं अथवा असाता वेदनीय के कारणका नाम दुःख है। जो प्राणीको बुरा लगता है उसे दुःख कहते हैं। वह दुःख जिसको हो रहा हो उस प्राणीको दुःखी कहते हैं। दुःखी प्राणी वार वार मोहको प्राप्त होता है। वह वार वार भले और बुरेके विवेकसे रहित होता है। आशय यह है कि असातावेदनीयके उदयसे पीडित होकर मूढ़ जीव वह कर्म करता है जिससे वह वार वार दुःखको प्राप्त होता है तथा अनन्त संसारसागरको प्राप्त करता है। अतः विवेकी पुरुष, इस प्रकारके मोहको त्यागकर और सम्यक् उत्थानसे उत्थित होकर अपनी स्तुतिरूप प्रशंसा तथा वस्त्रादि लाभ रूप पूजनको छोड़देवे। इस पूर्वोक्त नीतिसे वर्तता हुआ अपने कल्याणमें प्रवृत्त अथवा ज्ञानादि संपन्न साधु, सुख चाहनेवाले दूसरे प्राणियोंको अपने समान ही सुखको प्रिय और दुःखको अप्रिय माननेवाले समझें। आशय यह है कि साधु सभी प्राणियोंको अपने समान ही सुखके प्रेमी और दुःखके द्वेषी जानें।

—❀—

गारं पिअ आवसे नरे, अणुपुव्वं पाणेहिं संजए ।
समता सव्वत्थ सुव्वते देवाणं गच्छे स लोगयं ॥१३॥

छाया—अगार मप्यावसन्नर आनुपूर्व्या प्राणेषु संयतः ।
समतां सर्वत्र सुव्रतो देवानां गच्छेत्स लोकम् ॥

व्याकरण—(गारं) कर्म (अपि, अ) अव्यय (आवसे) नरका विशेषण (नरे) कर्ता (अणुपुव्वं) क्रियाविशेषण । (पाणेहिं) अधिकरण (संजए) नरका विशेषण (सुव्वतें) नरका विशेषण (सव्वत्थ) अव्यय (देवाणं) सम्बन्धषष्ठ्यन्त (लोगयं) कर्म ।

अन्वयार्थ—(गारं पिय) घरमें भी (आवसे) निवास करता हुआ (नरे) मनुष्य (अणुपुव्वं) क्रमशः (पाणेहिं संजए) प्राणिहिंसासे निवृत्त होकर (सव्वत्थ) सब प्राणियोंमें (समतां) समभाव रखता हुआ (स) वह (सुव्वए) सुव्रत पुरुष (देवाणं) देवताओंके (लोगं) लोक को (गच्छे) जाता है ।

भावार्थ—जो पुरुष गृहमें निवास करता हुआ भी क्रमशः श्रावकधर्मको प्राप्त करके प्राणियोंकी हिंसासे निवृत्त होता है तथा सर्वत्र सम भाव रखता है वह सुव्रत पुरुष देवताओंके लोकमें जाता है ।

टीका—किञ्च अगारमपि गृहमप्यावसन् गृहवासमपि कुर्वन् नरो मनुष्यः अनुपूर्वमिति आनुपूर्व्या श्रवणधर्मप्रतिपत्त्यादिलक्षणया प्राणिषु यथाशक्त्या सम्यक् यतः संयतः तदुपमर्दान्निवृत्तः, किमिति ? यतः समता समभावः आत्मपरतुल्यता सर्वत्र यतौ गृहस्थे च यदि वैकेन्द्रियादौ श्रूयतेऽभिधीयते आर्हते प्रवचने, तांश्च कुर्वन् स गृहस्थोऽपि सुव्रतः सन् देवानां पुरन्दरादीनां लोकं स्थानं गच्छेत्, किं पुन र्यो महासत्त्वतया पञ्चमहाव्रतधारी यतिरिति ॥ १३ ॥

जो पुरुष, गृहमें निवास करता हुआ भी क्रमशः श्रावक धर्मको अङ्गीकार करके यथाशक्ति प्राणियोंकी हिंसासे निवृत्त रहता है तथा यति, गृहस्थ, अथवा आर्हत प्रवचनोक्त एकेन्द्रिय आदि सभी प्राणियोंमें सम भाव रखता है अर्थात् अपने समान ही अन्य प्राणीको भी जानता है वह सुव्रत पुरुष गृहस्थ होकर भी इन्द्रादि देवताओंके लोकमें जाता है फिर जो पञ्चमहाव्रतधारी महापराक्रमी साधु हैं उनकी तो बात ही क्या है ॥ १३ ॥

सोच्चा भगवाणुसासणं सच्चे तत्थ करेज्जुवक्कमं ।
सव्वत्थ विणीयमच्छरे उञ्छं भिक्खु विसुद्धमाहरे ॥१४॥

छाया—श्रुत्वा भगवदनुशासनं सत्ये तत्र कुर्य्यादुपक्रमम् ।
सर्वत्र विनीतमत्सरः उञ्छं भिक्षु र्विशुद्ध माहरेत् ॥

व्याकरण—(सोचा) पूर्वकालिकक्रिया । (भगवाणुसासणं) कर्म (सच्चे तत्थ) अधिकरण (उवकमं) कर्म (करेज्ज) क्रिया । (सव्वत्थ) अव्यय (विणीयमच्छरे) भिक्षुका विशेषण (भिक्खु) कर्ता (उञ्छं) कर्म (विसुद्धं) कर्मका विशेषण (आहरे) क्रिया ।

अन्वयार्थ—(भगवाणुसासणं) भगवान्‌के अनुशासन यानी आगमको (सोच्चा) सुनकर (सच्चे) उस आगममें कहे हुए सत्य (तत्थ) संयममें (उवक्कमं) उद्योग (करेज्ज) करे (सव्वत्थ) सर्वत्र (विणीयमच्छरे) मत्सर रहित होकर (भिक्खू) साधु (विसुद्धं) शुद्ध (उञ्छं) भिक्षा (आहरे) लावे ।

भावार्थ—भगवान्‌के आगमको सुनकर उसमें कहे हुए सत्य संयममें उद्योग करना चाहिए । किसीके ऊपर मत्सर (ईर्ष्या) न करना चाहिए। इस प्रकार वर्तते हुए साधुको शुद्ध आहार लाना चाहिए ।

टीका—अपि च ज्ञानैश्वर्य्यादिगुणसमन्वितस्य भगवतः सर्वज्ञस्य शासनम् आज्ञामागमं वा श्रुत्वा अधिगम्य तत्र तस्मिन्नागमे तदुक्ते वा संयमे सद्भ्यो हिते सत्ये लघुकर्मा तदुपक्रमं तत्प्राप्त्युपायं कुर्य्यात्, किंभूतः सर्वत्रापनीतो मत्सरो येन स तथा सोऽरक्तद्विष्टः क्षेत्रव (वा) स्तूपधिशरीरनिष्पिपासः, तथा उञ्छंत्ति भैक्ष्यं विशुद्धं द्विचत्वारिंशद्दोषरहितमाहारं गृह्णीयादभ्यवहरेदिति ॥ १४ ॥

ज्ञान और ऐश्वर्य्य आदि गुणसे समन्वित भगवान् सर्वज्ञके आगम या आज्ञाको सुनकर लघुकर्मा पुरुष सज्जनोंके हितकर उस आगम या आगमोक्त संयमकी प्राप्तिका उपाय करे । कैसा होकर उपाय करे ? सभी पदार्थोंमें मत्सर रहित तथा क्षेत्र गृह उपधि और शरीर आदिमें तृष्णा रहित तथा सब पदार्थोंमें राग द्वेष शून्य होकर उपाय करे । एवं ४२ प्रकारके दोषोंसे वर्जित आहारको साधु लेवे या खावे ॥१४॥

सव्वं नच्चा अहिट्ठए धम्मट्ठी उवहाणवीरिए ।
गुत्ते जुत्ते सदा जए आयपरे परमायतट्ठिते ॥१५॥

छाया—सर्वं ज्ञात्वाऽधितिष्ठेत् धर्मार्थ्युपधानवीर्य्यः ।
गुप्तो युक्तः सदा यतेतात्मपरयोः परमायतस्थितः ॥

व्याकरण—(सव्वं) कर्म (नच्चा) पूर्वकालिकक्रिया (अहिट्ठए) क्रिया । (धम्मट्ठी, उवहाणवीरिए, गुत्ते, जुत्ते, आयपरे, परमायतट्ठिते) अध्याहृत पुरुषके विशेषण । (सदा) अव्यय (जए) क्रिया ।

अन्वयार्थ—(सव्वं) सब पदार्थोंको (नच्चा) जानकर साधु (अहिट्ठए) सर्वज्ञोक्त संवरका आश्रय लेवे । (धम्मट्ठी) धर्मका प्रयोजन रखे । (उवहाणवीरिए) तपमें अपना पराक्रम प्रकट करे (गुत्ते जुत्ते) मन वचन और कायसे गुप्त रहे (सदा) सर्वदा (आयपरे) अपने और दूसरेके विषयमें (जए) यत्न करे (परमायतट्ठिते) और मोक्षके लिए अभिलाष करे ।

भावार्थ—साधु, सब वस्तुओंको जानकर सर्वज्ञोक्त संवरका आश्रय लेवे । तथा वह धर्मको प्रयोजन समझता हुआ तपमें पराक्रम प्रकट करे । एवं मन वचन और कायसे गुप्त रहकर साधु सदा अपने और दूसरेके विषयमें यत्न करे । इस प्रकार वर्तता हुआ साधु मोक्षका अभिलाषी बने ।

टीका—किञ्च सर्वमेतद्धेयमुपादेयञ्च ज्ञात्वा सर्वज्ञोक्तं मार्गं सर्वं संवररूपम् अधितिष्ठेत् आश्रयेत् धर्मेणार्थी धर्म एव वाऽर्थः परमार्थेनान्यस्यानर्थरूपत्वात् धर्मार्थः स विद्यते यस्यासौ धर्मार्थी धर्मप्रयोजनवान् उपधानं तपस्तत्र वीर्य्यं यस्य स तथा अनिगूहितबलवीर्य्य इत्यर्थः तथा मनोवाक्कायगुप्तः सुप्रणिहितयोग इत्यर्थः तथा युक्तो ज्ञानादिभिः सदा सर्वकालं यतेताऽऽत्मनि परस्मिंश्च । किंविशिष्टः सन् ? अत आह परम्

साधु, हेय और उपादेयको जानकर सर्वसंवर रूप सर्वज्ञोक्त मार्गको ही ग्रहण करे । तथा वह धर्मको ही अपना प्रयोजन समझे अथवा वह धर्मको ही एक मात्र पदार्थ समझे क्योंकि वस्तुतः धर्मसे भिन्न सभी अनर्थ हैं । उपधान नाम तपका है उसमें साधु अपने पराक्रमको न्यून न करे । तथा मन वचन और कायसे वह गुप्त रहे अर्थात् वह सुप्रणिहितयोग होकर रहे । साधु ज्ञानादिसे युक्त होकर सर्वदा अपने और परके विषयमें यत्नवान् रहे । कैसा होकर वह ऐसा करे ? यह कहते हैं—जो सबसे दीर्घ है उसे 'परमायत' कहते हैं । जो सब कालमें स्थित

उत्कृष्ट आयतो दीर्घः सर्वकालभवनान्मोक्षः तेनार्थिकः तदभिलापी पूर्वोक्त विशेषणविशिष्टो भवेदिति ॥ १५ ॥

रहता है वह परमायत हैं। ऐसे मोक्षकी सदा अभिलाषा करता हुआ साधु पूर्वोक्त विशेषणोंसे युक्त होकर रहे ॥ १५ ॥
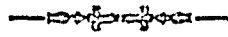
वित्तं पसवो य नाइओ तं बाले सरणं ति मन्नइ ।
एते मम तेसुवी अहं नो ताणं सरणं न विज्जई ॥१६॥

छाया—वित्तं पशवश्च ज्ञातयस्तद् बालः शरण मिति मन्यते ।
एते मम तेष्वप्यहं नो त्राणं शरणं न विद्यते ॥

व्याकरण—वित्तं, पसवो नाइओ) अध्याहृत संति क्रियाका कर्ता (तं) वित्तआदिका परामर्शक सर्वनाम, कर्म (बाले) कर्ता (सरणं) कर्मका विशेषण (त्ति) अव्यय। (मन्नई) क्रिया (एते) पूर्वोक्त वित्त आदिका परामर्शक सर्वनाम (मम) सम्बन्ध षष्ठ्यन्त (तेसु) अधिकरण (अहं) कर्ता। (ताणं सरणं) वित्तादिके विशेषण (विज्जई) क्रिया।

अन्वयार्थ—(बाले) अज्ञानी जीव (वित्तं) धन (य) और (पसवो) पशु (नाइयो) तथा ज्ञाति (तं) इन्हे (सरणंति) अपना शरण (मन्नई) मानता है। (एते) ये (मम) मेरे हैं (तेसु वी अहं) और मैं इनपर हूँ (नो ताणं) वस्तुतः ये सब त्राण (सरणं) और शरण (न विज्जई) नही हैं।

भावार्थ—अज्ञानी जीव धन पशु और ज्ञातिवर्गको अपना रक्षक मानता है वह समझता है कि ये सब मुझको दुःखसे बँचावेंगे और मैं इनकी रक्षा करूंगा परंतु वस्तुतः वे उसकी रक्षा नहीं कर सकते ।

टीका—पुनरप्युपदेशान्तरमाह-'वित्तं' धनधान्यहिरण्यादि 'पशवः' करितुरगगोमहिष्यादयो ज्ञातयः स्वजनाः मातापितृपुत्रकलत्रादयः तदेत द्वित्तादिकं बालः अज्ञः शरणं मन्यते तदेव दर्शयति ममैते वित्तपशुज्ञातयः

फिर भी सूत्रकार दूसरा उपदेश देनेके लिए कहते हैं।

धन धान्य और हिरण्य आदिको 'वित्त' कहते हैं। हाथी, घोड़ा, गाय, भैंस आदिको पशु कहते हैं। माता, पिता, पुत्र और स्त्री आदि स्वजन वर्गको 'ज्ञाति' कहते हैं। इन धन आदि पदार्थोंको अज्ञानी जीव अपना शरण मानता है। वही दिखाते हैं—अज्ञानी जीव यह मानता है कि "ये धन, पशु और ज्ञाति वर्ग मेरे

परिभोगे उपयोक्ष्यन्ते तेषु चार्जनपालनसंरक्षणादिना शेषोपद्रवनिराकरण द्वारेणाहं भवामीत्येवं बालो मन्यते न पुन जानीते यदर्थं धनमिच्छन्ति तच्छरीरमशाश्वतमिति । अपि च—"रिद्धी सहावतरला रोगजराभंगुरं हयसरीरं । दोण्हंपि गमणसीलाण किच्चिरं होज्ज संबंधो ?" तथा—"मातापितृसहस्राणि पुत्रदारशतानि च । प्रतिजन्मनि वर्त्तन्ते कस्य माता पिताऽपि वा ?" एतदेवाह—नो नैव वित्तादिकं संसारे कथमपि त्राणं भवति नरकादौ पततो नाऽपि रागादिनोपद्रुतस्य क्वचिच्छरणं विद्यत इति ॥१६॥

परिभोगके लिए उपयोगी होंगे और मैं इनका उपार्जन और पालनके द्वारा समस्त उपद्रवोंको निराकरण करूँगा" वस्तुतः जिस शरीरके लिए धनकी इच्छा की जाती है वह शरीर ही विनाशी है यह वह मूर्ख नहीं जानता है। विद्वानोंने कहा है कि ऋद्धि स्वभावसे ही चञ्चल है और यह शरीर रोग और वृद्धतासे नश्वर है। इन दोनों गमनशील पदार्थोंका सम्बन्ध कब तक रह सकता है ? तथा माता पिता हजारों हुए और पुत्र तथा कलत्र भी सैकड़ों हुए। ये तो प्रत्येक जन्ममें होते हैं। वस्तुतः कौन माता है और कौन पिता है ?। यही सूत्रकार कहते हैं—नरकमें गिरते हुए प्राणीकी ये पिता आदि किसी प्रकार भी रक्षा नहीं कर सकते। जो पुरुष राग आदिसे युक्त है उसके लिए कहीं भी शरण नहीं है ॥१६॥

अब्भागमितंमि वा दुहे, अहवा उक्कमिते भवंतिए ।
एगस्स गती य आगती, विदुमंता सरणं ण मन्नई ॥१७॥

छाया—अभ्यागते वा दुःखे, ऽथवोत्क्रान्ते भवान्तिके ।
एकस्य गतिश्चागतिः विद्वान् शरणं न मन्यते ॥

व्याकरण—(अब्भागमितंमि) दुःखका विशेषण (वा) अव्यय (अहवा) अव्यय (दुहे, उक्कमिते, भवंतिए) भावलक्षणसप्तम्यन्त पद (एगस्स) सम्बन्धषष्ठ्यन्त (गती आगती) कर्ता (विदुमंता) कर्ता (सरणं) कर्म (मन्नई) क्रिया ॥१७॥

अन्वयार्थ—(अब्भागमितंमि दुहे) दुःख आनेपर (अहवा) अथवा (उक्कमिते) उपक्रमके कारणोंसे आयु नाश होनेपर (भवंतिए) अथवा मृत्यु उपस्थित होनेपर (एगस्स) अकेलेका ही (गती य) जाना (आगती) आना होता है। (विदुमंता) अतः विद्वान् पुरुष (सरणं) धन आदिको अपना शरण (न मन्नई) नहीं मानता है।

भावार्थ—जब प्राणीके ऊपर किसी प्रकारका दुःख आता है तब वह उसे अकेला ही भोगता है तथा उपक्रमके कारणोंसे आयु नष्ट होनेपर अथवा मृत्यु उपस्थित होनेपर वह अकेला ही परलोकमें जाता है इसलिए विद्वान् पुरुष किसीको अपना शरण नहीं मानते हैं।

टीका—एतदेवाह पूर्वोपात्तासातवेदनीयोदयेनाभ्यागते दुःखे सत्येकाक्येव दुःख मनुभवति, न ज्ञातिवर्गेण वित्तेन वा किञ्चित् क्रियते। तथा च—"सयणस्सवि मज्झगओ रोगाभिहतो किलिस्सइ इहेगो। सयणोविय से रोगं न विरंचइ नेव नासेइ ॥" अथवा उपक्रमकारणै रुपक्रान्ते स्वायुषि स्थितिक्षयेण वा भवान्तरे भवान्तिके वा मरणे समुपस्थिते सति एकस्यैवासुमतो गतिरागतिश्च भवति विद्वान् विवेकी यथावस्थितसंसारस्वभावस्य वेत्ता ईषदपि तावत् शरणं न मन्यते कुतः सर्वात्मना त्राणमिति तथाहि—"एकस्य जन्ममरणे गतयश्च शुभाशुभाः भवावर्ते। तस्मादाकालिकहितमेकेनैवात्मनः कार्य्यम् ॥"

इसी बातको सूत्रकार कहते हैं—

पूर्वजन्ममें उपार्जन किए हुए असातावेदनीयके उदयसे जब जीवके ऊपर दुःख आता है तब वह अकेला ही उसे भोगता है। उस समय धन अथवा ज्ञातिवर्ग कुछ भी उसकी सहायता नहीं कर सकते हैं। अतएव कहा है कि—"सयणस्सवि" अर्थात् रोगसे पीड़ित जीव अपने स्वजनवर्गके मध्यमें रहकर भी अकेला दुःख भोगता है। स्वजन वर्ग उसके उस रोगको न तो घटा सकते हैं और न नाश कर सकते हैं। अथवा उपक्रमके कारणोंसे जब प्राणीकी आयु नष्ट हो जाती है तथा उसकी अवधि पूरी होनेपर जब वह पूर्ण हो जाती है अथवा जब मरणकाल उपस्थित हो जाता है तब अकेला ही वह प्राणी परलोकमें जाता है और वहाँसे इस लोकमें फिर अकेला ही आता है। उस समय उसका कोई भी साथी नहीं होता है इसलिए विवेकी पुरुष, जो संसारके यथावस्थित स्वभावको जानता है वह धनादिको थोड़ा भी अपना रक्षक नहीं मानता है फिर सम्पूर्णरूपसे माननेकी तो बात ही क्या है ? कहा भी है "एकस्य" अर्थात् इस जगतमें जीव अकेला ही जन्मता है और अकेला ही मरता है। तथा इस संसारचक्रमें वह अकेला ही आता है और अकेला ही जाता है इसलिए मरण पर्य्यन्त अकेला ही जीवको अपना हित सम्पादन करना चाहिये। तथा "एक्को" जीव अकेला कर्म करता है और अकेला

"एको करेइ कम्मं फलमवि तस्सिकओ समणुहवइ। एको जायइ मरइ य परलोयं एकओ जाइ ।" ॥१७॥

ही उसका फल भोगता है। अकेला ही जन्मता है और अकेला ही मरता है। वह अकेला ही परलोक में जाता है ॥१७॥
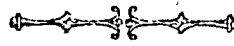
सव्वे सयकम्मकप्पिया अवियत्तेण दुहेण पाणिणो।
हिंडंति भयाउला सढा, जाइजरामरणेहि ऽभिदुता ।१८।

छाया—सर्वे स्वककर्मकल्पिता अव्यक्तेन दुःखेन प्राणिनः।
हिंडंति भयाकुलाः शठाः जातिजरामरणैरभिद्रुताः ॥

व्याकरण—(सयकम्मक प्पिया) प्राणीका विशेषण (जाइजरामरणेहिं) अभिद्रवण क्रियाका कर्ता (अभिद्दुता) प्राणीका विशेषण (भयाउला, सढा) प्राणीके विशेषण। (पणिणो) कर्ता। (अवियत्तेण दुहेण) इत्थंभूतलक्षणतृतीयान्त। (हिंडंति) क्रिया।

अन्वयार्थ—(सव्वे पाणिणो) सब प्राणी (सयकम्मकप्पिया) अपने अपने कर्मसे नाना अवस्थाओंसे युक्त हैं। (अवियत्तेण दुहेण) और सब अलक्षित दुःखसे दुःखी हैं। (जाइ जरामरणेहिं) जन्म जरा और मरणसे (अभिदुता) पीडित (भयाउला) और भयसे आकुल (सढा) शठ जीव (हिंडंति) वार वार संसार चक्रमें भ्रमण करते हैं।

भावार्थ—सब प्राणी, अपने अपने कर्मानुसार नाना अवस्थाओंसे युक्त हैं और सब अलक्षित दुःखसे दुःखी हैं। तथा जन्म, जरा-मरणसे पीड़ित भयाकुल वे शठ प्राणी, वार वार संसारचक्रमें भ्रमण करते हैं।

टीका—अन्यच्च सर्वेऽपि संसारोदरविवरवर्त्तिनः प्राणिनः संसारे पर्य्यटन्तः स्वकृतेन ज्ञानावरणीयादिना कर्मणा कल्पिताः सूक्ष्मवादर पर्य्याप्तकापर्य्याप्तकैकेन्द्रियादिभेदेन व्यवस्थिताः तथा तेनैव कर्मणै-केन्द्रियाद्यवस्थायाम् अव्यक्तेन अपरिस्फुटेन शिरः शूलाद्यलक्षितस्वभावे-नोपलक्षणार्थत्वात् अव्यक्तेन च दुःखेन असातावेदनीयस्वभावेन

टीकार्थ—दूसरी बात यह है कि संसारके उदररूपी विवरमें निवास करनेवाले सब प्राणी संसारमें पर्यटन करते हुए अपने किए हुए ज्ञानावरणीय आदि कर्मके प्रभावसे सूक्ष्म, वादर, पर्य्याप्त, अपर्याप्त, और एकेन्द्रिय आदि अवस्थाओंको प्राप्त करते हैं। वे प्राणी इन अवस्थाओंमें शिरका शूल आदि अलक्षित दुःखोंसे दुःखी होते हैं। यहाँ अलक्षित दुःख उपलक्षण है इसलिए वे असातावेदनीय स्वरूप स्पष्ट

समन्विताः प्राणिनः पर्य्यटन्ति अरहट्टघटीयन्त्रन्यायेन तास्वेव योनिषु भयाकुलाः शठकर्मकारित्वात् शठाः भ्रमन्ति जातिजरामरणैरभिद्रुताः गर्भाधानादिभिर्दुःखैः पीडिता इति ॥१८॥

प्रतीत होनेवाले दुःखोंसे भी दुःखी होते हैं। वे अरहट यन्त्रकी तरह वार बार उन्हीं योनियोंमें जाते आते रहते हैं। वे शठ पुरुषोंका कर्म करते हैं इसलिए शठ हैं। वे, बरावर भयभीत होते रहते हैं। वे जन्म जरा तथा मरणसे पीड़ित रहते हैं। वे, वार वार गर्भवासको प्राप्त करते हुए संसारमें भ्रमण करते रहते हैं ॥१६॥
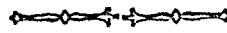
इणमेव खणं विजाणिया, णो सुलभं वोहिं च आहियं।
एवं सहिएऽहिपासए आह जिणो इणमेव शेषकाः ॥१६॥

छाया—इममेव क्षणं विज्ञाय नो सुलभं वोधिश्च आख्यातम्।
एवं सहितोऽधिपश्येद् आह जिन इदमेव शेषकाः ॥

व्याकरण—(इणं) क्षणका विशेषण (एव) अव्यय। (खणं) कर्म (वियाणिया) पूर्वकालिक क्रिया (आहितं, सुलभं) वोधिका विशेषण (वोधिं) कर्म (एवं) अव्यय (सहिए) अध्याहृत पुरुषका विशेषण (अहिपासए) क्रिया (सेसगा) जिनका विशेषण। (जिणे) कर्ता (इणं) कर्म (एव) अव्यय (आह) क्रिया ॥ ९॥

अन्वयार्थ—(इणमेव) यही (खणं) अवसर है (वोहिं च) ज्ञान भी (णो सुलभं) सुलभ नहीं है (आहियं) ऐसा कहा है (विजाणिया) इस बातको जानकर (सहिए) ज्ञानादि संपन्न मुनि (एवं) ऐसा (अहिपासए) विचारे। (जिणो) श्रीऋषभजिनेश्वरने (आह) यह कहा है (सेसगा) और शेष तीर्थंकरोंने भी (इणमेव) यही कहा है।

भावार्थ—ज्ञानादिसंपन्न मुनि यह विचारे कि मोक्षसाधनका यही अवसर है और सर्वज्ञ पुरुषोंने कहा है कि बोध प्राप्त करना सुलभ नहीं है। आदि तीर्थङ्कर श्री ऋषभ देवजीने अपने पुत्रोंसे यह उपदेश किया था और दूसरे तीर्थकरोंने भी यही कहा है।

टीका—'किञ्च' इदमः प्रत्यक्षासन्नवाचित्वात् इमं द्रव्यक्षेत्रकालभावलक्षणं क्षणमवसरं ज्ञात्वा तदुचितं विधेयं, तथाहि—द्रव्यं जङ्गमत्व

'इदम्' शब्द प्रत्यक्ष और समीपका वाचक है इसलिए इस द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावको मोक्ष साधनका अवसर जान कर मनुष्यको उसके उचित कार्य्य करना चाहिए। उनमें जंगम होना, पञ्चेन्द्रिय होना तथा उत्तम कुलमें उत्पत्ति और

पञ्चेन्द्रियत्वसुकुलोत्पत्तिमानुष्यलक्षणं क्षेत्रमप्यार्य्यदेशार्धषड्विंशति जनपदलक्षणं कालोऽप्यवसर्पिणी चतुर्थारकादिः धर्मप्रतिपत्तियोग्यलक्षणः भावश्च धर्मश्रवणतच्छ्रद्धानचारित्रावरणकर्मक्षयोपशमाहितविरतिप्रतिपत्त्युत्साहलक्षणः तदेवंविधं क्षणम् अवसरं परिज्ञाय तथा बोधिश्च सम्यग्दर्शनावाप्तिलक्षणां नो सुलभामिति एवमाख्यातमवगम्य तदवाप्तौ तदनुरूपमेव कुर्य्यादिति शेषः अकृतधर्माणां पुनर्दुर्लभा बोधिः, तथाहि—"लद्धेल्लियं च बोहिं अकरेंतो अणागयं च पत्थेंतो । अन्नं दाइं बोहिं लब्भिसि कयरेण मोल्लेणं ? तदेवमुत्कृष्टतोऽपार्धपुद्गलपरावर्त्तप्रमाणकालेन पुनः सुदुर्लभा बोधिरित्येवं सहितो ज्ञानादिभिरधिपश्येत् बोधिसुदुर्लभत्वं पर्य्यालोचयेत्, पाठान्तरं वा अहियासएति, परीषहानुदीर्णान् सम्यग् अधिसहेत एतच्चाह जिनो रागद्वेषजेता नाभेयोऽष्टापदे स्वान् सुतानुद्दिश्य, तथाऽन्येऽपि इदमेव शेषकाः जिना अभिहितवन्त इति ॥ १९ ॥

मनुष्यता यह तो द्रव्य है । तथा साढ़े पच्चीस जनपद स्वरूप यह आर्य्य देश क्षेत्र है। एवं अवसर्पिणी और चौथा आरा इत्यादि धर्म प्राप्तिके योग्य काल है । तथा धर्म श्रवण, और उसमें श्रद्धान एवं चारित्रावरणीय कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न विरतिको स्वीकार करनेमें उत्साहरूप भाव अनुकूल अवसर है । ऐसे अवसरको हस्तगत जानकर तथा सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति सुलभ नहीं है यह शास्त्रका कथन जानकर सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होने पर उसके अनुरूप ही कार्य्य करना चाहिए । जिनने धर्माचरण नहीं किया है उनको बोध प्राप्त करना सुलभ नहीं है क्योंकि "प्राप्त ज्ञानके अनुसार कार्य्य नहीं करते हुए और अनागत ज्ञानकी प्रार्थना करते हुए तुम कौनसा मूल्य देकर दूसरे ज्ञानको प्राप्त करोगे ?" यह विद्वानोंने कहा है इसलिए ज्ञानादि संपन्न पुरुषको यह सोचना चाहिए कि उत्कृष्ट अर्धपुद्गल परावर्तकाल तक फिर बोध प्राप्त करना दुर्लभ है । बोधकी दुर्लभताका मुनि सदा ध्यान रक्खे । यहाँ "अहियासए" यह पाठान्तर भी पाया जाता है । इसका अर्थ यह है कि—साधु, उत्पन्न परीषहोंको अच्छी तरह सहन करे । यह सिद्धांत, रागद्वेषको जीतनेवाले नाभिपुत्र श्री ऋषभ देवजीने अष्टापद पर्वत पर अपने पुत्रों कहा था । तथा दूसरे जिनवरोंने भी यही कहा है ॥ १९ ॥

अभविंसु पुराविं भिक्खुवो आएसावि भवंति सुव्वता ।
एयाइं गुणाइं आहु ते कासवस्स अणुधम्मचारिणो ॥२०॥

छाया—अभूवन् पुराऽपि भिक्षवः ! आगामिनश्च भविष्यंति सुव्रताः ।
एतान् गुणान् आहुस्ते काश्यपस्यानुधर्मचारिणः ॥

व्याकरण—(पुरा) (अवि) अव्यय (भिक्खुवो) कर्ता (अभविंसु) क्रिया (आएसा) सुव्रतका विशेषण (सुव्वया) कर्ता (अवि) अव्यय (भवंति) क्रिया (कासवस्स) सम्बन्धषष्ठ्यन्तपद (अणुधम्मचारिणो) कर्ता (एयाइं) गुणका विशेषण (गुणाइं) कर्म (आहु) क्रिया ।

अन्वयार्थ—(भिक्खुणो) हे साधुओं ! (पुरावि) पूर्वकालमें (अभविंसु) जो सर्वज्ञ होचुके हैं और (आएसावि) भविष्यकालमें (भवंति) जो होंगे (ते सुव्वता) उन सुव्रत पुरुषोंने (एयाइं गुणाइं आहु) इन्हीं गुणोंको मोक्षका साधन (आहु) कहा है (कासवस्स अणुधम्मचारिणो) तथा भगवान् ऋषभदेवजी और भगवान् महावीरस्वामीके अनुयायियोंने भी यही कहा है ।

भावार्थ—जो तीर्थङ्कर पहले हो चुके हैं और जो भविष्यकालमें होंगे उन सभी सुव्रत पुरुषोंने तथा भगवान् ऋषभदेव स्वामी और भगवान् महावीर स्वामीके अनुयायियोंने भी इन्हीं गुणोंको मोक्षका साधक बताया है ।

टीका—'एतदाह—हेभिक्षवः साधवः ! सर्वज्ञः स्वशिष्यानेवमामन्त्रयति येऽभूवन् अतिक्रान्ताः जिनाः सर्वज्ञाः आएसाविति, आगमिष्याश्च ये भविष्यन्ति तान् विशिनष्टि सुव्रताः शोभनव्रताः अनेनेदमुक्तं भवति तेषामपि जिनत्वं सुव्रतत्वादेवायातमिति ते सर्वेऽप्येतान् अनन्तरोदितान् गुणान् आहुः अभिहितवन्तः नाऽत्र सर्वज्ञानां कश्चिन्मतभेद इत्युक्तं भवति । ते च काश्यपस्य ऋषभस्वामिनो वर्द्धमानस्वामिनो वा सर्वेऽप्यनुचीर्णधर्मचारिण इति । अनेन च सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मक एक एव मोक्षमार्ग इत्यावेदितं भवतीति ॥ २० ॥

फिर सूत्रकार यही कहते हैं—

सर्वज्ञ पुरुष, अपने शिष्योंको संबोधन करते हुए कहते हैं कि हे भिक्षुओं ! जो सर्वज्ञ पूर्वकालमें हो चुके हैं और भविष्यकालमें जो सर्वज्ञ होंगे वे सभी पुरुष सुव्रत हैं । भाव यह है कि उन पुरुषोंको जो सर्वज्ञता प्राप्त हुई थी वह उत्तम व्रतको पालन करनेसे ही हुई थी । उन सर्वज्ञ पुरुषोंने पूर्वोक्त गुणोंको ही मोक्षका साधन कहा है । इस विषयमें सर्वज्ञ पुरुषोंका कोई मतभेद नहीं है यह आशय है । वे सभी सर्वज्ञ काश्यपगोत्री श्रीऋषभदेव स्वामी और भगवान् महावीरस्वामीके द्वारा आचरण किए हुए धर्मको ही आचरण करनेवाले थे । इससे यह बताया जाता है कि सम्यग् ज्ञान दर्शन और चारित्र ही मोक्षका मार्ग है दूसरा नहीं है ॥२०॥

तिविहेणवि पाण माहणे, आयहिते अणियाणसंवुडे ।
एवं सिद्धा अणंतसो, संपइ जे अ अणागयावरे ॥२१॥

छाया—त्रिविधेनाऽपि प्राणान् माहन्यादात्महितोऽनिदानसंवृतः ।
एवं सिद्धा अनन्तशः संप्रति येचानागता अपरे ॥

व्याकरण—(तिविहेण) कारणतृतीयान्त । (अवि) अव्यय (पाण) कर्म (मा) अव्यय (हणे) क्रिया (आयहिते) (अणियाणसंवुडे) आक्षिप्तमुनिका विशेषण । (एवं) अव्यय । (अणंतसो) अव्यय (सिद्धा) कर्ता (संपइ) अव्यय । (जे) (अवरे) अणागया) ये भी अध्याहृत मुनिके विशेषण ।

अन्वयार्थ—(तिविहेणवि) मन वचन और काय इन तीनोंसे (पाण मा हणे) प्राणियोंको न मरना चाहिए । (आयहिते) अपने हितमें प्रवृत्त (अणियाणसंवुडे) और स्वर्गादिकी इच्छा रहित गुप्त रहना चाहिए । (एवं) इस प्रकार (अणंतसो) अनंत जीव (सिद्धा) सिद्ध हुए हैं तथा (संपइ जे य अवरे अणागता) वर्तमान कालमें और भविष्यमें भी दूसरे अनंत जीव सिद्धिको प्राप्त करेंगे ।

भावार्थ—मन, वचन, और कायसे प्राणियोंकी हिंसा न करनी चाहिए । अपने हितमें प्रवृत्त और स्वर्गादिकी इच्छा होकर रहित संयम पालन करना चाहिए । इस प्रकार अनन्त जीवोंने मोक्ष लाभ किया है तथा वर्तमान समयमें करते हैं और भविष्यमें भी करेंगे ।

टीका—अभिहितांश्च गुणानुद्देशत आह त्रिविधेन मनसा वाचा कायेन यदि वा कृतकारितानुमतिभि र्वा प्राणिनो दशविधप्राणभाजो मा हन्यादिति प्रथममिदं महाव्रतम् अस्य चोपलक्षणार्थत्वाद् एवं शेषाण्यपि द्रष्टव्यानि, तथा आत्मने हित आत्महितः तथा नाऽस्य स्वर्गावाप्त्यादिलक्षणं निदान मस्तीत्यनिदानः तथेन्द्रिय नोइन्द्रियमनोवाक्कायैर्वा संवृतस्त्रिगुप्तिगुप्त इत्यर्थः, एवम्भूतश्चाऽवश्यं सिद्धिमेवाप्नोतीत्येतद्दर्शयति—एवम् अनन्त-

पूर्वोक्त गुणोंका सूत्रकार अब नाम बताते हैं ।

तीन प्रकारसे अर्थात् मन वचन और कायसे अथवा करना कराना और अनुमोदन इन तीन करणोंसे दश प्रकारके प्राणोंको धारण करनेवाले प्राणियोंको नहीं मारना चाहिए । यह पहला महाव्रत है । यह उपलक्षण है इसलिए शेष महाव्रतोंको भी समझना चाहिए । तथा अपने हितमें प्रवृत्त होकर स्वर्गादि प्राप्तिकी अभिलाषासे वर्जित रहते हुए इन्द्रिय नो इन्द्रिय तथा मन वचन और काय इन तीन गुप्तियोंसे गुप्त रहना चाहिए । जो पुरुष इस प्रकार रहता है वह अवश्य सिद्धिको प्राप्त करता है यह दिखानेके लिए कहते हैं—पूर्वोक्त मार्गका अनुष्ठान

रोक्तमार्गानुष्ठानेनानन्ताः सिद्धा अशेषकर्मक्षयभाजः संवृत्ताः विशिष्टस्थानभाजो वा तथा सम्प्रति वर्तमाने काले सिद्धिगमनयोग्ये सिद्ध्यन्ति अपरे वा अनागते काले एतन्मार्गानुष्ठायिन एव सेत्स्यन्ति, नापरः सिद्धिमार्गोऽस्तीति भावार्थः ॥२१॥

करके अनन्त पुरुषोंने अपने समस्त कर्मोंको क्षय करके सिद्धिको प्राप्त किया है। अथवा विशिष्ट स्थानका लाभ किया है। तथा वर्तमानकालमें भी सिद्धि प्राप्त करने योग्य क्षेत्रमें पूर्वोक्त उपायसे ही सिद्धिको प्राप्त करते हैं। एवं भविष्यकालमें इस पूर्वोक्त मार्गको अनुष्ठान करके ही अनन्त जीव सिद्धिको प्राप्त करेंगे। इससे भिन्न कोई दूसरा सिद्धिका मार्ग नहीं है ॥ २१ ॥

एवं से उदाहु अणुत्तरनाणी अणुत्तरदंसी अणुत्तरणाणदंसणधरे। अरहा नायपुत्ते भगवं वेसालिए वियाहिए ॥ २२ ॥ त्तिबेमि।

छाया—एवं स उदाहृतवाननुत्तरज्ञान्यनुत्तरदर्शी अनुत्तरज्ञान दर्शनधरो ऽर्हन् ज्ञातपुत्रो भगवान् वैशालिक आख्यातवानिति ब्रवीमि ॥

व्याकरण—(एवं) अव्यय (से) श्री ऋषभदेवस्वामीका परामर्शक सर्वनाम। (उदाहु) क्रिया (अनुत्तरनाणी) (अणुत्तरदंसी) (अणुत्तरनाणदंसणधरे) (अरहा) (नायपुत्ते) (भगवं) ये सब श्रीमहावीर स्वामीके विशेषण हैं। (वेसालिए) अधिकरण (वियाहिए) क्रिया।

अन्वयार्थ—(एवं) इस प्रकार (से) भगवान् ऋषभदेवजीने (उदाहु) कहा था। (अणुत्तरनाणी) उत्तम ज्ञानवाले (अणुत्तरदंसी) उत्तम दर्शनवाले (अणुत्तरणाणदंसण धरे) उत्तम ज्ञान और दर्शनके धारक (अरहा) इन्द्रादि देवोंके पूजनीय (नायपुते) ज्ञातपुत्र (भगवं) ऐश्वर्य्यादिगुणयुक्त श्रीवर्धमान स्वामीने (वैसालिए) विशाला नगरीमें (आहिए) कहा था (त्तिबेमि) सो मैं कहता हूँ।

भावार्थ—उत्तमज्ञानी उत्तमदर्शनी तथा उत्तम ज्ञान और दर्शनके धारक इन्द्रादि देवोंके पूजनीय ज्ञात पुत्र भगवान् श्रीवर्धमान स्वामीने विशाला नगरीमें यह हम लोगोंसे कहा था अथवा ऋषभदेव स्वामीने अपने पुत्रोंसे यह कहा था सो मैं आपसे कहता हूँ यह श्रीसुधर्मास्वामी जम्बू स्वामी आदि अपने शिष्य वर्गसे कहते हैं।

टीका—एतच्च सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिप्रभृतिभ्यः स्वशिष्येभ्यः प्रतिपादयतीत्याह—'एवंसे' इत्यादि, एवम् उद्देशकत्रयाभिहितनीत्या स

यह, श्रीसुधर्मास्वामी, श्रीजम्बूस्वामी आदि अपने शिष्य वर्गके प्रति कहते हैं, यह बतानेके लिए सूत्रकार कहते हैं—

ऋषभस्वामी स्वपुत्रानुद्दिश्य उदाहृतवान् प्रतिपादितवान्। नाऽस्योत्तरं प्रधानमस्तीत्यनुत्तरं तच्च तज्ज्ञानञ्च अनुत्तरज्ञानं तदस्याऽस्तीत्यनुत्तरज्ञानी स तथाऽनुत्तरदर्शी, सामान्यविशेषपरिच्छेदकाववोधस्वभाव इति बौद्धमत-निरासद्वारेण ज्ञानाधारं जीवं दर्शयितुमाह—अनुत्तरज्ञानदर्शनधर इति, कथञ्चिद्भिन्नज्ञानदर्शनाधार इत्यर्थः। अर्हन् सुरेन्द्रादिपूजार्हो ज्ञातपुत्रो वर्द्धमानस्वामी ऋषभस्वामी वा भगवान् ऐश्वर्य्यादिगुणयुक्तो विशाल्यां नगर्य्यां वर्धमानोऽस्माकमाख्यातवान् ऋषभस्वामीवा विशालकुलोद्भवत्वाद्-वैशालिकः तथा चोक्तम्—"विशाला जननी यस्य विशालं कुलमेव वा। विशालं, वचनं चास्य तेन वैशालिको जिनः ? एवमसौ जिन आख्यातेति। इति शब्दः परिसमाप्त्यर्थो ब्रवीमीति उक्तार्थो नयाः पूर्ववदिति ॥२२॥

तृतीय उद्देशकः समाप्तः तत्समाप्तौ च समाप्तं द्वितीयं वैतालीय मध्ययनम्।

पूर्वोक्त तीन उद्देशकोंमें जो बात कही गई है वह श्रीभगवान् ऋषभदेव स्वामीने अपने पुत्रोंके लिए कहा था। जिससे उत्तम दूसरा नहीं है उसे अनुत्तर कहते हैं। जो ज्ञान, सर्वोत्तम है उसे अनुत्तरज्ञान कहते हैं। वह अनुत्तर ज्ञान भगवान्‌का था इसलिए भगवान् अनुत्तर ज्ञानी थे। तथा भगवान् अनुत्तरदर्शी थे। वह सामान्य और विशेषको प्रकाशित करनेवाला जो ज्ञान है तत्स्वभाव थे। अब बौद्धमतका खण्डनपूर्वक ज्ञानका आधार रूप जीवको दिखानेके लिए कहते हैं कि भगवान् अनुत्तर ज्ञान और दर्शनके धारक थे। इसका अभिप्राय यह है कि भगवान् अपनेसे कथंचित् भिन्न जो ज्ञान और दर्शन हैं उनका आधार थे, इन्द्रादि देवोंके पूजनीय ज्ञातपुत्र श्रीवर्धमान स्वामी अथवा श्रीऋषभदेव स्वामी हैं विशाल माताके पुत्र ऐश्वर्य्यादि गुणयुक्त श्रीवर्धमान स्वामीने हम लोगोंसे यह कहा था। अथवा विशाल कुलमें उत्पन्न होनेके कारण श्रीऋषभदेवजी को यहाँ वैशालिक कहा है। अतएव विद्वानोंने कहा है कि—

विशाला जननी यस्य विशालं कुल मेव वा।
विशालं वचनं चास्य तेन वैशालिको जिनः ॥ १ ॥

अर्थात् श्रीमहावीर स्वामीकी माता विशाला थी और कुल भी विशाल था। तथा उनका प्रवचन भी विशाल था इसलिए वे वैशालिक जिन कहलाते हैं। इस प्रकार उस जिनेश्वरने कहा है। इति शब्द समाप्त्यर्थक है। 'ब्रवीमि' का अर्थ कह दिया है। नय भी पूर्वके समान ही हैं।

इति तृतीयोद्देशकः समाप्तः समाप्तश्च द्वितीयाध्यनम्।

शुद्धिपत्र

प्रस्तावना

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२	२७	वँचता	वचाता
४	५	साम्यग्दर्शनचारित्राणि	सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि
७	१२	द्रव्य	द्रव्य
९	३	ठीइ	ठिई
९	१३	कर्तुरूपकारकः	कर्तुरुपकारकः
१५	१२	त्रिशंन्मुहूर्त०	स्त्रिशन्मुहूर्त०
२६	६	श्रतस्कन्धयोः	श्रुतस्कन्धयोः
३०	४	ससयाभेएण	समयाभेएण
३४	९	भावसभए	भावसमए

सूत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	६	बुध्येत	बुध्येतेति
१	८	बुज्झिज्जत्ति	बुज्झिज्ज
३	२०	अषि	अपि
४	२८	अणतोदय	असातोदय
५	२६	वैरं	वेरं
७	१०	मूच्छिए	मुच्छिए
१३	५	०दपन्होतुं	०दपह्नोतुं
१९	९	अस्मिनेव	अस्मिन्नेव
२०	८	द्रष्टुमावाद्	द्रष्टुरभावाद्
२०	१५	घ्रणेन्द्रियका	घ्राणेन्द्रियका
२१	१	तादारब्धेन्द्रियाणां	तदारब्धेन्द्रियाणां
२२	१४	ससज्ञो	समज्ञो
३०	१०	त्वकृपर्य्यन्त	त्वक् पर्य्यन्त
३२	१३	उतामृतत्व०	उतामृतत्व०
३२	२८	प्रतिम्वित	प्रतिबिम्बित
३६	२३	शरीमें	शरीरमें
३७	९	०गामिनो	०गामिनो

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३७	१४	चैरन्य	चैतन्य
३८	८	दोहिणो	देहिणो
५२	१४	इहमेगेसि आहिया	इहमेगेसिमाहिया
७२	३	सर्षात्मकं	सर्वात्मकं
७४	७	०केशोल्लुञ्चनाग्न्य०	०केशोल्लुञ्चननाग्न्य०
७५	१९	अबुध्यैव	अबुद्ध्वैव
७६	२	यतश्चैव०	यतश्चैव०
७९	२	चक्कवालंमि	चक्कवालम्मि
८१	१	क्षणिकवादि	क्षणिकवादि
८१	२०	उद्देशक प्रारम्भते	उद्देशकः प्रारभ्यते
९७	२२	धायं	घायं
१०१	२	एयमठ्ठं	एयमट्ठं
१०५	२	अवोहिया	अवोहिया
११०	५	पथानं	पन्थानं
११८	९	पुठ्ठो	पुट्ठो
११८	९	संवेदइ	संवेयइ
१२३	२४	अहारेज्ज	आहारेज्ज
१२३	२५	कम्मणा	कम्मुणा
१२५	१७	प्रादुष्यन्ति	प्रादुःष्यन्ति
१३४	१२	सिग्धं	सिग्वं
१५३	२५	सुखसे	सुखसे
१५९	१०	मेधावी	मेहावी
१५९	१०	वसे	वसे
१६४	१७	अणादीयं	अणाईयं
१६६	७	संजोगं	संजोयं
१६७	१	परित्या	परित्याग
१७१	१२	चदुप्पदादिना	चतुष्पदादिना
१९०	४	सवुडे	संवुडे
२०३	१८	सारिसिवा	सरीसिवा
२०४	१८	वंधण०	बंधण०
२०५	२५	वहुस्सुए	बहुस्सुए
२०५	२६	मूच्छिए	मुच्छिए
२०८	८	णिगणे	णगिणे
२१६	५	लेपापमगमात्	लेपापगमात्
२१७	२१	बुद्धा	बुद्धा

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	
२२०	८	लम्मंति	लब्भंति
२२२	१६	मूच्छिया	मुच्छिया
२२६	१८	अनेसी	अन्नेसी
२२६	१९	सो	स
२३२	९	परुषेहिं	फरुसेहिं
२३२	२३	तद्विधेयमिति	तद्विधेयर्मिति
२३४	१५	वहु०	बहु०
२३९	२	देवीयान्	दवीयान्
२४९	१	०सेविनो	०सेविनः
२४९	१०	आप्पण	अप्पाण
२५१	१७	वहु	बहु
२५३	२४	पापेहिं	पावेहिं
२५५	१	वहुमाया	बहुमाया
२७१	१९	०मसत्वेधं	०मसद्वेधं
२८०	२	वुज्झह	बुज्झह
२९५	८	वोहिं	बोहिं
२९५	९	शेषकाः	सेसगा
२९७	१	मिकखुवो	भिकखवो